पाश्चात्य साहित्यालोचन

के

सिद्धान्त

श्री लीलाधर गुप्त

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक—
हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, मार्च १९५२
द्वितीय संशोधित संस्करण १९६७
मूल्य १२·०० रु

मुद्रक—
आर. सी. राही,
वीनस आर्ट प्रेस,
३६५ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद।

अपने मित्र और आदरणीय सहयोगी
तथा साहित्यानुरागी

प्रोफेसर सतीशचन्द्र देव, एम० ए०

को

समर्पित

प्रकाशकीय

"पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त" का यह दूसरा संस्करण है। अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ स्वर्गीय श्री लीलाधर गुप्त द्वारा लिखित इस ग्रन्थ का साहित्य-क्षेत्र में पर्याप्त समादर हुआ है। पाठ्यक्रमों के लिए तो यह पुस्तक अनिवार्य मानी ही गयी है; साथ ही ग्रंथ में पाश्चात्य और भारतीय आलोचना के सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन होने के कारण हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में यह एक प्रामाणिक पुस्तक के रूप में स्वीकृत की गयी है। मेरा विश्वास है, हिन्दी साहित्य के अध्ययन और अध्यापन में यह ग्रन्थ पहले की अपेक्षा और भी अधिक उपादेय सिद्ध होगा।

हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी,
इलाहाबाद
अगस्त १९६७

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

वक्तव्य

अन्य क्षेत्रों की भाँति आलोचना के क्षेत्र में भी इस विषय के पश्चिमी साहित्यों से हिन्दी ने बहुत कुछ ग्रहण किया है और अब भी कर रही है, पर अभी तक पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्तों का कोई प्रामाणिक ग्रंथ प्रकाश में नहीं आया। इसी अभाव की पूर्ति के लिए एकेडेमी ने इस ग्रंथ को प्रकाशित किया है।

पुस्तक के विद्वान् लेखक बहुत दिनों से यह विषय प्रयाग विश्वविद्यालय की उच्चतम कक्षाओं में पढ़ाते रहे हैं, अतः आप इस पर लिखने के सर्वथा अधिकारी हैं। पाश्चात्य सिद्धान्तों की विवेचना के साथ-साथ तुलनात्मक ढंग से भारतीय सिद्धान्तों के दे देने के कारण पुस्तक और भी उपादेय हो गई है।

प्रस्तुत विषय पर पुस्तक लिखवाने के लिए कोर्ट आव् वार्ड्स, फ़तेहपुर, ने एकेडेमी को १२००) दिए थे, जो पारिश्रमिक के रूप में लेखक को भेंट किए गए हैं। हम दाता के प्रति अत्यंत कृतज्ञ हैं।

आशा है, पुस्तक एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगी।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
जुलाई, १९५२

धीरेन्द्र वर्मा
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

भूमिका

व्यक्तियों की रुचि भिन्न होती है, प्रवृत्ति भिन्न होती है और उचित-अनुचित का ठीक ज्ञान सब को नहीं रहता है। इसलिये अध्ययन और शिक्षा की आवश्यकता होती है तथा इस शिक्षा की अपेक्षा सब को रहती है। कुछ विरले लोकोत्तर प्रतिभा रखने वाले होते हैं जिनकी नैसर्गिक शक्ति उन्हें ऊँचे से ऊँचे शिखर तक पहुँचा देती है। परन्तु जैसे और शास्त्रों—गणित में, इतिहास में, राजनीति में, विज्ञान में—अध्ययन और अभ्यास आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र में भी। संसार के सभी देशों में जहाँ भी साहित्य की रचना हुई है, वहाँ ऐसी पुस्तकें लिखी गई हैं जिनमें यह बताया गया है कि रचना कैसे होती है और क्यों होनी चहिये, उत्तम रचना किसे कहते हैं, रचना को दोषों से कैसे बचाया जा सकता है, इत्यादि-इत्यादि। साहित्य-मीमांसा पर ग्रीस, इटली, जर्मनी, फ्रान्स तथा इङ्गलैण्ड में अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं, और भारत में तो इस विषय में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की संख्या बहुत है। हमारे पुराने शिष्य और मित्र श्री लीलाधर जी गुप्त ने बहुत वर्षों के परिश्रम और अध्यवसाय से प्रस्तुत ग्रन्थ लिखा है। विश्वविद्यालय में पश्चिमीय साहित्यशास्त्र का बहुत दिन से गुप्तजी बड़ी योग्यता से अध्यापन कर रहे हैं। इस ग्रन्थ में इनका उस अनुभव और गूढ़ अध्ययन का परिचय मिलता है।

साहित्य में क्या गुण हैं, क्या दोष हैं—इसी की समीक्षा आलोचना है। रस, अलङ्कार, वक्रोक्ति, ध्वनि, कल्पना, रीति, इत्यादि अनेक वादों को लेकर बहुत शास्त्रार्थ हो चुका है। गुप्तजी ने आलोचना का यथार्थ क्षेत्र निर्धारित किया है और उसका इस प्रकार विभाजन किया है :—(१) रचनात्मक आलोचना; (२) व्याख्यात्मक आलोचना; और (३) निर्णयात्मक आलोचना। आइ० ए० रिचर्ड्स के सिद्धान्त से गुप्तजी सहमत हैं। इस सिद्धान्त को उन्होंने सूत्ररूप में यों लिखा है—

(१) कलाकृति में व्यक्तित्त्व हो।

(२) कलाकृति का अनुभव मूल्यवान् हो। अनुभव के एकीकृत तत्त्वों में जितनी विभिन्नता होगी, कृति उतनी ही मूल्यवान् होगी।

(३) ध्यान-योग की अवस्था में कलाकृति का रूप कलाकार और माध्यम के सम्मिश्रण द्वारा बिना किसी प्रकार की रुकावट की सफलता से निकला हो। कलाकृति से हमें अपनी निर्मायक—प्रवृत्ति की तुष्टि प्रतीत हो।

(४) कलाकृति में व्यापकता हो, उसमें सामाजिक झंकार हो और सब संस्कृत-सहृदयों को उसकी प्रेरणा हो।

(५) कलाकार को रचना-कौशल पर पूरा अधिकार हो। वह रूपात्मक तत्त्वों को विषयात्मक तत्त्वों से ऐसा उपयुक्त करे कि दोनों का पार्थक्य नष्ट हो जाय।

आजकल तथाकथित कलाकार और समालोचक शृङ्खलाओं से अपने को मुक्त करना चाहते हैं। मैंने स्वयं कई वर्ष पूर्व लिखा था—"लेखक पर किसी प्रकार का कृत्रिम नियन्त्रण अनुचित और हानिकारक है। उच्चकोटि की कला मानव के हृदय का वाह्य रूप है और किसी के हृदय पर किसका अधिकार है? कला मनुष्य की भावना से उत्पन्न होती है। भावना को वश में कौन ला सकता है? कविता में चित्त का उत्साह, उमङ्ग, वेदना, आनन्द, विषाद, सन्निहित रहता है, स्वप्नों की झलक मिलती है, भावों की विलक्षणता है, विचारों की विशालता है—इनको किसी 'वाद' में जकड़ देना भयावह है। क्षुद्र नदी की धारा तो रोकी जा सकती है, सागर पर आधिपत्य कैसा?" फिर भी, शब्दों का ज्ञान, कोमल स्वरों का ज्ञान, पुराने ग्रन्थों का ज्ञान, इतिहास का ज्ञान तथा समसामयिक प्रगतियों का ज्ञान तो साहित्याकार के लिये आवश्यक है। इसी प्रकार समालोचक के पास भी साहित्य के परखने के लिए अपनी कसौटी होनी चाहिये।

श्री गुप्तजी की पुस्तक का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ।

३०-६-५२ **अमरनाथ झा**

प्रवचन

लगभग बाईस वर्ष हुए होंगे जब प्रयाग विश्वविद्यालय में आलोचना का विषय पहले ही पहल बी० ए० आँनर्स और एम० ए० के पाठ्यक्रम में सम्मिलित हुआ था। तब अंग्रेजी-विभाग के तत्कालीन प्रधान पं० अमरनाथ झा ने इस विषय पर दोनों कक्षाओं को भाषण देने के लिए मुझे ही नियत किया था। यद्यपि मैंने दर्शन कभी किसी भी परीक्षा के लिये नहीं पढ़ा था, फिर भी अपनी रुचि की तुष्टि के लिये जब मुझे अवकाश मिलता था, अव्यवस्थित रूप से यह विषय पढ़ता रहता था। अंग्रेजी-साहित्य के अध्ययन में मुझे आलोचना अधिक आकर्षित करती थी। आलोचना के अध्ययन में मुझे अपनी दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी रुचि की तुष्टि भी हो जाती थी। इसी कारण जब प्रधान ने मुझे आलोचना पर भाषण देने के लिए कहा, तो मुझे असाधारण सुख की अनुभूति हुई। मैंने समझ लिया कि अब मुझे साहित्य, कला, और सौन्दर्य शास्त्रों के अध्ययन का अवसर मिला है।

मेरे भाषणों का आधार मुख्यतः पाश्चात्य, विशेषतः अंग्रेजी साहित्यालोचन का इतिहास था। परन्तु इन भाषणों के प्रवेशनार्थ मैंने पहले साल एक भाषण पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्तों पर दिया था। पीछे से इस भाषण में मैंने परिवर्तन की बड़ी गुञ्जाइश पाई। दूसरे साल वही एक भाषण तीन भाषणों का विस्तार पा गया। धीरे-धीरे इस विषय के भाषणों की संख्या बढ़ती गई। संख्या-वृद्धि में एम० ए० की परीक्षा के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम में आलोचना-सिद्धान्तों के समावेश ने भी बड़ी सहायता दी। कुछ वर्षों में मेरा पहला भाषण इस पुस्तक का रूप पा गया। इस प्रकार, मेरी यह पुस्तक आलोचना के इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है कि कृति का रूप कृतिकार के सामने पहले से ही उपस्थित नहीं होता। पहले वह बीज के ही रूप में होता है और फिर धीरे-धीरे वह निर्माणात्मक प्रेरणा के प्राबल्य से आन्तरिक और वाह्य क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं द्वारा अपने पूर्ण विस्तार को पहुँचता है।

मेरे पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त-प्रदिपादन में संस्कृत और हिन्दी की आलोचना का कोई उल्लेख न था। परन्तु जब मुझे हिन्दुस्तानी एकेडेमी की ओर से पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्तों पर एक पुस्तक लिखने का आमन्त्रण मिला तो मुझे यह सूझा कि यदि प्रत्येक सिद्धान्त के सम्बन्ध में मैं संस्कृत और हिन्दी के आलोचनात्मक विचार और उनका तुलनात्मक मूल्याङ्कन भी प्रस्तुत करूँ तो पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ जायगी। इसी उद्देश्य से मैंने प्राच्य आलोचनात्मक विचार भी दिये हैं। ये विचार प्रायः वे ही हैं जो इस अध्ययन में मुझे अपने कुछ साहित्यिक मित्रों की सहायता से

मिल सके। पाश्चात्य और प्राच्य आलोचनाओं की तुलना से मुझे यह प्रतीत हुआ है कि प्राच्य आलोचना जीवन की आलोचना से इतनी सम्बन्धित नहीं है जितनी पाश्चात्य आलोचना। प्राच्य आलोचना अधिकतया साहित्य से ही सम्बन्धित है और इस क्षेत्र में भी विशेषतया वाग्मितात्मक है। जब कोई पाश्चात्य आलोचना का पाठक संस्कृत के अलङ्कार-शास्त्रों का अध्ययन करता है तब उसकी दृष्टि के सम्मुख सहसा एरिस्टॉटल की 'रैटरिक', सिसरो की 'डे ऑरेटोरे', क्विण्टीलियन की 'इन्स्टीट्यूट्स ऑफ़ ऑरेटरी', विल्सन की 'दि आर्ट ऑफ़ रैटरिक', और हैनरी पीचम का 'गार्डन ऑफ़ एलोक्वेन्स' आ जाते हैं। इन सबके उद्देश्य अनौपनिषदिक और अभ्यासात्मक तो हैं, किन्तु अधिक वैज्ञानिक और आलोचनात्मक नहीं। यही दशा संस्कृत के अलङ्कार-शास्त्रों की है। पाश्चात्य-साहित्यालोचना प्रारम्भ से ही जीवन की आलोचना से सम्बन्धित रही है। प्लैटो, लॉन्जायनस, पोप, कोलरिज और आर्नल्ड की आलोचनाएँ इस मत को पुष्ट करती हैं। हाँ, रस और ध्वनि के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में प्राच्य आलोचना अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। अभिनवगुप्त ने ध्वनि-सिद्धान्त की जो व्यवस्था की है, उस पर कीथ ने यह लिखा है :—

"अब रस के महत्त्व का पूर्ण विवेक हो गया है और उस रीति का, जिससे कविता या नाटक पाठक या समाज पर अपना प्रभाव डालते हैं, पूरा बोध हो गया है। रस का विवेक अनुमान की किसी पद्धति से नहीं हो सकता, उसके सम्भाव्य का केवल यही कारण है कि मनुष्य पूर्वकाल में रति इत्यादि भावों को अनुभव कर चुका है जिनके अवशेष संस्कारों के रूप में उसकी आत्मा में सुरक्षित है। जब पाठक या समाज, कविता या रङ्गमञ्च पर व्यक्त भावों और उनके परिणामों से प्रभावित होता है, तो वह उन्हें न तो बाह्य ही समझता है, न उन्हें कृति के नायक के योग्य ही समझता है और न उन्हें व्यक्तिगत अपना ही समझता है; वह उनका ग्रहण सर्वगत रूप में करता है और इसी रूप में वह उनमें भाग लेता है, और चाहे कृति के नायक के भाव दुःखद भी हों, वह उनके प्रभाव में एक अद्भुत सुख की अनुभूति करता है। रस-धारण का रूप कभी-की अस्पष्ट और दुर्बोध हो जाता है; परन्तु कविता के आनन्द की तात्त्विक विशेषता व्यक्त करने का प्रयास अवश्य साहसपूर्ण है और किसी भाँति असमर्थ नहीं है।"[१]

१. The importance of sentiment is now fully appreciated, and the mode in which poetry or a drama affects the reader or spectator can now be better understood. The appreciation of sentiment cannot come by any process of influence; it is possible only because a man has in the past had experiences, e.g., of love, which have left residues in the shape of impressions in his soul. When he comes under the influence of the factors which excite these emotions and their consequences, expressed in poetry or on the stage, he does not regard them as external, as proper to the hero of work, nor as personal to himself; he appreciates

रस का यही सिद्धान्त एरिस्टॉटल की 'पोइटिक्स' में करुणा (ट्रैजेडी) की परिभाषा के चौथे खण्ड में साङ्केतिक है। परिभाषा यह है :—

"करुणा, तब, किसी ऐसे कार्य का अनुकरण है जो गम्भीर, समस्त और किसी विस्तार का हो— ऐसी अलंकृत भाषा में जो भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रीतियों से चमत्कृत हो— वर्णनात्मक रीति से नहीं वरन् कार्यात्मक रीति से— और जो (अनुकरण) करुणा और भय को जागृत करता हुआ इन भावों का संशोधन और विशिष्टीकरण करे।"[2]

इस परिभाषा में करेक्शन ऐण्ड रिफ़ाइनमेण्ट (संशोधन और विशिष्टीकरण) के लिए एरिस्टॉटल का शब्द कैथार्सिस है। इस शब्द के अर्थ-निर्णय में प्रत्येक शताब्दी में बड़ा वाद-विवाद रहा है। सोलहवीं शताब्दी में कैथार्सिस के तीन अर्थ प्रचलित थे। पहला अर्थ **निष्ठुरता** का था; करुण दुःख और प्रचण्डता के दृश्य दिखाकर दर्शक की करुणा और भय की प्रवणता को सह्य कर देता है। दूसरा अर्थ **रेचन** का था; जब सामाजिक, नायक की उन कमजोरियों को देखता है जिनसे उसका पतन हुआ है तो उसे अपनी कमजोरियों का ध्यान हो जाता है और वह अपने आवेगों के दुःखद भाग से मुक्त होने का निश्चय करता है, और इस प्रकार अन्तर्वेगीय संस्कृति के लिये वह उद्यत हो जाता है। तीसरा अर्थ **होमियोपैथिक** था; करुण सामाजिक की करुणा और भय की स्वाभाविक मनोवृत्तियों का अभ्यास के द्वारा प्रवर्धन करके उन्हीं मनोवृत्तियों का संशोधन करता है। इस पिछले अर्थ की पुष्टि मनोविश्लेषण भी करता है। कैथार्सिस का अर्थ **अन्तर्वेगों का शोधन** अब निश्चित ही है। करुण में घटनाएँ दुःखद होती हैं क्योंकि उनकी प्रेरणा करुणा और भय के प्रति होती है। परन्तु सफल कला में वे ही सुखद हो जाती हैं क्योंकि वे कलात्मक आवेग की तुष्टि करती हैं। दुःखद घटनाएँ समस्त करुण में अपनी-अपनी ठीक जगह स्थित होने के कारण कल्पनात्मक मनन के विषय हो जाती हैं और जब कोई आवेग कल्पनात्मक मनन का विषय हो जाता है तो वह आवेग नहीं रह जाता; उसकी दुःखद संवेदना बिल्कुल चली जाती है, उसका साधारणीकरण हो

---

them as universal, and he shares in them in this manner, enjoying a strange pleasure, even when the emotions of the hero in the work are painful. The form given to the conception is sometimes obscure and difficult; but the attempt to express the essential character of the pleasure of poetry is daring and by no means ineffective.

२. Tragedy, then, is an imitation of some action that is serious, entire, and of some magnitude—by language embellished and rendered pleasurable, but by different means in different parts—in the way, not of narration but of action—effecting through pity and terror the correction and refinement of such passions.

जाता है। वह सर्वगत हो जाती है, व्यक्तिगत नहीं रहती। इसी विशेषता के आ जाने से वह एस्थैटिक सुख देने लगती है। साथ ही साथ करुण और भय की मनोवृत्तियों को निर्गमद्वार मिल जाने से उनका शोध भी हो जाता है। कैथार्सिस से एरिस्टॉटल का मतलब यही था और यही मतलब भरत मुनि का रस से भी प्रतीत होता है। यह बात भी ध्यान देने की है कि दोनों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन नाटक के सम्बन्ध में ही किया है। भरत का 'नाट्यशास्त्र' एरिस्टॉटल की 'पोइटिक्स' के पीछे का ही लिखा हुआ दीख पड़ता है। इस बात का निश्चय करना कि भरत पर एरिस्टॉटल का प्रभाव पड़ा था या वह स्वतन्त्र रूप से इस सिद्धान्त पर पहुँचा, इतिहास के विशेषज्ञों का काम है। हम यहाँ यही कह सकते हैं कि दोनों ही अपनी-अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा के बल से कलात्मक सुख का सार समझने में सफल हुए।

इस पुस्तक के लिखने में मेरा ध्यान पूर्णतया आलोचनात्मक सिद्धान्तों की ओर ही रहा है। आलोचना के इतिहास या आलोचकों के अलग-अलग आलोचनात्मक मार्गों से मेरा उतना ही प्रयोजन रहा है जितना सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त था। मैंने यूनान, रोम, मध्यकाल और पुनरुत्थान के इटली, फ्रान्स, जर्मनी, रूस, अमेरिका की आलोचना के प्रमाण दिये हैं; परन्तु अंग्रेज़ी आलोचना के प्रमाण अधिक संख्या में दिये हैं। कारण स्पष्ट है। मैं अंग्रेज़ी आलोचना से अधिक अभिज्ञ हूँ और हमारे देश का अंग्रेज़ी भाषा से अधिक सम्बन्ध भी रहा है और रहेगा भी। फिर, अंग्रेज़ी भाषा इतनी समृद्धिशालिनी है कि किसी भी भाषा का कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इसमें प्रकाशन पाये बिना नहीं रहता है।

इस पुस्तक का मुख्य प्रकरण चौथा है जिसका विषय निर्णयात्मक आलोचना है। मैं आलोचना का मुख्य कर्त्तव्य कला के मूल्याङ्कन को ही समझता हूँ। रचनात्मक और व्याख्यात्मक आलोचनाओं के प्रतिपादन में भी जो दूसरे और तीसरे प्रकरणों के विषय हैं, मैं बराबर उनकी तुलना निर्णयात्मक आलोचना से करता रहा हूँ। यही दृष्टिकोण पहले प्रकरण के विषयों के प्रतिपादन में भी रहा है। कुछ विषय जैसे सौन्दर्य, कला, और साहित्य के साधारण परिचय का होना मैंने अपने पाठकों में पहले से ही समझ लिया है।

इस पुस्तक में इतने ग्रन्थों और विद्वान् लेखकों का उल्लेख हुआ है कि पाठक मुझे पाण्डित्याभिमानी कह सकते हैं। परन्तु मैं निष्कपटता से बतलाना चाहता हूँ कि वस्तुतः बात घमण्ड की है नहीं। आदर्श पाण्डित्य तो यही चाहता है कि किसी पुस्तक या लेखक का उल्लेख तभी किया जाय जब उल्लेखक उस पुस्तक या उस लेखक को आदि से अन्त तक पढ़ चुका हो। मैंने अपनी तुष्टि के लिये पर्याप्त पुस्तकें और लेखकों की रचनाएँ पढ़ी हैं किन्तु पर्याप्त पुस्तकों और लेखकों का उल्लेख दूसरे योग्य लेखकों के आधार पर भी किया है। आधुनिक संसार में जब ज्ञान की इतनी वृद्धि हो चुकी है, प्रत्येक लेखक ऐसा करने को विवश हो जाता है।

हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों के पाने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये मैंने अंग्रेजी-संस्कृत और अंग्रेजी-हिन्दी कोषों का सहारा लिया है। अपने साहित्यिक मित्रों को भी बराबर कष्ट देता रहा हूँ। फिर भी बहुत से शब्दों में पाठकों को कदाचित् अस्पष्टता-सी प्रतीत हो। मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी और मैं बड़ा कृतज्ञ होऊँगा यदि कोई महानुभाव किसी स्थल में मुझे अधिक उपयुक्त शब्द का सुझाव देंगे। एक पारिभाषिक शब्द **एस्थैटिक** मुझे बराबर खटकता रहा है। एस्थैटिक शब्द का यूनानी अर्थ प्रत्यक्षीकरण (पर्सेप्शन) है। फिर इस शब्द का प्रयोग **सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण** के विशिष्ट अर्थ में हुआ; और फिर इस विशिष्ट अर्थ का साधारणीकरण **सौन्दर्य की चेतना** के अर्थ में हुआ। सौन्दर्य शब्द स्वयं कितने ही अर्थों में आता है। सौन्दर्य वह है जो तात्कालिक सुख दे। सौन्दर्य व्यवस्था, परम्परानुरूप्य और सुसङ्गति है। सौन्दर्य अनैक्य में ऐक्य की अनुभूति है। सौन्दर्य वाह्य वस्तुओं में उनकी उस सम्पूर्णता का, जिसका बोध मनुष्य को आन्तरिक चेतना अथवा वस्तुओं के रूप की सूचना से होता है, न्यून या अधिक दर्शन है। सौन्दर्य हमारे और वस्तुओं के बीच में वह सम्बन्ध है जिसमें आने से वस्तुएँ हमारी निर्माणात्मक प्रेरणा की तुष्टि करती हैं। इस अन्तिम अर्थ में जो हमें मान्य है, सौन्दर्य मनुष्य से सम्बन्धित हो जाता है। सौन्दर्य कला ही में होता है जो मनुष्य की रचना है; प्रकृति में नहीं होता। जब प्रकृति में सौन्दर्य की अनुभूति होती है तो जिस वस्तु में हमें उसकी अनुभूति होती है वह वस्तु हमारी निर्माणात्मक प्रेरणा की तुष्टि करती हुई प्रतीत होती है। प्रकृति मनुष्य के अनुरूप उस वस्तु की कलाकार होती है और उस दशा में हमारी रचनात्मक प्रेरणा और प्रकृति की रचनात्मक प्रेरणा में तादात्म्य होता है। एस्थैटिक अब ऐसे सौन्दर्य की मीमांसा के अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगा है। इस अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये मैंने एस्थैटिक के लिये कलामीमांसा शब्द का प्रयोग किया है। हिन्दी में प्रचलित शब्द सौन्दर्यशास्त्र है। इसका प्रयोग एस्थैटिक के लिये उन्हीं स्थलों में हो सकता है जहाँ हमारे मान्य अर्थ के अतिरिक्त दूसरे अर्थ मान्य हों। मैंने इस पुस्तक में एस्थैटिक को कलामीमांसा कहकर फिर एस्थैटिक शब्द का ही प्रयोग किया है। और भी दूसरे शब्द हैं जिनके प्रयोग में पाठकों को अस्पष्टता का आभास होगा। मैंने अंग्रेजी शब्द इमोशन के लिये अन्तर्वेग का प्रयोग किया है क्योंकि वह अन्दर से सञ्चालित होता है। अंग्रेजी शब्द फ़ीलिङ्ग के लिये भाव शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु भाव शब्द को मैंने कहीं-कहीं विचार के अर्थ में भी रखा है, चतुर पाठकों को सन्दर्भ ही ठीक अर्थ की सूचना दे देगा। इसी प्रकार प्रत्यय शब्द का प्रयोग मैंने अंग्रेजी शब्द कन्सैप्ट के अर्थ में किया है, परन्तु कहीं-कहीं यही शब्द अंग्रेजी के आइडिया के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। अंग्रेजी के दो शब्द पर्सनैलिटी और इण्डीविजुएलिटी का भेद स्पष्ट है। मैंने पर्सनैलिटी के लिये व्यक्तित्व का प्रयोग किया है और इण्डीविजुएलिटी के लिये वैशिष्ट्य का।

आलोचना जैसे गूढ़ विषय के प्रतिपादन में भाषा क्लिष्ट और संस्कृतमय हो ही जाती है। तथापि जहाँ तक मुझसे बन पड़ा है वहाँ तक मैंने खड़ीबोली के उस रूप का

प्रयोग किया है जो साधारण व्यवहार में मिलता है। उर्दू के शब्द और मुहावरे जहाँ उपयुक्त होते हैं, वहाँ लाए गये हैं।

इन भाषणों को पुस्तक के रूप में छपवाने की प्रेरणा मुझे डॉ० अमरनाथ झा से मिली थी। परन्तु मैंने इन्हें अंग्रेजी में इसलिये नहीं छपाया था कि छपवाने के पश्चात् मेरे विद्यार्थी मेरे भाषणों को विशेष ध्यान से न सुनते। डॉ० अमरनाथ झा के इस प्रोत्साहन के लिये मैं उनका अनुगृहीत हूँ। अब तक पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों का कोई भी ग्रन्थ कदाचित् हिन्दी में नहीं आ सका। मुझे इसके लिये जो सत्प्रेरणा अपने मित्र डॉ० धीरेन्द्र वर्मा से मिली, उसी का यह प्रथम फल है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी से उनके द्वारा इस पुस्तक को लिखने के प्रस्ताव बिना शायद ही मैं यह पुस्तक हिन्दी में लिखता। इसलिये यदि इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी पाठकों को सन्तोष और सुख मिलता है तो वस्तुतः उसका बहुत बड़ा श्रेय, मेरे विचार से, श्री वर्मा जी को है। पुस्तक लिखने में मुझे अपने मित्रों से जो सहायता मिली है, उसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। प्रो० सतीशचन्द्र देव ने पहले तीन प्रकरणों को अंग्रेजी में पढ़कर अपने विचारों से मुझे लाभ पहुँचाया। इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। मैं डॉ० माताप्रसाद गुप्त का भी, जिनका कार्य पाठालोचन में प्रशंसनीय है, आभारी हूँ। उन्हीं की सहायता से मैंने अपने पाठालोचन के अंश को अन्तिम रूप दिया। विशेष रूप से मुझे चार महानुभावों से सहायता मिली है—डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने, जिनका नित्योपस्थित ज्ञान सराहनीय है, बड़ी सहृदयता से अपना अमूल्य समय आलोचनात्मक वादविवाद के लिये मुझे दिया। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा और डॉ० रामसिंह तोमर ने बहुत से आलोचनात्मक विषयों पर अपने विचार व्यक्त करने की ही मेरे ऊपर कृपा नहीं की वरन् उन्होंने बड़ी उदारता से मुझे ऐसी-ऐसी हिन्दी की पुस्तकें पढ़ने को दीं जिनकी सहायता के बिना इस पुस्तक का यह रूप नहीं निकल पाता। इसके अतिरिक्त इन दोनों महानुभावों ने इस पुस्तक को बहुत से स्थलों में पढ़कर जहाँ-तहाँ अधिक उपयुक्त शब्दों की सूझ भी दी। एतदर्थ मैं इनका बड़ा ऋणी हूँ। मैं डॉ० बाबूराम सक्सेना और महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र का भी आभार स्वीकार करता हूँ। मिश्र जी ने मुझे संस्कृत आलोचना की कई अच्छी पुस्तकें दीं और दोनों महानुभावों ने कुछ विषयों पर परामर्श के लिये मुझे अपना अमूल्य समय भी दिया। मैं श्री धर्मवीर भारती का भी आभारी हूँ। उन्होंने सारी पुस्तक को पाठक की हैसियत से पढ़ा और बहुत से शब्दों, वाक्यों और मतों को संशोधित करने का सङ्केत किया। अन्त में, मैं श्री रामचंद्र टंडन का आभारी हूँ जिन्होंने आदर्श सहानुभूति से मुद्रण के कार्य को ही अग्रसर नहीं किया वरन् साहित्यिक और आलोचनात्मक विचारों से भी मुझे लाभ पहुँचाया।

आशा है, यह पुस्तक हिन्दी संसार को अपने विषय से सन्तोष दे सकेगी।

प्रयाग विश्वविद्यालय
मई, सन् १९५२ ई०

लीलाधर गुप्त

विषय-सूची

१

बहिष्कृत आलोचनाएँ

गूढ़ विषयों का प्रतिपादन कभी-कभी निषेधात्मक रीति से किया जाता है। ब्रह्म का ज्ञान कराने के लिये यह बतलाया जाता है कि यह वस्तु ब्रह्म नहीं है, वह वस्तु ब्रह्म नहीं है। यद्यपि साहित्यालोचन का विषय इतना गूढ़ नहीं है जितना कि ब्रह्म अथवा आत्मा का, तो भी जब कोई खोज करने वाला साहित्यालोचन के अर्थ का निर्णय करता है तो रुकावट का अनुभव करता है। कारण यह है कि न तो साहित्य के अर्थ का ही कोई स्थैर्य है और न आलोचना के अर्थ का ही।

साहित्य कभी-कभी तो विषय-प्रधान माना गया है और कभी-कभी शैली-प्रधान। कभी-कभी यह माना गया है कि किसी भाषा में जितने भी ग्रन्थ हैं वे सब उस भाषा के साहित्य हैं और कभी-कभी यह माना गया है कि किसी भाषा के केवल वे ग्रन्थ ही साहित्य हैं जो भाव-व्यञ्जना और रूप-सौष्ठव के कारण हृदयस्पर्शी होते हैं। न्यूमैन समझता है कि साहित्य मनुष्य के विचारों, उसकी भावनाओं और कल्पनाओं का व्यक्तीकरण है, तो श्लेजल का मत है कि साहित्य किसी जाति के मानसिक जीवन का सर्वाङ्गी सार है। एमर्सन का कथन है कि साहित्य वह प्रयास है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी दुर्दशाकृत क्षति की पूर्ति करता है तो यूङ्ग का कथन है कि साहित्य अचेतन मन से आई हुई प्रतिमाओं का चेतन आदर्शों के लिये प्रयोग करना है। भारतीय विचार के अनुसार साहित्य वह वस्तु है जिसमें एक से अधिक वस्तु मिली हुई हों। साहित्य शब्द 'सहित' में 'ष्यञ्' प्रत्यय के जोड़ने से बना है। आचार्य भामह अपने 'काव्यालङ्कार' में कहते हैं, 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ का सहभाव काव्य अथवा साहित्य है। परन्तु इस परिभाषा में और सब प्रकार के लेख भी आते हैं। इसी से राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा' में इस सह-भाव को तुल्यकक्ष कह कर काव्य को दूसरे प्रकार के लेखों से अलग किया है—"शब्दार्थ-योर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।" इसी परिभाषा से प्रभावित होकर कुछ आलोचक शब्द की रमणीयता पर जोर देते हैं और कुछ आलोचक अर्थ की रमणीयता पर।

'रसगङ्गाधर' में रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है। बहुत से आलोचक अर्थ की रमणीयता में शब्द की रमणीयता भी समझ लेते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है। 'काव्यप्रकाश' मे काव्य का यह वर्णन है—"जो संसार के सभी प्रयोजनों में मुख्य है, जो प्राप्त होते ही तुरन्त अपने रस का स्वाद चखाकर ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव कराता है कि शेष ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान उसके आगे तिरोहित हो जाते हैं, जो प्रभु अर्थात् स्वामी के द्वारा प्रकट किये गये शब्द-प्रधान वेदादि शास्त्रों से विलक्षण तथा मित्रों द्वारा कहे गये अर्थ-तात्पर्यादि-प्रधान पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थों से भी भिन्न है, प्रत्युत शब्दों और अर्थों को गौण बना कर रसादि के प्रकट करनेवाले उपायों की ओर प्रवण करने के कारण जो उक्त प्रभु-सम्मत और सुहृत्सम्मत वाक्यावलियों से भिन्न है ऐसे रचना विशेष को काव्य कहते हैं।" इन पाश्चात्य और प्राच्य परिभाषाओं से जान पड़ता है कि साहित्य के अर्थ के निर्णय करने में कितनी विभिन्नता है।

जिन नियमों से आलोचना सञ्चालित रही है, उनकी विभिन्नता तो साहित्य के अर्थ की विभिन्नता से कहीं अधिक है। कभी-कभी आलोचक आलोच्य कृति में यह देखता है कि वह कितनी शिक्षाप्रद है और कभी-कभी वह यह देखता है कि आलोच्य कृति कितनी आनन्दप्रद और मनोहर है। कुछ आलोचक पुस्तक की सुन्दर भाषा से ही मुग्ध हो जाते हैं और कुछ उसकी वृत्तात्मकता से मुग्ध होते हैं। बहुत से आलोचक आलोच्य कृति के अङ्गविन्यास की ओर ही ध्यान देते हैं और उस कृति में कहाँ तक ऐक्य है इसी से उसके साहित्यिक गुण की परीक्षा करते हैं। तत्त्वविद्या के एक आधुनिक आचार्य, जे० ए० स्मिथ कहते हैं कि आलोचक किसी कृति में केवल यह देखे कि उस कृति ने किस बात में विशेष व्यक्तित्व पाया है, यदि उसमें कुछ भी व्यक्तित्व है तो आदर्शवादी आलोचक साहित्यिक कृति को इस कसौटी पर चढ़ाते हैं कि उसमें आलौकिक अथवा पार्थिव ऐकान्तिक सौन्दर्य की कितनी झलक है। एबरक्रोम्बी कृति की श्रेष्ठता इस मानदण्ड से निर्णय करता है कि वह कलाकार की अन्तर्प्रेरणा को अपने माध्यम द्वारा कहाँ तक व्यक्त कर सकी है। एलेग्ज़ेण्डर का मानदण्ड यह है कि कोई कृति कहाँ तक कलाकार की उस स्फूर्ति की द्योतक है, जिससे वह अपने माध्यम में अपने को मिलाकर, उसके द्वारा ऐसी बातों का अनुभव कराता है जिनका उस माध्यम के वास्तविक गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे चित्रकार भीत पर रंगों द्वारा दरवाज़े का ऐसा चित्र बनाने में समर्थ होता है कि देखने वाला उसे सच्चा दरवाज़ा समझ कर उसमें से निकलने के लिये तैयार हो जाता है। एम० सी० नैह्म कलाकार, कलाकृति, और कलाग्राही इन तीनों की एक ऐन्द्रजालिक परिधि मानता है। कलाकार कलाकृति के द्वारा कलाग्राही को अपने व्यक्त भावों अथवा अन्तर्वेगों से प्रभावित करता है। उसके मतानुसार किसी कृति की श्रेष्ठता उसकी निवेदन-शक्ति पर निर्भर होती है, कितनी पूर्णता से वह कलाग्राही को प्रभावित करती है। आत्मघटन(एम्पैथी) सिद्धान्त के व्याख्याता थियोडोर लिप्स का कथन है कि सुन्दर कला के सामने ऐसी अन्तः-प्रेरित शारीरिक गतिशीलता का अनुभव होता है जिससे हम अपना अस्तित्व कलावस्तु के अस्तित्व जैसा कर लेते हैं। यह गतिशीलता स्वयं प्रवर्तक होती है, इच्छाजनित अथवा

बुद्धि-सञ्चालित नहीं, और उसकी सिद्धि शरीर के बाहर नहीं होती बल्कि अन्दर ही अन्दर होती है। इस प्रकार थियोडोर लिप्स उस कलाकृति को ही सफल कहेगा जिससे हमारी अव्यावहारिक आत्मा कलावस्तु से ऐक्य प्राप्त करने के लिये गतिशील हो जाती है। प्राच्य आलोचना में, भरत उस काव्य को श्रेष्ठ मानता है जिसमें भाव, विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों द्वारा रस की निष्पत्ति हो। उसके मतानुसार काव्य की प्रेरणा मनुष्य के भावों और अन्तर्वेगों को होती है, उसकी बुद्धि को नहीं। इसी प्रेरणा पर काव्य की सफलता निर्भर है। भामह, उद्भट, दण्डी, और रुद्रट का आलोचनात्मक मानदण्ड आलङ्कारिकता है। वामन का कहना है कि रीति ही काव्य की आत्मा है और रीति विशिष्ट पदरचना है। वक्रोक्तिजीवितकार साहित्य की समीक्षा वक्रोक्ति के मानदण्ड से करता है। ध्वनिकार और मम्मट, ध्वनि या व्यञ्जना को काव्य की आत्मा मानते हैं। इनके मत से वही काव्य उत्तम है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारक हो। एक और मानदण्ड जो बिल्कुल कलामीमांसाविषयक (एस्थैटिक) मूल्य का है और जिस पर बहुत से प्राच्य आलोचक ज़ोर देते हैं, वह सहृदय को चमत्कार अथवा अलौकिक आनन्द के अनुभव होने का है। जो काव्य जितना ऐसा आनन्द दे वह उतना ही अच्छा। इन पाश्चात्य और प्राच्य आलोचनात्मक मानदण्डों से स्पष्ट है कि साहित्यसमीक्षा के नियम निर्धारण करना कितना कठिन है।

जब साहित्य के अर्थ को स्थिर करने में इतनी कठिनाई है और आलोचनात्मक नियमों की विभिन्नता के कारण आलोचना के अर्थ के निधर्राण करने में और भी अधिक कठिनाई है, तो यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि साहित्यालोचन का अर्थ स्थिर करना कितनी कठिनाई का कार्य है।

हम पहले ऐसी आलोचनाओं का वहिष्कार करेंगे जो किसी मिथ्याभावना से साहित्यालोचन कही जाती हैं, परन्तु जो वस्तुतः साहित्यालोचन नहीं हैं।

१

पहले हम वैज्ञानिक आलोचना का वहिष्कार करते हैं।

आलोचना के वर्गीकरण में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग विवेकपूर्ण नहीं है। इस कारण कभी-कभी असावधान पाठक सम्भ्रान्त हो जाता है।

वर्गीकरण की दो विधियाँ हैं। पहिली विधि में आलोचना के विषय-वस्तु की ओर सङ्केत होता है और दूसरी विधि में उस पद्धति की ओर सङ्केत होता है जिसके अनुसार आलोचना की जाती है। अतः जब किसी इतिहास की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है ऐतिहासिक आलोचना। जब किसी मनोविज्ञान की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है मनोवैज्ञानिक आलोचना। जब किसी विज्ञान की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है वैज्ञानिक आलोचना। और

जब किसी पुस्तक की आलोचना में ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है ऐतिहासिक आलोचना। जब किसी पुस्तक की आलोचना में मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है मनोवैज्ञानिक आलोचना। जब किसी पुस्तक की आलोचना में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है वैज्ञानिक आलोचना। स्पष्ट है कि वर्गीकरण की दोनों विधियों का ज्ञान 'ऐतिहासिक' 'मनोवैज्ञानिक' और 'वैज्ञानिक' इन पारिभाषिक शब्दों में नहीं होता। यहाँ पर वैज्ञानिक आलोचना से हमारा अभिप्राय विज्ञान की पुस्तकों की आलोचना से है।

विज्ञान जिज्ञासा-प्रवृत्ति का फल है। यह जिज्ञासा अव्यावहारिक होती है और उसका निर्देश स्वयं वस्तुओं की ओर होता है। ऐसी जिज्ञासा की पूर्ति से ही सत्य की प्राप्ति सम्भव होती है।

यूनानी तत्ववेत्ता कहा करते थे कि विज्ञान की उत्पत्ति आश्चर्य से हुई। किन्तु यह ठीक नहीं है। जिस क्रम से ज्ञान की वृद्धि हुई उस क्रम में आश्चर्य का स्थान बाद में हुआ है। विज्ञान की उत्पति का कारण मन की बेचैनी है। जब मनुष्य ने अपने को चारों ओर पद्रार्थों से घिरा हुआ पाया तो उन पदार्थों में उसने असम्बद्धता का अनुभव किया। इस घबराहट को दूर करने की कोशिश के फलस्वरूप उसने पदार्थों को एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध किया कि वे एक-दूसरे को सुदृढ़ करने लगे। इस प्रवणता ने, मानसिक जीवन में, पदार्थों का उन्हीं के हेतु, अवलोकन सम्भव किया और विज्ञान के निर्माण की नींव डाली।

विज्ञान का उद्देश्य पदार्थों कों सुव्यवस्थित करना और उनमें एकता दिखाना है। कला का उद्देश्य भी पदार्थों में एकता दिखाना है। विज्ञान और कला दोनों ही क्रियात्मक उद्देश्य के विचलन हैं। जब मन अपने ही में से आये हुए तत्त्वों का अपने उपादान में प्रवेश करने का प्रयास करता है तो क्रियात्मक प्रवृत्ति विकृत होकर मन को उपादान में ध्यानपरायण कर देती है और कला निर्माण का सृजन सम्भव करती है। विज्ञान में वही क्रियात्मक प्रवृत्ति पदार्थों में ऐक्य स्थापित करने के उद्देश्य से विकृत होती है। अन्तर केवल इतना है कि कला में उपादान कलाओं के आधार होते हैं और विज्ञान में उपादान इन्द्रियगोचर पदार्थ होते हैं। फिर कला में कलाकार अपने आधार में ऐसे तत्त्वों का समावेश कर देता है जो उस आधार के स्वभाव के बाहर होते हैं, अर्थात् कलाकार अपने आधार और उपकरण को छेड़ता है; इसके विपरीत विज्ञान का विषय विद्यमान संसार है जिसके साथ वैज्ञानिक किसी प्रकार की छेड़-छाड़ नहीं करता। इसी बात को दूसरी तरह से यों कह सकते हैं कि कला में तो मन उपकरण में निविष्ट हो जाता है और विज्ञान में मन केवल साधन-रूप होता है।

सत्य भी कला है। दोनों निष्काम और कथनीय हैं। जैसे कला अपने भिन्न-भिन्न तत्त्वों का एकीकरण है उसी प्रकार सत्य भी इन्द्रिय-प्राप्त तत्त्वों का एकीकरण है। अब सब विज्ञानों का एकीकरण भी सम्भव है या नहीं इस बात को तत्त्वविद्या के लिये छोड़े देते हैं। शायद जगत अनेकत्व हो, एकत्व नहीं। जैसे कला में सङ्गति होत है वैसे ही सत्य में भी

सङ्गति होती है। सत्य में जो सङ्गति है वह तत्त्वों का समवर्गीय होना और उनका और उनसे निकाले हुए नियमों का तथानुरूप होना है। सत्य कला के सदृश अवश्य है। परन्तु वह ललितकला नहीं है। ललितकला में मानसिक और भौतिक तत्त्वों का सम्मिश्रण और सामञ्जस्य होता है। सत्य अथाव विज्ञान में मन पदार्थ यथार्थ रूप को देखता हुआ पदार्थ को ज्यों का त्यों छोड़ता है इस प्रकार विज्ञान पूर्णतया मानसिक निर्माण है और मानसिक निर्माण होते हुए कृत्रिम है।

विज्ञान और ललितकला के इस परस्पर सम्बन्ध और भेद पर बड़े-बड़े आलोचकों के विचार प्रकाश डालते हैं। आई० ए० रिचर्ड्ज अपनी साहित्यालोचन के सिद्धान्त नामक पुस्तक में लिखते हैं कि प्रत्येक कथन में वस्तुओं की ओर निर्देश किया जाता है। जब निर्दिष्ट वस्तुएँ सच्ची होती हैं और उन में निर्दिष्ट सम्बन्ध भी सच्चा होता है तो उस कथन को वैज्ञानिक कहते हैं। ऐसे कथन जब तर्कपूर्ण सम्बद्ध होते हैं तो वे विज्ञान की रचना के कारण होते हैं। यदि किसी कथन में निर्दिष्ट वस्तुओं का सच्चा या झूठा होना महत्त्वपूर्ण न हो और न उन निर्दिष्ट वस्तुओं के बीच निर्दिष्ट सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण हो वरन कथन हमारे भावों (फीलिंग्ज़) और अन्तर्वेगों (इमोशन्स) को जागृत करे तो ऐसे कथन को हम साहित्यिक कहेंगे। हमारे मानसिक अनुभव के दो स्रोत हैं। एक तो वाह्य जगत् और दूसरा शारीरिक अवस्थाएँ। विज्ञान का सम्बन्ध वाह्य जगत् से है और साहित्य का शरीरिक अवस्थाओं से। विज्ञान में निर्देशों का वास्तविक आधार होता है। साहित्य में यदि निर्देशों का वास्तविक आधार हो तो उन का मूल्य उन की वास्तविकता से नहीं बल्कि उनकी भावों और अन्तर्वेगों को जागृत करने की क्षमता से आँका जाता है। कलाकार के निर्देश बहुधा अवास्तविक होते हैं। किन्तु उनके निर्देश चाहे वास्तविक हों चाहे अवास्तविक, उनका आन्तरिक सम्बन्ध अन्तर्वेगीय होता है। कलाकार का तर्क अन्तर्वेगीय होता है। अन्तर्वेग मन की एक भावात्मक वृत्ति है। वह भाव के पूर्ण विस्तार में बीच का स्थान पाती है। पहिला स्थान मूल-प्रवृत्ति का और तीसरा भावगति (मूड) का है। अन्तर्वेग और भावगति के क्षेत्रों में भाव रचनात्मक हो जाता है और कल्पना को जागृत कर देता है। इसीलिये जैसे किसी वैज्ञानिक कृति को समझने के लिये हमें न्यायात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है उसी तरह किसी साहित्यक कृति को समझने के लिये हमें कल्पनात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है। विज्ञान और साहित्य का यही अन्तर डे क्विन्सी के दिमाग में था जब उसने साहित्य का स्पष्ट अर्थ समझाने का प्रयास किया था। अपने साहित्य सिद्धान्त नामक लेख में वह बताता है कि साहित्य शब्द सम्भ्रम का अविरत स्रोत है। यह शब्द दो भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है और इसका एक अर्थ दूसरे अर्थ को गड़बड़ा देता है। प्रचलित अर्थ में तो साहित्य किसी भाषा की सभी ज्ञानात्मक पुस्तकों का द्योतक है परन्तु दार्शनिक भाव से साहित्य उन्हीं पुस्तकों का द्योतक माना जाता है जो शक्ति का सञ्चार करती हैं, जो अन्तर्वेगीय अन्तर्द्वन्द्व को सुलझाती हैं और जो आन्तरिक ऐक्य की स्थापना करती हैं। दार्शनिक अर्थ में हम नाटक, उपन्यास, कविता, निबन्ध, और आख्यायिका को साहित्य कह सकते हैं; व्याकरण, शब्द-सागर, इतिहास, अर्थशास्त्र और विज्ञान को साहित्य नहीं कह सकते।

प्रभावोत्पादक साहित्य ही शुद्ध साहित्य है, ज्ञानात्मक साहित्य नहीं। प्रभावोत्पादक साहित्य में विषय प्रभाव के अधीनस्थ हो जाता है। कभी-कभी तो विषय प्रभाव में बिल्कुल विलीन हो जाता है। यह हमारे अनुभव की बात है कि निरर्थक शब्दों के प्रवाह से कवि ऐसी छान्दिक गति पैदा कर देता है जिसके प्रभाव से सुविकारिता, अन्तर्वेगीय प्रफुल्लता और श्रद्धा-भावों की जागृति सम्भव होती है। इस प्रसङ्ग में सङ्गीत उदाहरणीय है। सङ्गीतज्ञ अर्थ रहित ध्वनियों से ऐसे मर्मस्पर्शी अन्तर्वेगों को उत्तेजित कर देता है जिसे कोई दूसरा कलाकार नहीं कर सकता। विज्ञान तो वास्तविकता के पूरे नियन्त्रण में होता है और साहित्य में वास्तविकता से स्वातन्त्र्य की क्षमता रहती है। इस बात पर अरिस्टॉटिल् ने भी जोर दिया था। वह अपनी 'पोइटिक्स में कवि को इतिहासकार से पृथक् करता हुआ कहता है कि इतिहासकार का विषय अव्यापक सत्य है और कवि का व्यापक। एल्कीविआडीज ने किसी विशेष परिस्थिति में क्या किया यह इतिहास है और अमुक व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में क्या करेगा यह काव्य है। अतः कवि अपनी वस्तु आप रचता है और इसी गुण के कारण अरिस्टॉटिल् कवि के यूनानी अर्थ, रचयिता (पोइट) का समर्थन करता है। अर्थात् कवि वस्तु की रचना करता है, अतः वह रचयिता है। कभी-कभी कवि जीवन-वस्तु को भी अपना लेता है जब कि जीवन वस्तु में कल्पनात्मकता होती है। परन्तु उसे सदा उपयुक्त असम्भवता को अनुपयुक्त सम्भवता से अधिक श्रेष्ठ मानना चाहिए। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की बातों से भी यही पता चलता है कि काव्य में वास्तविकता का कोई महत्त्व नहीं है। वास्तविक और अवास्तविक दोनों ही प्रकार की वस्तु काव्य में आ सकती है। परन्तु जब वास्तविक वस्तु काव्य में आये तो उस पर कल्पना का इतना गहरा रंग चढ़ा दिया जाय कि वास्तविक वस्तु अवास्तविक दीख पड़े और जब अवास्तविक वस्तु काव्य में आये तो उसके तत्त्वों को सांवेगिक तर्क से इस प्रकार सङ्गत कर दिया जाय कि अवास्तविक वस्तु वास्तविक दीख पड़े। इसी से कोलरिज ने कहा था कि काव्यग्राही में अनास्था स्थगित करने की क्षमता होनी चाहिये। आई० ए० रिचर्ड्ज ने इसी उक्ति का संशोधन करते हुए कहा कि काव्यग्राही में अनास्थ. ही नहीं किन्तु आस्था को भी स्थगित करने की क्षमता होनी चाहिये। भारतीय मत भी इसी पक्ष का है। उद्भट का कहना है कि साहित्य विषय के दो प्रभेद हैं विचारितसुस्थ और अविचारित रमणीय। विचारितसुस्थ दल में सभी शास्त्र आते हैं और अविचारित रमणीय दल में काव्य आता है। ऐसा ही अवन्तिसुन्दरी का मत है।

वस्तु स्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो
गुणा गुणावुक्तिवशेन काव्ये।

अर्थात् कवि वस्तु-स्वभाव के अधीन नहीं होता, काव्य में वस्तुओं के दोष या गुण कवि की उक्ति पर ही निर्भर होते हैं। साहित्य वास्तविक सत्य से विमुख होने में जरा भी नहीं हिचकता क्योंकि उसका लक्ष्य अधिक विस्तृत और उच्चतर सत्य है। निष्कर्ष यह है कि कला में वास्तविकता का महत्त्व नहीं, वास्तविकता का महत्त्व इतिहास और विज्ञान

में है। विज्ञान इतिहासजन्य है। जब इतिहास में विश्लेषण, वर्गीकरण और नियमों की उपलब्धि होने लगती है तो इतिहास विज्ञान हो जाता है। कला और विज्ञान का अन्तर इन शब्दों में दर्शा सकते हैं। गढ़े हुए अथवा परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित विषय द्वारा, सूचक (सजैस्टिव) शब्दों में, किसी आदर्श सत्य की अभिव्यञ्जना करना तो साहित्य का सार है; और यथार्थ के तत्त्वों द्वारा, निश्चयार्थक शब्दों में, ज्ञान की किसी स्वचालित व्यवस्था का निर्माण करना विज्ञान का सार है।

वैज्ञानिक कृतियों की आलोचना वैज्ञानिक आलोचना है और ऐसी आलोचना को हम साहित्यालोचन कदापि नहीं कह सकते। विज्ञान में सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि अनुभव के प्रदत्त (डेटा) वास्तविक तथ्य होते हैं। वे यथार्थ के अनुरूप होते हैं। उनका निरीक्षण काम्य बुद्धि से नहीं वरन् निस्सङ्ग बुद्धि से होना है। अतः वैज्ञानिक आलोचक का प्रमुख धर्म यही है कि वह देखे कि वैज्ञानिक के प्रदत्त राग, द्वेष और पक्षपात रहित हैं; अपने प्रदत्तों तक पहुँचने तक उसने वैयक्तिक अथवा शास्त्रीय मतों का सहारा तो नहीं लिया। फिर उसे यह देखना है कि वैज्ञानिक के कथनों में तर्कपूर्ण सम्बन्ध है या नहीं और वे कथन एक-दूसरे का समर्थन करते हैं या नहीं। अन्त में उसे यह देखना है कि उन सब संघटित कथनों की पूर्ण वैज्ञानिक व्यवस्था में अन्तिम नियम को निर्दिष्ट करने की क्षमता है या नहीं। साहित्य के आलोचक को इन सब बातों से कोई मतलब नहीं है। कलाकार वैज्ञानिक विश्लेषण से परे एक उच्चतर संश्लेषण की प्राप्ति का प्रयास करता है। पहले वह अपने मन को वासना रहित करता है। फिर वस्तु का सर्वाङ्ग आलिङ्गन करता है। इस क्रिया में उसकी काल्पनिक दृष्टि इतनी प्रबल हो जाती है कि उसे सत्य का सीधा दर्शन हो जाता है। कलाकार वस्तुमय होकर वस्तु का सत्य जानता है। और जिस सत्य का उसे प्रकाश होता है वह वस्तु का सारभूत सत्य होता है, वह उस वस्तु के अस्तित्व के नियम की सिद्धि होती है। जैसे कीट्स ने कहा था, कलाकार किसी पदार्थ के सत्य को उसके सौन्दर्य में देखता है। इस विचार से यह स्पष्ट है कि साहित्य की सफल आलोचना के लिये आलोचक सौन्दर्य के रूप से और सौन्दर्य शास्त्र के सिद्धान्तों से पूर्णतया अभिज्ञ हो।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि विज्ञान और साहित्य अलग-अलग किये जा सकते हैं। वास्तव में ऐसा सर्वदा सम्भव नहीं है। ऐसे कवि हैं जिन्होंने दार्शनिक व्यवस्थाओं का अपनी कविताओं में प्रयोग किया है। ल्यूक्रेशस ने अपनी 'डे रेरम नेचरा' में एपीक्यूरस के आणविक सिद्धान्त को ग्रहण किया है। इस कविता में कवि ने यह सिद्ध किया है कि देवताओं का भय मिथ्या है। संसार की रचना और गति बिना उनके हस्तक्षेप के सुबोध है। डाण्टे के 'डिवायना कोमेडिया' तो सेण्ट टामस की कैथौलिक नीति का कहीं-कहीं तो केवल शब्दान्तरकरण है। ईसाई मत में मनुष्य के पतन का जो वृत्तान्त है वह और टोलेमी की ज्योतिष-विद्या-विषयक व्यवस्था ही मिल्टन के 'पैरेडाइज लॉस्ट' के अधार हैं; हाँ कभी-कभी कापरनीकस की ज्योतिष का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। दूसरी ओर ऐसे वैज्ञानिक हुए हैं जिन्होंने अपनी कृतियों को साहित्यक मनोहारित्व प्रदान किया है।

बेकन ने अपनी 'नोवम ऑरगेनम' में वैज्ञानिक खोज की आगमनात्मक पद्धति का विवरण दिया है। लेखन शैली लोकोक्तिपूर्ण है और उन भ्रान्तियों का जिनसे आगमन दूषित हो जाता है, बड़ा सजीव चित्रण है। डार्विन की 'ऑरीजिन ऑफ स्पीशीज' उसके धैर्य और सूक्ष्म निरीक्षण का साक्षी तो है ही परन्तु जिस निर्भीक और साहसी कल्पना से उसने विकासवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उससे कोई पढ़नेवाला अप्रभावित नहीं रह सकता। एच० जी० वेल्स की 'आउटलाइन ऑफ़ हिस्ट्री' उसकी प्रतिभा के चमत्कार से दीप्त है। उसकी राजनीतिक धारणा है कि मानव जाति एक है और वह समय जल्द आ रहा है जब सम्पूर्ण मानव जाति का एक राष्ट्र होगा और जीवन की सारी असुविधाएँ दूर हो जायेंगी। संस्कृत और हिन्दी में भी ऐसे बहुत से ग्रन्थ हैं जिनके विषय, ज्योतिष, दर्शन, व्याकरण, वैद्यक, इतिहास और पौराणिक कथाएँ हैं। उदाहरण 'वैद्य जीवन,' 'गीता,' 'भागवत,' 'भट्टिकाव्य,' 'रुक्मिणी-मङ्गल,' 'भ्रमर गीत' 'पृथ्वीराज रासो,' और 'रास पंचाध्यायी' हैं। इन सब ग्रन्थों का उद्देश्य तो ज्ञान का सञ्चार ही है परन्तु ग्रन्थकारों ने अपनी वर्णन शैली से इन्हें ऐसा रोचक बना दिया है कि पढ़ने वाले उस आनन्द का अनुभव करने लगते हैं जो रसपरिपाक से उत्पन्न होता है।

चाहे कवि अपनी कविता में किसी ज्ञान विषयक सामग्री का प्रयोग करे और चाहे कोई ज्ञान विषयक लेखक अपने लेख को कलामय रूप-सौष्ठव से सुसज्जित करे यह स्पष्ट है कि सत्य की अनुभूति उसी प्रकार सम्भव है जैसे कि सौन्दर्य अथवा कल्याण की। इसमें सन्देह नहीं सत्य की अनुभूति कवि को ज्यादा होती है और वैज्ञानिक या इतिहासकार को कुछ कम। टी० एस० इलियट का कथन है कि वह कवि उच्चतर कोटि का है जो अपनी कविता में किसी दार्शनिक व्यवस्था का प्रयोग करता है। दार्शनिक व्यवस्था के उपयोग से कवि सचेत रहता है और संसारिक जीवन से पृथक् नहीं होने पाता। परन्तु काव्य के लिये किसी विशेष ज्ञान की सामग्री अनावश्यक है। काव्य का आनन्द तो मनुष्य केवल मानवगुण-सम्पन्न होने भर से हो पाता है और किसी विशेष दार्शनिक व्यवस्था से संकुचित होकर तो कवि अपनी प्रतिभा को अवरुद्ध ही करता है। शेक्सपिअर ने कब किसी दार्शनिक व्यवस्था का सहारा लिया था और क्या वह दुनिया के कवियों में अद्वितीय नहीं माना जाता? कहने का सार यह है कि साहित्य का आलोचक ऐसे कवि को जिसने ज्ञान विषयक सामग्री का उपयोग किया है और ऐसे कवि को भी जिसने ऐसी सामग्री का उपयोग नहीं किया है, दोनों ही को कलामीमांसा (एस्थैटिक) के मानदण्डों से जाँचेगा; परन्तु उसे उस कलाकार को भी कलामीमांसा के मानदण्डों से जाँचना होगा जिसका विषय तो ज्ञान-सम्बन्धी है, परन्तु जिसने उस विषय के प्रतिपादन को ओजपूर्ण और अलङ्कारयुक्त बनाया है।

इतिहास की आलोचना भी साहित्यालोचन नहीं है।

इतिहास की आलोचना तीन अवस्थाओं में होकर गुजरी है। पहले वह लाक्षणिक अथवा रूपकात्मक थी, फिर नैतिक हुई, और फिर धीरे-धीरे तार्किक हुई। इतिहास को

जीवन के अलौकिक सिद्धान्तों से और उसे नैतिक और ईश्वर-शास्त्रविषयक विचारों से मुक्त करने में और फलतः उसे वैज्ञानिक रूप देने में तीन ओर से सहायता मिली। भौतिक विज्ञानों से इतिहासकारों को नियम और व्यवस्था की बुद्धि आई, तत्त्वज्ञान से उन्हें ऐक्य की सूझ हुई, और प्रजातन्त्रवाद से उन्हें स्वमत्तासक्त (डॉगमैटिक) आदेशों के असहन की सीख मिली। धीरे-धीरे अनुसन्धान की तुलनात्मक पद्धति ने इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन को उत्तेजना दी। भाषा-विज्ञान और उत्क्रान्तिवाद ने भी बहुत सी ऐतिहासिक घटनाओं में तार्किक सम्बद्धता दिखाई। दो आधुनिक सिद्धान्त और, सामान्य का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ एव्रेजैज़) और निर्णायक उदाहरणों का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ क्रूशल इन्सटैन्सैज), भी इतिहास को वैज्ञानिक बनाने में भारी महत्त्व के साबित हुए। समान्य के सिद्धान्त ने तो इतिहास के निश्चल (स्टैटिक) तत्त्वों को स्पष्ट किया, और भौतिक परिस्थितियों का जो प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है उसे उदाहरणीकृत किया; और निर्णायक उदाहरणो क सिद्धान्त ने मौलन क्विगनौन की खोपड़ी के अकल उदाहरण द्वारा इतिहास-पूवकालीन पुरातत्त्वविद्या (प्रोहिस्टॉरिक आरकिऑलॉजी), एक नये विज्ञान की स्थापना म मदद दी और वह स्थिति साक्षात् की जब मनुष्व पाषाण-काल में मैमथ और ऊनी गैडों का समकालीन था।

इतिहास में हेतुवादी प्रक्रिया का स्पष्टीकरण दैनिक पत्रलेखन-कला के विकास से किया जा सकता है। पत्र पहले समाचार देता था, फिर समाचारों का संग्रह और सम्पादन धीरे-धीरे पूर्वनिश्चित विचारों से नेतृत्व में होने लगा। अब प्रत्येक पत्र की एक नियत नीति हो गई है। इसी प्रकार ऐतिहासिक घटनाओं का संग्रह और उनका सम्पादन भी इतिहासकारों ने पहिले नैतिक और फिर वैज्ञानिक विचारों के नेतृत्व में किया। शुरू से ही इतिहास के विषय में दो मत रहे हैं। पहला मत तो यह है कि इतिहास एक कला है, जिसके अन्तिम हेतु उसके बाहर हैं। संसार की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी घटनाओं के पीछे दैविक प्रेरणाएँ निहित हैं। यह प्लेटो का मत है। दूसरा मत यह है कि इतिहास एक सुसङ्गठित शरीर की भाँति है, जिसके विकास के नियम उसके भीतर ही हैं और जो अपनी साधारण गति ही में अपनी सम्पूर्णता प्राप्त कर लेता है। यह अरिस्टॉटल् का मत है। आधुनिक काल में प्रकृतिवाद की वृद्धि के कारण इतिहास का दूसरा मत ही ग्रहणीय है। इस मत का इतिहासकार प्रत्येक अवसर पर बौद्धिक और प्राकृतिक हेतुओं की खोज में रहता है। वह छोटी से छोटी वस्तु को महत्त्वपूर्ण समझता है। उसका क्षेत्र कोई विशेष जाति अथवा देश नहीं होता। वह अपने को सारी मानवजाति और सारे संसार का व्याख्याता मानता है। वह समझता है कि संसार में कोई ऐसी बात नहीं जिसका असर सारे इतिहास पर न पड़ता हो और इसी कारण वह विशेष झक की उपेक्षा करता हुआ व्यापक नियमों का आदर करता है और प्रधान हेतु को गौण हेतु से पहिचानता है। वह जानता है कि जीवन के सब पाठ इतिहास में निहित हैं और उन्ही को प्रकट कर दिखाना उसका कर्तव्य है। इस प्रकार लिखा हुआ इतिहास ही वैज्ञानिक इतिहास है।

वैज्ञानिक साहित्य का आलोचक दो सिद्धान्तों पर चलता है। पहला सिद्धान्त है सत्याभास का और दूसरा है सम्भाव्य का। वह आशा करता है कि इतिहासकार कट्टर सत्यवादी है। सत्यवादी होने का मतलब स्पष्ट ऐतिहासिक अभिज्ञता ही नहीं है वरन् ईमानदारी भी। इतिहास का पाठक इतिहासकार में पूरी श्रद्धा रखता है और यदि इतिहासकार पाठक के मत को प्रभावित करने का प्रयत्न करे तो वह घोर पाप का भागी होता है। इसी से तो इतिहासकार को पहले से ही अधिक से अधिक विश्वसनीय साक्ष्य पाने के उद्देश्य से लिखित पत्रों और प्रमाणों की पर्याप्त परीक्षा करना आवश्यक है। सब से अधिक विश्वसनीय साक्ष्य उस व्यक्ति का माना जाता है जिसने घटनाओं को स्वयं देखा था, जिसकी स्मृति पक्की थी, और जिसे तथ्यों को झूठा करके रखने में कोई स्वार्थ न था। इसी से तो कहा जाता है कि आदर्श इतिहासकार का अस्तित्व असम्भव है। आदर्श इतिहासकार की दृष्टि के सामने भूतकाल का सच्चे रूप में होना आवश्यक है। इससे सिद्ध होता है कि वैज्ञानिक इतिहास का आलोचक साक्ष्य की छानबीन में दक्ष हो। वह फ़ौरन समझ ले कि इतिहासकार कहाँ वास्तविकता से हट गया है और किस व्यक्ति अथवा पार्टी के अनुराग में उसने अपने वर्णन को सुदृढ और सुचित्रित किया है। इस बात को ध्यान में रख कर हम यह कह सकते हैं कि अंग्रेज़ी गृहयुद्ध का गार्डीनर का लिखा हुआ इतिहास बहुत कुछ निर्दोष है और मैकॉले का इंगलैण्ड का इतिहास इतना निर्दोष नहीं है।

वास्तव में वैज्ञानिक इतिहास इतिहास नहीं है। विज्ञान आध्यात्मिक विषय है और प्रत्यय और नियम पर आधारित है। इतिहास में प्रत्यय और नियम को कोई स्थान नहीं। इतिहास निगमन और आगमन दोनों से इधर की ओर है। कला की तरह उसका आधिपत्य 'यह' और 'यहाँ' पर है। इतिहास मूर्त और वैयक्तिक है, जैसे प्रत्यय अमूर्त और व्यापक है। इसी से इतिहास कला ही के व्यापक प्रत्यय में सम्मिलित है। कभी-कभी यह कुतार्किक बात सुनने में आती है कि इतिहास का उद्देश्य भी व्यक्ति के प्रत्यय की स्थापना करना है, उस व्यक्ति का केवल वर्णन नहीं। परन्तु प्रत्यय व्यापक होता है, क्योंकि वह बहुत से व्यक्तियों के सामान्य गुणों से स्थापित होता है। इतिहास व्यक्तियों से परे जाता ही नहीं। भला अशोक अथवा नैपोलियन का, पुनरुत्थान (अँग्रेजी, रिनेसैन्स) अथवा धार्मिक संशोधन (अँग्रेजी, रिफ़ौर्मेशन) का फ्रेन्च क्रान्ति अथवा भारतीय स्वतन्त्रता का क्या प्रत्यय ? इतिहासकार इनकी वैयक्तिकताओं का वर्णन ही दे सकता है। नाप-तौल और व्यापकता किसी विषय को वैज्ञानिक व्यवस्था देते हैं और ये दोनों इतिहास में असङ्गत हैं। वास्तव में इतिहास कला और विज्ञान के मध्य में हैं। इतिहास को हम विज्ञान कह सकते हैं, क्योकि उस पर विज्ञान की तरह वास्तविकता का नियन्त्रण है; और उसको हम कला भी कह सकते हैं, क्योंकि वह व्यक्तियों और व्यक्तीकरण से निर्दिष्ट है। जब इतिहास वास्तविकता का परित्याग करके मनगढ़न्त और काल्पनिक तथ्यों से किसी व्यक्ति अथवा घटना का चित्रण करता है तो वह कला हो जाता है। सच्चा इतिहास तो किसी व्यक्ति अथवा घटना का विश्वसनीय और यथाभूत चित्रण ही कर सकता है।

सच्चे इतिहास के आलोचक का कर्तव्य यही है कि वह यह बात देखे कि साहित्यकार कहाँ तक अपने विषय को वास्तविक तथ्यों से चित्रित करके उसे मूर्तता और व्यक्तित्व प्रदान कर सका है। साहित्यलोचक इस बात से उदासीन होता है कि तथ्य वास्तविक है या मनगढ़न्त और काल्पनिक। अन्यथा सच्चे इतिहास का आलोचक साहित्य के आलोचक के सदृश ही होता है ।

२

द्वितीयतः हम पाठालोचन (टेक्सचुअल क्रिटिसिज़्म) का वहिष्कार करते हैं।

पाठालोचन शब्दाकारशास्त्र-सम्बन्धी विषय है। उसका प्रयोग बहुधा ऐसे ग्रन्थों के लिए किया जाता है जो मुद्रण यन्त्र के आविष्कार से पहले लिखे गये थे। इनके अतिरिक्त उसका प्रयोग ऐसे ग्रन्थों के लिए भी किया जाता है जो उस काल से पहले लिखे गये थे जब प्रकाशन के आधुनिक नियमों की स्थापना हुई। अंग्रेज़ी में प्रधानतः चॉसर, स्पेंसर, और शेक्सपिअर की ध्यानपूर्वक पाठालोचना हुई है।

पहले कई सौ वर्ष तक कैक्सटन, टाइन, स्टो, स्पेट और यूरी इत्यादि सम्पादकों ने चॉसर का पाठ अनालोचनात्मक वृत्ति से स्वीकार किया। इसके पश्चात् अठारहवीं शताब्दी के पिछले भाग में टरहिट ने अँग्रेजी साहित्य-प्रेमियों को चॉसर का आलोचनात्मक संस्करण दिया। टरहिट ने इस कार्य को बड़े परिश्रम से किया। पहले उसने चॉसर के पाठ की जितनी प्रतियाँ और प्रतिलिपियाँ मिल सकती थीं इकट्ठा की। फिर उसने चॉसर का और चॉसर के समकालीन और पूर्ववर्ती लेखकों का सचेष्ट अध्ययन किया और इंगलैण्ड के लेखकों का ही नहीं वरन् फ्रान्स और दूसरे देशों के लेखकों का भी। उसके परिश्रम का अन्दाज़ा लगाने के लिए यह याद रखने की बात है कि यह सब अध्ययन हस्तलिखित प्रतियों में हुआ। अन्त में उसने बड़ी सावधानी से चॉसर के पद्यों का संवेदनशील और सुशिक्षित श्रवणेन्द्रिय द्वारा अध्ययन किया। टरहिट के परिश्रम के परिणाम-स्वरूप ही साधारण पाठक चॉसर को उसके असली रूप में देख सका और जहाँ तक 'कैण्टरबरी टेल्स' की बात है टरहिट के संस्करण में उस काव्य की पाठक को ठीक प्रतिभा मिली। टरहिट का सबसे बड़ा अनुसन्धान यह था कि अन्तिम 'ई' (e) का उच्चारण होता है और वृत्त में उसकी गणना होती है। टरहिट की विद्वत्ता का लाभ अँग्रेज़ी अलोचकों ने जल्द नहीं उठाया। परन्तु धीरे-धीरे निकॉलस, राइट, मॉरिस, स्कीट, फर्नीवाल क्रमशः उत्तेजित हुए, और चॉसर सोसाइटी की स्थापना हुई। इस सोसाइटी ने एक ऐसा मान निश्चित किया जिससे चॉसर का पाठ पूर्व-स्थित दशा में लाया गया और जिसने उसे पाठक के लिए समझे जाने और सराहने के लिए सुगम बनाया।

'फ़ेअरी क्वीन' का तृतीय फ़ोलियो १६७९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर १७१५ ई० में ह्यूज का प्रथम आलोचनात्मक संस्करण निकला। स्पेंसर की कृतियों के और बहुत से संस्करण निकल चुके हैं जिनमें से डॉक्टर ग्रोसर्ट का संस्करण, और ई० डी० सेलिकोर्ट का संस्करण उल्लेखनीय हैं।

शेक्सपिअर की कृतियों में से 'वीनस एण्ड एडोनिस' और 'ल्यूक्रेसी' उसकी आज्ञा से प्रकाशित हुईं। इनके बहुत से संस्करण कवि के जीवन-काल ही में निकले। इन दोनों कविताओं के अतिरिक्त कोई दूसरी कृति कवि की स्वीकृति अथवा आज्ञा से प्रकाशित नहीं हुई। टॉमस थॉर्प ने १६०९ ई० में शेक्सपिअर के 'सॉनैट्स' को छाप डाला। परन्तु यह संस्करण टॉमस थॉर्प का अनधिकृत साहस था। शेक्सपिअर को इसका पता भी न था, छपाई के पर्यवेक्षण की तो बात ही क्या। उपर्युक्त दोनों कविताएँ और 'सॉनेट्स' पहले-पहल १७९० ई० में मैलोन ने अपने आलोचनात्मक संस्करण में शामिल किए थे। 'रोमियो एण्ड जूलियेट'' 'हैनरी द फ़िफ़्थ', 'द मैरी वाइव्ज़ ऑफ़ विण्डसर', और 'हैमलेट' का नाटकमण्डली ने स्मृति से पुर्ननिमाण किया। और इन पुर्ननिर्मित नाटकों को अभिनेताओं ने मुद्रकों और प्रकाशकों के हाथ बेच डाला। पीटर एलेक्ज़ेंडर का कहना है कि 'द टेमिंग ऑफ श्रू' और 'हैनरी द सिक्स्थ' के पिछले दोनों भाग भी इसी प्रकार छपे थे। ये संस्करण अपूर्ण और क्षत-विक्षत थे। इनका प्रचलन रोकने के लिये वे ही नाटक नये संस्करणों में प्रकाशित हुये जो शेक्सपिअर की हस्तलिखित प्रतियों से या नाट्यशाला की प्रतियों से तैयार किये गये थे। ऐसे क्षत-विक्षत नाटकों की बिक्री रोकने के लिये ही 'रिचर्ड द सैकिण्ड,' 'रिचर्ड द थर्ड,' 'लव्ज़ लेबर ज् लॉस्ट,' द 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस,' 'मिड समर नाइट्स ड्रीम,' 'मच एडो अबाउट नथिंग,' 'फर्स्ट हैनरी द फोर्थ,' और 'सैकण्ड हैनरीदफोर्थ' नकले। वे सब क्वार्टो में छापे गये। जिन क्वार्टो में क्षत-विक्षत पाठ थे वे 'बैड क्वार्टो' कहलाये और जिनमें यथाभूत पाठ थे वे 'गुड क्वार्टो' कहलाये। टाइटस एण्ड्रोनीकस,' 'किंग लीअर,' 'पेरीक्लीज़,' 'ट्रॉयलस एण्ड क्रेसिडा', और 'ऑथेलो ये पाँच अधिक नाटक क्वार्टो रूप में निकले। इनके पीछे १६२३ ई० का फ़र्स्ट फ़ोलियो' प्रकाशित हुआ। 'पेरीक्लीज़' को छोड़ कर जो नाटक क्वार्टो में निकल चुके थे उन सब को 'फ़र्स्ट फ़ोलियो' ने छापा। जो नये नाटक 'फ़र्स्ट फ़ोलियो' ने छापे उनके नाम ये हैं : 'द टैम्पेस्ट,' 'द टू जेंटिलमैन ऑफ़ वेरोना,' 'मैज़र फॉर मैज़र,' 'द कॉमेडी ऑफ़ ऐरर्स,' 'ऐज़ यू लाइक इट,' 'ऑल इज़ वेल दैट एण्ड्ज़ वेल,' 'ट्वेल्फ़थ नाइट,' 'द विण्टर्स टेल,' 'द थर्ड पार्ट ऑफ़ हैनरी द सिक्स्थ,' 'हैनरी द एट्थ,' 'किंग जॉन,' 'कोरायोलैनस,' 'टाइमन ऑफ़ एथेन्स,' 'जूलियस सीज़र,' 'मैक्बैथ,' 'एण्टनी एण्ड किलयोपैट्रा,' और 'सिम्बैलीन'। फ़र्स्ट फ़ोलियो' १६३२ में फिर से छापा गया। १६६३-६४ में जब 'फ़र्स्ट फ़ोलियो' तिबारा छापा गया तो उसमें 'पैरिक्लीज़' भी छापा गया और इसके अतिरिक्त छः और नये नाटक छापे गये। उनके नाम ये हैं : 'द लण्डन प्रॉडीगल' 'द हिस्ट्री ऑफ टोमस लॉर्ड क्राम्वैल,' 'सर जौन ओल्डकासिल,' 'द प्यौरीटन विडो,' 'ए योर्कशायर ट्रैजैडी' और 'द ट्रैजैडी ऑफ़ लौक्रीन,'। ये छः नाटक प्रायः शेक्सपिअर के नहीं माने जाते यद्यपि कुछ भद्दे प्रकाशक इन नाटकों को शेक्सपिअर का कह कर छाप दिया करते थे। चौथी बार फ़र्स्ट फ़ोलियो १६८५ में छापा गया और इसमें तीसरे संस्करण के बढ़ाये हुये नाटक भी थे। प्रत्येक नया संस्करण अपने पूर्ववर्ती संस्करण से छापा गया था, जिसने पहिले की कुछ अशुद्धियों को संशोधित किया और अपनी ओर से नई अशुद्धियाँ बढ़ा दी। चौथे फ़ोलियो की कुछ विशेषताएँ हैं। इसने

अक्षर-विन्यास में आधुनिकता ला दी और वाक्य के आरम्भिक बड़े अक्षरों की संख्या बढ़ा दी। अब तक शेक्सपिअर के नाटकों का पाठ मुद्रकों के हाथ में था। उसकी कृतियों का आलोचनात्मक संस्करण निकालने का पहला गम्भीर प्रयास १७०६ में रो का था। यदि ऐसे संशोधनों की संख्या से जिन्हें आधुनिक सम्पादकों ने स्वीकार कर लिया है उसकी योग्यता का निर्णय किया जाय तो उसका स्थान १६३२ वाले फ़ोलियो के सम्पादकों से द्वितीय ही माना जायगा। रो के कार्यक्षेत्र में उसके प्रमुख अनुगामी अठारहवीं शताब्दी में पोप, थिओबोल्ड, जौन्सन, कैपेल, स्टीवेन्स, और मैलोन थे, उन्नीसवीं शताब्दी में बौसवैल, फ़रनैस, क्लार्क औ राइट थे और बीसवीं शताब्दी में क्विलरकूच और डोवर विल्सन है।

भारतीय भाषाओं में सम्पादन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अध्ययन कुछ देर से आरम्भ हुआ। किन्तु जितना भी कार्य हुआ है वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। संस्कृत के कई ग्रन्थों के प्रामाणिक पाठ स्थिर हुए—हर्टेल तथा एजर्टन ने 'पञ्चतन्त्र' के पाठ का गहरा अनुसन्धान किया; पिशेल ने कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तला' (बँगला रूपान्तर) का, स्टेन कोनोव् ने राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी' का, मैक्समुलर ने 'ऋग्वेद' का, लड्विग ऑल्सडोर्फ़ ने 'हरिवंश' का प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत किया। प्रो० जैकोबी और डॉ० रुबेन ने वाल्मीकि 'रामायण' की पाठसमस्यायों का अध्ययन आरम्भ किया। पाश्चात्य विद्वानों से प्रेरणा पाकर कुछ भारतीय विद्वानों ने भी इस दिशा में चिरस्मरणीय कार्य किया। 'महाभारत' के आदिपर्व का सम्पादन डॉ० सुकथाङ्कर के हाथों पूरा हुआ। डॉ० पी० एल० वैद्य और डॉ० आर० जी० भण्डारकर ने कुछ ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण निकाले जिनमें पुष्पदन्त का 'आदिपुराण' और भवभूति का 'मालती-माधव' विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ० ए० एन्० उपाध्ये ने योगीन्दु के 'परमात्मप्रकाश' का वैज्ञानिक सम्पादन किया।

इनमें सबसे अधिक प्रशंसनीय कार्य डॉ० सुकथाङ्कर का रहा। 'महाभारत' के अध्ययन में उन्होंने अपना सारा जीवन और धन उत्सर्ग कर दिया, उन्होंने भारत जैसे विशाल देश के कोने-कोने में बिखरी हुई 'महाभारत' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्र कीं, जो इस देश की विभिन्न लिपियों में लिपिबद्ध हुई थीं। शारदा, देवनागरी, नेपाली, मैथिली, बंगाली, तेलेगू, ग्रन्थ तथा मलयालम आदि प्रायः सभी प्रमुख लिपियों में 'महाभारत' की प्रतियाँ उन्हें मिलीं। कई अन्य विद्वानों के सहयोग से उन्होंने इन सभी प्रतियों के पाठों का मिलान करवा कर 'महाभारत' के वैज्ञानिक सम्पादन के सिद्धान्त स्थिर किए। उनके द्वारा सम्पादित 'आदिपर्व' में विभिन्न लिपियों की लगभग साठ प्रतियों का उपयोग किया गया है। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने यह भी दिखाया कि पश्चिम में पाठनिर्धारण के जो सिद्धान्त स्थिर किए गए हैं, उनसे भारतीय ग्रन्थों के सम्पादन का पूरा-पूरा काम नहीं निकलता और फलस्वरूप उन्होंने पाठनिर्धारण के कई नवीन सिद्धान्तों

का उपस्थापन किया। इस क्षेत्र में डॉ० सुकथाङ्कार ने जो कार्य किया वह वास्तव में कभी भुलाया नहीं जा सकता।

हिन्दी में प्राचीन तथा मध्यकालीन कवियों की रचनाओं के प्रामाणिक संस्करणों का अभाव विद्वानों को समय-समय पर खटकता अवश्य रहा है, किन्तु ठोस कार्य अभी थोड़े ही दिनों से आरम्भ हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में डॉ० ग्रियर्सन और पं० सुधाकर द्विवेदी ने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बङ्गाल से बिहारी की 'सतसई' और मलिक मुहम्मद जायसी के 'पदमावत' के कुछ अंश कई प्राचीन प्रतियों के आधार पर सम्पादित करके प्रकाशित करवाए। डॉ० ग्रियर्सन ने तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का भी पाठ सम्पादित करके खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित कराया। पुनः बीसवीं शताब्दी की कुछ आरम्भिक दशाब्दियों में इण्डियन प्रेस ने काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में कई विद्वानों द्वारा तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का और गङ्गा-पुस्तकमाला, लखनऊ ने श्री जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर' से 'बिहारी-सतसई, तथा श्री कृष्णबिहारी मिश्र से 'मतिराम-ग्रन्थवाली' का सम्पादन कराकर प्रकाशित किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भी कई विद्वानों से 'तुलसी-ग्रन्यावली,' 'सूर-सागर,' 'सुन्दरग्रन्थावली' 'कबीर-ग्रन्थावली,' 'ढोला मारू रा दूहा, के 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन,प्रयाग ने डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल से'गोरख-बानी' के; प्रयाग विश्वविद्यालय ने प० उमाशंकर शुक्ल से नन्ददास के काव्यग्रन्थों के, और वहाँ के हिन्दी परिषद् ने सेनापति के 'कवित्त-रत्नाकर' के; तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग ने 'बेली किसन रुकमनी री' के सुपाठ्य संस्करण सम्पादित करा कर प्रकाशित किए। किन्तु ये सभी कार्य वैज्ञानिक दृष्टि से पूरे खरे नहीं उतरते। प्रामाणिक पाठ-निर्णय के सम्बन्ध में सम्पादन विज्ञान के जो सिद्धान्त हैं, उनसे ये सभी विद्वान अपरिचित ज्ञात होते हैं।

हिन्दी में वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वप्रथम इस प्रकार का कार्य आरम्भ करने का श्रय डॉ० माताप्रसाद गुप्त को है। उन्होंने, तुलसीदास के रामचरितमानस' का प्राचीनतम प्रतियों के आधार पर केवल सम्पादन ही नही किया है, वरन् उसके पाठ की समस्याओं को लेकर 'रामचरितमानस का पाठ' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ दो जिल्दों में प्रकाशित करवाया है। इसी प्रकार उन्होंने 'जायसी ग्रन्थावली' का भी प्रचीनतम प्रतियों के आधार पर सम्पादन किया है, और उसकी भूमिका के रूप में उसके सम्पादन में प्रयुक्त प्रतियों और पाठनिर्धारण-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक वैज्ञानिक विवेचन किया है। इसमें 'रामचरितमानस' का पाठ और 'रामचरितमानस' सन, १९४९ में साहित्य-कुटीर, प्रयाग, से और 'जायसी-ग्रन्थावली' सन् १९५१ में हिन्दुस्तानी एकडेमी, प्रयाग से प्रकाशित हुई हैं। डॉ० गुप्त द्वारा सम्पादित नरपति नाल्हकृत बीसलदेव रासो का भी प्रकाशन हो गया है। डॉ० गुप्त द्वारा सम्पादित् और अनेक पुस्ताकें प्रकाश में आई हैं। कबीरदास की रचनाओं का भी सम्पादन प्रयाग-विश्वविद्यालय के तत्वावधन में डॉ पारसनाथ तिवारी ने किया है जो 'कबीर ग्रन्थावली' शीर्षक से हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, द्वारा प्रकाशित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नई जागृति के साथ हिन्दी वालों ने इस दिशा में अपना उत्तरदायित्व भलीभाँति समझ लिया है।

हिन्दी में 'रामचरितमानस' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसमें उच्च आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ कला का अत्यन्त रोचक समन्वय है। इसमें प्रधान रसों की शिष्टतापूर्ण सफल अभिव्यञ्जना है और रचनाकौशल, भाषा प्रयोग तथा प्रबन्धपटुता में 'मानस' तुलसी की प्रतिभा का उत्कृष्ट उदाहरण है। हिन्दी में ऐसे बहुत कम ग्रन्थ है जिसमें अनेक साहित्यिक तथा आध्यात्मिक गुणों का एक साथ ही ऐसा उत्कृष्ट समन्वय हो सका हो जैसा 'रामचरितमानस' में हुआ है। इन गुणों के कारण 'मानस' भारत की ही नहीं, अखिल विश्व की उन गिनीचुनी पवित्र पुस्तकों की कोटि में आ जाता है। जिन्होंने मानव जाति को सदैव कल्याणमय मार्ग की ओर अग्रसर किया है, अतः स्वाभाविक रूप से इस ग्रन्थ के मूल पाठ का निर्धारण बड़ा ही महत्त्व रखता है।

अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण 'रामचरितमानस' की हस्तलिखित प्रतियाँ और उनके आधार पर सम्पादित संस्करण उत्तरी भारत में इतने अधिक हैं कि उन सबका लेखा लगाना किसी एक व्यक्ति के वश की बात नहीं है। इनमें जो पठान्तर मिलते हैं वे भी कम नहीं हैं; अतः 'मानस' प्रेमियों के मस्तिष्क में उसके मूल पाठ तक पहुँचने की समस्या सदैव ही गूँजती रही है। सं० १९९९ में स्व० प० शम्भूनारायण चौबे ने 'मानस-पाठभेद' शीर्षक एक लेख में बड़े ही परिश्रम से 'मानस' की कई प्रतियों के पाठान्तर दिए, किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, 'मानस' की पाठसमस्या का सबसे अधिक वैज्ञानिक और सन्तोषजनक सुलझाव डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा प्रस्तुत हुआ है।

'मानस' के पाठनिर्धारण में गुप्त जी ने छोटी-बड़ी लगभग बीस प्रतियों का उपयोग किया है। पुष्पिकाओं की परीक्षा के अनन्तर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि लिपिकाल की दृष्टि से उनमें केवल चार प्रतियाँ वास्तव में प्राचीन कही जा सकती हैं, शेष सभी प्रकट या अप्रकट रूप से प्रायः आधुनिक हैं। इन चार प्रतियों में एक सं० १६६१ में लिखी गई थी और इस समय श्रावणकुञ्ज अयोध्या में है। दूसरी सं०१७०४ में लिखी गई थी जो काशिराज के पुस्तकालय में है, तीसरी और चौथी क्रमशः सं० १७२१, सं० १७६२ में लिखी गई थीं, और इस समय भारत-कलाभवन, काशी, में हैं। इन प्रतियों के अतिरिक्त निम्नलिखित मुख्य-मुख्य प्रतियाँ और हैं, जिनका उपयोग गुप्त जी ने अपने अध्ययन में किया है—एक छक्कनलाल की प्रति कही गई है, जो स्वर्गीय महामहोपाध्याय सुधाकार द्विवेदी के वंशजों के पास है; दूसरी मिर्जापुर की प्रति, तीसरी कोदवराम की प्रति जो 'बीजक' के नाम से गोस्वामी जी की एक शिष्य-परम्परा में बहुत दिनों तक सुरक्षित रही, और जिसे कोदवराम जी ने पहले-पहल सं० १९५३ में वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित करवाया था, और चौथी राजापुर की प्रति कही गई है जो वहाँ के प० मुन्नीलाल उपाध्याय के वंशजों से उन्हें प्राप्त हुई थी। इनके अतिरिक्त कई प्रतियाँ भी उन्हें मिली थी, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं है। संवत् १६६१ वाली प्रति की पुष्पिका में सं० १६६१ की तिथि दी हुई है, जिसे डॉ० गुप्त ने गणना तथा निरीक्षण के आधार पर जाली ठहराया है। डॉ० गुप्त ने कई प्रतियों की पुष्पिकाओं का निरीक्षण करके यह दिखाया है कि प्रतियों का महत्त्व बढ़ाने के अभिप्राय से

लिपिकाल बदल कर उन्हें तुलसी के जीवन-काल तक खींच ले जाने का इस प्रकार प्रयत्न बहुत हुआ है।

डॉ० गुप्त ने पाठान्तरों का अध्ययन कर उक्त प्रतियों को चार मुख्य शाखाओं में विभाजित किया है और उनकी विशेषताओं के आधार पर प्रत्येक की ठीक स्थिति का पता लगाकर उनकी प्रतिलिपि-शृङ्खला और वंश-परम्परा निर्धारित की है। इस प्रकार के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर उन्होंने कुछ ऐसे सिद्धान्त स्थिर किए हैं, जिनके अनुसार निर्मित पाठ को हम निरपवाद रूप में तुलसीदास द्वारा प्रदत्त मूल पाठ अथवा उसका निकटतम पाठ मान सकते हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी के 'पदमावत' में भी कुछ ऐसी असाधारण विशेषताएँ हैं, जिनसे उसने लोकरुचि को विशेष रूप में आकर्षित किया है। इस ग्रन्थ के भी अनेक संस्करण हिन्दी और उर्दू में निकल चुके हैं, जिनमें अब तक ग्रियर्सन तथा प० रामचन्द्र शुक्ल के संस्करण ही विशेष प्रामाणिक माने जाते रहे हैं। किन्तु उनके सम्पादन में कुछ ऐसी सैद्धान्तिक भूलें थीं जिनके कारण पाठ-सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों का निराकरण नहीं हो सका था। इनमें मूल में सम्मिलित अनेक अंश ऐसे हैं जो वास्तव में प्रक्षिप्त हैं और जायसी की कलम से कभी नहीं लिखे गए। शुक्ल जी के संस्करण में ऐसे तैंतालीस छन्द हैं जो वास्तव में प्रक्षिप्त हैं। इनमें से एक वह भी है जो ग्रन्थ के अन्त में सारी कहानी का गूढ़ार्थ प्रस्तुत करता है, और जिसमें चित्तौर को तन, राजा को मन, सिंहल को हृदय, पद्मिनी को बुद्धि आदि, बताया गया है। इस छन्द को लेकर अब तक आलोचकों में बड़ा वितण्डावाद चलता रहा है। पुस्तकों के अध्याय के अध्याय केवल इसी के लिये लिखे गए हैं। किन्तु डॉ० गुप्त ने 'पदमावत' की पाठ-सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों के साथ ही साथ इस भ्रान्ति का भी निराकरण कर दिया है। उनके अनुसार यह छन्द जिन दो एक प्रतियों में मिलता हैं, पाठ कीदृष्टि से उनकी स्थिति निम्नतम कोटि की है, और अन्य दृष्टियों से भी यह छन्द निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं।

'पदमावत' के पाठ-संशोधन में अनेक उलझनों का सामना करना पड़ता है। उसकी अधिकतर प्रतियाँ फारसी लिपि में मिलती हैं, जिनमें लिपि दोष के कारण अनेक भ्रान्तियाँ समय-समय पर घुसती गई हैं। उर्दू में 'किलकिला' का 'गिलगिला' 'गिरहि' का 'करहि' 'फेरि' का 'बहुरि' 'जाइ' का 'बाइ' 'रही' का अही' बड़ी आसानी से हो सकता है,फलतः पदमावत में इस प्रकार की सहस्रों विकृतियाँ मिलती हैं। दूसरी कठिनाई यह है कि प्रतियों में संशोधन अत्यधिक हुए हैं : कहीं मिटाकर कहीं कलम फेर कर और कहीं हाशिए पर लिख कर। अधिकतर प्रतियाँ संशोधनों से भरी पड़ी हैं। इससे मालूम होता है कि 'पदमावत' के प्रतिलिपिकारों के सामने प्रायः उसके एक से अधिक आदर्श रहते थे। इन कठिनाइयों के रहते हुए भी डॉ० गुप्त ने उसके प्रामाणिक सम्पादन में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। वे मूलतम प्रति के कितने अधिक निकट पहुँच सके हैं, इसका पता केवल एक ही बात से भली-

भाँति लग जाता है। 'पदमावत' की प्राप्त प्रतियों में केवल तीन को छोड़कर सभी फ़ारसी या अरबी लिपि में हैं। इन तीन प्रतियों से भी, जो नागरीलिपि में है, लगभग डेढ़ सौ उदाहरण देकर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि इनके भी आदर्श फ़ारसी या अरबी लिपि में थे। किन्तु अरबी या फ़ारसी की सभी प्रतियों में ऐसे अनेक सङ्केत विद्यमान हैं जिनके आधार पर उन्होंने सिद्ध किया है कि 'पदमावत' की जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं—चाहे वे नागरी की हों या फ़ारसी-अरबी लिपि की—सब का मूल आदर्श अर्थात् कवि की प्रति नागरी लिपि में थी। यह एक ऐसा सत्य है जो इतः पूर्व 'पदमावत' के सम्पादकों में से किसी को नहीं ज्ञात था। यह निर्णय उन्होंने एक-दो के आधार पर नहीं, लगभग सत्तर प्रमाणों के आधार पर किया है, जिनमें से केवल दो नीचे दिए जाते हैं। 'पदमावत' की एक पंक्ति का निर्धारित पाठ है :—

जनु भुइँचाल जगत महँ परा। कुरुँम पीठ टुटिय हियँ डरा।

उसकी समस्त प्रतियों में 'कुरुँम' के स्थान पर 'कुरुँभ' है। ऐसी विकृति केवल नागरी मूल रहने से ही हो सकती है, क्योंकि उर्दू-फारसी के 'म' और 'भ' में बड़ा अन्तर होता है, और इसके विपरीत नागरी में उनमें परस्पर अत्यधिक साम्य होता है। 'पदमावत' की एक अन्य पंक्ति का निर्धारिन पाठ है :—

रातिहुँ देवस इहै मन मोरे। लालौं कंत 'छार' जेउं तोरें।

'छार' के स्थान पर समस्त प्रतियों में पाठ 'थार' या 'ठार' है, जो निरर्थक है। पहले देवनागरी में 'छार' ही रहा होगा, फिर 'छ' का 'थ' (जो रूपसाम्य के कारण बहुत ही सम्भव है) और फिर उर्दू 'थ' का 'ठ' हुआ होगा।

'पदमावल' का यह सम्पादन गुप्त जी ने सत्रह प्रतियों के आधार पर किया है, जिनमें से कई विदेशों से प्राप्त की गई है और पाठ की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

पाठालोचक के बहुत से काम हैं–पाठालोचक किसी कृति का रचनाकाल स्थिर करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य का उपयोग करता है। अन्तर्साक्ष्य में समकालीन घटनाओं का सङ्केत रहता है और उस तिथि को नियत करता है जिसके पीछे ही कृति की रचना हुई होगी। उदाहरण के लिये 'मैक्बैथ' को लीजिये। उसमें जेम्स प्रथम के राज्याभिषेक सम्बन्धी बहुत से सङ्केत हैं। यह राज्याभिषेक १६०३ ई० में हुआ था। स्पष्ट है कि नाटक १६०३ ई० के पश्चात् ही लिखा गया होगा। बहिर्साक्ष्य में उन पुस्तकों की ओर सङ्केत होता है जिनमें कृति का उल्लेख होता है और जिनका रचनाकाल हम जानते हैं। यह साक्ष्य ऐसी तिथि स्थिर करती है जिससे पहले कृति किसी न किसी रूप में अवश्य वर्तमान थी। उदाहरण के लिये फिर 'मैक्बेथ' को लीजये। डॉक्टर साईमन फ़ोरमैन

ने अपनी दिनचर्या में लिखा है कि उन्होंने इस नाटक को ग्लोब थियेटर में १६११ ईस्वी की २० अप्रैल को रङ्गमञ्च पर देखा। इस सङ्केत से हम कह सकते हैं कि नाटक १६१० ई० से पहले वर्तमान था। 'द प्योरीटन' जिसका रचनाकाल १६०७ ई० है बैंकों के भूत का उल्लेख करता है। यह सङ्केत 'मैक्वेथ' के रचनाकाल को और नीचे खसका देता है। दो और साक्ष्य हैं : पहला, विचारों की पक्वता का; और दूसरा, शैली की प्रौढ़ता का। ये दोनों साक्ष्य पहले दोनों साक्ष्यों की परिपुष्ट करते हैं। उदाहरण के लिये शेक्सपिअर को लीजिये। शेक्सपिअर के पूर्ववर्ती नाटककारों के पद लग गणों के बने होते थे। गैस्कोइन ने इसका बड़ा विरोध किया था, फिर भी इसी गण का प्रयोग चलता गया। शेक्सपिअर ने भी इसी प्रथा का अनुगमन शुरू में किया। पर जैसे-जैसे उसकी पदयोजना सम्बन्धी प्रतिभा का विकास हुआ वह लग की जगह गल, गग, लल, सगण, और भगण गणों का प्रयोग करने लगा। एक ही गण का निरन्तर प्रयोग पद्य में अरुचि पैदा करता है। शेक्सपिअर ने इस लग को जहाँ-तहाँ बदलकर अपने पद्य को धीरे-धीरे रुचिकर बनाया। पहले-पहले शेक्सपिअर अर्थघटित पद लिखता था। धीरे-धीरे वह प्रवाहक पद लिखने लगा। अपनी पिछली कृतियों में तो प्रवाह बढ़ाने के लिये वह पद के अन्त में सहायक क्रिया, सर्वनाम, और सम्बन्धसूचक शब्दों का भी प्रयोग करने लगा। शेक्सपिअर के प्रारम्भिक नाटकों में ऐसा भी देखा गया है कि या तो पात्र विस्तारपूर्वक कथन करते हैं या वे जल्दी-जल्दी बोलते हैं और प्रत्येक पात्र का कथन एक पूरे पद का होता है। यह व्यवहार शीघ्र छूट गया और पर्याप्त विस्तार के कथन व्यवहृत होने लगे। एक और रोचक परिवर्तन उसकी पदयोजना में आया। वह था पद का ही जहाँ-तहाँ बदल देना। पञ्चगणात्मक पद की जगह षड्गणात्मक पद का प्रयोग बढ़ता गया और कहीं-कहीं तो एक पद दो पात्रों में बँटने लगा। यदि पहला पात्र अपने कथन का अन्तिम भाग द्विगणात्मक पद में समाप्त करता है तो आगामी पात्र अपना कथन त्रिगणात्मक पद से आरम्भ करता है। शेक्सपिअर की पदयोजना का यह विकास उसकी कृतियों के क्रमिक-प्रवाह को निर्धारित करने में बड़ा सहायक साबित हुआ है। शेक्सपिअर की निर्मातृ-प्रतिभा का विकास भी इस सम्बन्ध में उतना ही सहायक सिद्ध हुआ है। मिडिल्टन मरे ने अपनी 'शेक्सपिअर' नामक पुस्तक में यह सिद्ध किया है कि कवि के विचारों और अन्तर्वेगों में पहले विभाजन था। इसके अनन्तर विचारों और अन्तर्वेगों का एकीकरण कल्पना की अनात्मचेतन स्वयं-प्रवृत से हुआ। उदाहरणार्थ, 'हैनरी' द सिक्स्थ,' 'रिचार्ड द थर्ड' और 'द टू जैण्टिलमैन ऑफ़ वैरोना' असहज रूपकों और वाग्मितापूर्ण कथनों से भरे पड़े हैं; स्वजन्य जीवों और घटनाओं से अपनी अन्तरात्मा का सायुज्य करने में कवि असमर्थ था, वह उनका साक्षी सा बना रहता था, उनमें विलीन नहीं हो पाता था। पीटर एलेक्ज़ेण्डर शेक्सपिअर के इस रचनाकाल को रोमन शैली से प्रभावित मानता है। इस काल में कवि ने नाटकीय घटनाएँ रोमन अथवा ब्रिटेन के अर्द्धपौराणिक इतिहास से ली, और अपने पात्रों की रचना इन्ही घटनाओं के आधार पर की। जैसे-जैसे उसकी प्रतिभा का विकास हुआ वैसे-वैसे असहजरूपक सहज होते

गये और वाग्मितापूर्ण कथन स्वाभाविक होते गये। धीरे-धीरे काव्य और नाटक का ऐसा सामञ्जस्य हुआ कि सजीव पात्रों और विश्वास्य घटनाओं की सृष्टि हुई और समस्त कृत्रिमता लुप्त हो गई। इसी तरह नाटकीय द्वन्द्व-निरूपण धीरे-धीरे आध्यात्मिक गहराई पाता गया। नाटक में परिस्थिति और पात्र में द्वन्द्व होता है। जब पात्र परिस्थिति पर विजय पा लेता है तो हास्य (कॉमेडी) की सृष्टि होती है और जब परिस्थिति पात्र को परास्त कर देती है तो करुण (ट्रैजेडी) की सृष्टि होती है। यह द्वन्द्व शेक्सपिअर के 'हास्य' में पहले तो कायिक स्तर पर है, फिर शनैः–शनैः नैतिक और आध्यात्मिक स्तर पर आ जाता है। शेक्सपिअर के पिछले हास्यों में नायिका द्वन्द्व को आशा, श्रद्धा, और प्रेम से अपने सुख में परिणत कर लेती है। ऐतिहासिक नाटकों में शेक्सपिअर पहले मानव-सङ्घर्ष का प्रदर्शन करता था। धीरे-धीरे उसे ऐतिहासिक घटनाओं में संवेगों में सम्भवनीयता का आभास हुआ और मानवीय समस्याओं में सार्वभौमिक समस्याएँ और सांसारिक योजनाओं में विश्व-योजनाएँ प्रतिबिम्बित देखने लगा। इसी तरह करुण द्वन्द में परिस्थिति के अपार बल से परास्त नायक को व्यथित देखकर धीरे-धीरे उसकी अन्तरात्मा ऐसी प्रभावित हुई कि वह जीवन और भाग्य के गूढ़तम रहस्यों तक पहुँच गया।

भारत में अन्तरंग परीक्षा तो प्रायः ग्रन्थ के मर्म, रहस्य, मथितार्थ, और प्रमेय ढूंढ़ निकालने तक सीमित रही है। ग्रन्थ का काल-निर्णय बहिरंग परीक्षा से किया जाता है। इस उद्देश्य से यह देखा जा है कि ग्रन्थ की भाषा की ऐतिहासिक दशा कैसी है। उसमें किन-किन मतों, घटनाओं, और व्यक्तियों का उल्लेख है। उसमें व्यक्त विचार स्वतन्त्र हैं, अथवा बाहर से लिये गये हैं; और यदि बाहर से लिये गये हैं तो कहाँ से। उसमें लेखक की शैली प्रौढ़ है अथवा अप्रौढ़। इस प्रकार 'भगवद्‌गीता' के आर्ष प्रयोगों पर ध्यान जाने से कुछ आधुनिक पण्डितों का अनुमान है कि 'गीता' की रचना ईसा से कइ सौ वर्ष पहले हुई होगी। क्योंकि 'गीता' में नास्तिक मत का उल्लेख है, कुछ पण्डित समझते हैं कि 'गीता' बौद्ध धर्म के पीछे लिखी गई होगी। युद्ध क्षेत्र में सारी 'गीता' सुनाना असम्भव सी बात है; श्रीकृष्ण ने थोड़े से श्लोकों का भावार्थ अर्जुन से कह दिया होगा, और वे ही श्लोक पीछे से विस्तार पा गये होंगे। 'गीता' में 'ब्रह्मसूत्र' का भी उल्लेख है; इसलिये 'गीता' 'ब्रह्मसूत्र' के बाद बनी होगी। परन्तु क्योंकि 'ब्रह्मसूत्र' में कई जगह 'गीता' का आधार लिया गया है 'गीता' ब्रह्मसूत्र' के पहिले ही का ग्रन्थ होगा पीछे का नहीं। ऐसे विचार 'गीता' का रचना-काल स्थिर करने में सहायक होते हैं।

तुलसीदास की रचनाओं का क़ाल-क्रम विद्वानों ने अपने-अपने विचारों के अनुसार भिन्न-भिन्न दिया है। तुलसीदास की रचनाओं में आठ तो प्रबन्ध-ग्रन्थ हैं और पाँच संग्रह-ग्रन्थ हैं। इनमें से चार प्रबन्ध-ग्रन्थों का कालस्वयं तुलसीदास ने दे दिया है। 'रामाज्ञा प्रश्न' में सं० १६२१, 'रामचरितमानस' में सं० १६३१, 'सतसई', में सं० १६४१ और 'पार्वतीमङ्गल' में सं० १६४३ दिए हुए हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने डी० लिट्० के निबन्ध 'तुलसीदास' में छन्दयोजना, वक्ता-श्रोता-परम्परा तथा कथावस्तु के मूलभूत आधारों की दृष्टि से 'रामचरितमानस', का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि ग्रन्थ का जो

स्वरूप अब हमारे सामने है वह कम से कम तीन विभिन्न प्रयासों का परिणाम है। ग्रन्थ भर में कुछ अंश ऐसे हैं जो कथा-क्रम में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और अन्य अंशों से इतने भिन्न जान पड़ते हैं कि उनमें विभाजक रेखाएँ सरलता से खींची जा सकती हैं। डॉ० गुप्त का विचार है कि प्रथम प्रयास में बालकाण्ड का उत्तरार्द्ध और अयोध्याकाण्ड सम्पूर्ण लिखा गया था। द्वितीय प्रयास में पहले बालकाण्ड की प्रथम पैंतीस चौपाइयों को छोड़कर लगभग शेष सभी चौपाइयों की रचना हुई, फिर अरण्यकाण्ड और किष्किधाकाण्ड की रचना होकर क्रमशः सुन्दरकाण्ड, लङ्काकाण्ड, और उत्तरकाण्ड के अधिकांश लिखे गए होंगे। तीसरे और अन्तिम प्रयास में बालकाण्ड की पहली पैंतीस चौपाइयाँ जोड़ कर सारे ग्रन्थ को अन्तिम रूप देने के लिये पहले के आधार में कुछ घटा-बढ़ी की गई होगी।

शेष ऐसे ग्रन्थों का जिनमें कवि ने किस तिथि का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है रचनाकाल निर्धारित करने के लिए उन्होंने अपने उपयुक्त निबन्ध-ग्रन्थ में विभिन्न युक्तियों का आश्रय लिया है। कुछ रचनाओं के निर्माण-काल का अनुमान उन्होंने ज्योतिष-सम्बन्धी उल्लेखों अथवा तत्कालीन ऐतिहासिक वृत्तों के विवरणों से लगाया है। उदाहरण के लिए 'दोहावली' में रुद्रबीसी का उल्लेख है, जो गणना से सं० १६५६ से सं० १६७६ तक के बीच पड़ती है। 'कवितावली' में इसी प्रकार रुद्रबीसी के अतिरिक्त मीन के शनि का उल्लेख है, जो ज्योतिष के अनुसार सं० १६६९ अथा सं० १६७१ के बीच में घटित होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न रचनाओं की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियों में दी हुई तिथियों, विषय-निर्वाह और शैली के अध्ययन के सहारे तथा अन्य अनेक दृष्टियों से प्रत्येक रचना का विश्लेषण करके उन्होंने कालक्रम तथा अवस्थाक्रम के अनुसार कवि की रचनाओं को निम्नलिखत चार समूहों में विभाजित किया है। (जैसा हम ऊपर देख चुके हैं 'रामाज्ञाप्रश्न', 'रामचरितमानस' 'सतसई' तथा 'पार्वतीमङ्गल' के अतिरिक्त सभी ग्रन्थों की तिथियाँ इस प्रकार केवल अनुमानसिद्ध हैं) :—

अ. प्रारम्भिक (सं० १६११–२५)

(१) रामलला नहछू	सं० १६११	अवस्था	लगभग	२२ वर्ष
(२) वैराग्यसन्दीपनी	सं० १६१४	,,	,,	२५ ,,
(३) रामाज्ञाप्रश्न	सं० १६२१	,,	,,	३२ ,,

आ. मध्यकालीन (सं० १६२६–४५)

(१) जानकीमङ्गल	सं० १६२७	,,	,,	३८ ,,
(२) रामचरितमानस	सं० १६३१	,,	,,	४२ ,,
(३) सतसई	सं० १६४१	,,	,,	५२ ,,
(४) पार्वतीमङ्गल	सं० १६४३	,,	,,	५४ ,,

इ. उत्तरकालीन (सं० १६४६–६०)

(१) गीतावली	सं० १६५३	,,	,,	६४ ,,

(२) विनयपत्रिका सं० १६५३ अवस्था लगभग ६४ वर्ष

(३) कृष्णगीतावली सं० १६५८ „ „ ६६ „

ई. अन्तिम और अपूर्ण (सं० १६६१–८०)

(१) बरवा

(२) दोहावली

(३) कवितावली (हनुमान बाहुक सहित)

पाठालोचक किसी कृति के आधारों का पता लगाता है। यह बड़ा मनोरञ्जक विषय है कि शेक्सपिअर के 'टेमिंग ऑफ़ द श्रो' का 'द टेमिंग ऑफ़ ए श्रो' से क्या सम्बन्ध है। क्या पिछला नाटक पहिले नाटक के आधार पर लिखित है अथवा वह एक पुराना नाटक है जिसे शेक्सपिअर ने अपने हास्य के लिये आधार रूप में ग्रहण किया। यह अध्ययन बड़ा मनोरञ्जक है कि 'मैक्बेथ' में शेक्सपिअर कहाँ तक मौलिक है, कहाँ तक वह केवल इतिहास का प्रयोग करता है, और कहाँ तक वह पौराणिक इतिहास, हालि-शेड, और स्कॉटलैण्ड के मौलिक इतिहासकारों का ऋणी है। यह भी बड़ा रोचक होगा कि शेक्सपिअर के 'हैम्लेट' का सैक्सो, बैलफ़ौरेस्ट', किडकृत हैम्लेट और जर्मनी के अपरिष्कृत नाटक 'डर बैस्ट्राफ़्टे ब्रूडरमोड' से सम्बन्ध स्थापित किया जाय और पिछले नाटक के आलोचनात्मक अध्ययन से हैम्लेट के चरित्र की इस असङ्गत बात का स्पष्टीकरण किया जाय कि वह स्वभाव से निराशावादी होता हुआ क्यों पोलोनिअस के मारने में इतनी तत्परता का प्रदर्शन करता है। पाठालोचक यह भी निश्चित करता है कि कृति का लेखक कौन है; और यदि उसके निर्माता बहुत से लेखक हैं तो यह निश्चित करता है कि प्रत्येक लेखक का उस संयुक्त निर्माण में क्या भाग है। हमें हेन्सलो का साक्ष्य प्राप्त है और आधुनिक अनुसन्धान भी इस बात को पुष्ट करता है कि एलीजैबेथ के समय में एक ही नाटक के रचयिता तीन या चार हुआ करते थे। संयुक्त रचना स्वाभाविक सी बात थी। कारण ये थे कि नाटकों की बड़ी माँग थी प्रत्येक नाट्यशाला अपना स्वतन्त्र नाटककोष रखती थी कम्पनियों में बड़ी होड़ रहती थी और दर्शकों की संख्या सीमित थी। यह बात अब सर्वमान्य है कि शेक्सपियर ने अपना जीवन पुराने नाटकों के पुनर्निर्माण से प्रारम्भ किया और समकालीन नाटककारों के सहयोगी के रूप में समाप्त किया। फिर भी बहुत दिनों तक सन्देह के रहते हुए भी 'फर्स्ट फ़ोलियो' शेक्सपियर की प्रामाणिक ग्रन्थावली मानी जाती थी। जे० एम० रौबर्टसन का ही पहला प्रगल्भ कार्य था जब उसने इस प्रामाणिक ग्रन्थावली का विश्लेषण किया और क्षेपकों का निर्देश किया। शेक्सपिअर के पाठ में बहुत ऐसे अंश हैं कि जिनको देखकर आलोचक लोग कह देते थे कि इसमें या तो शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों का अनुकरण किया है या वे कवि की अपरिपक्व प्रतिभा के कारण निम्न श्रेणी के प्रतीत होते हैं। परन्तु रौबर्टसन ने अपनी बौद्धिक सूक्ष्मता से यह दिखाया कि इन अंशों पर दूसरे लेखकों की लेखन-शैली की पूरी छाप है। और यदि हम शेक्सपिअर का विश्लेषण न करें तो हम

उसे अपमानित करने के अपराधी होंगे। रौबर्टसन एक सूक्ष्मदर्शी पाठालोचक है। एक शैली को दूसरी शैली से पहचान लेने में बड़ा दक्ष है। शेक्सपिअर की कृतियों का और उसके समकालीन तथा पूर्ववर्ती लेखकों का उसे बड़ा सही और विस्तृत ज्ञान है। तनिक से सादृश्य के सङ्केत पर ही अन्य नाटककारों के समरूप उदाहरणों का उसे स्मरण हो जाता है। बस, पद्यात्मक आसामान्यता, वाक्सरणि, और विचार-सम्बन्धी विशेषताओं के आधार पर रौबर्टसन यह निर्णय करता है कि 'टाइटस एण्ड्रोनीकस' पील, ग्रीन, किड और मार्लो का मिश्रित काम है। शेक्सपिअर तो केवल पुनर्निरीक्षण का उत्तरदायी है। 'टाइमन' में जो भाग शेक्सपिअर लिखित नहीं मालूम होता है वह चैपमैन लिखित है। उसका निर्णय रौबर्टसन यों करता है कि 'टाइमन' में संसार पर दोषारोपण करने वाली अन्योक्तियाँ, कृत्रिम रूपक और वाक्यरचना-सम्बन्धी पद-शून्यताओं की भरमार है और ये सब ऐब चैपमैन के हैं। 'ट्रौयलस और क्रेसिडा, में भी जहाँ यूलीसिस के लम्बे-लम्बे कथन आते हैं वहाँ चैपमैन का ही हाथ मालूम होता है क्योंकि चैपमैन अपने नाटकों में कार्यगति को भूलकर प्रबन्ध-व्याख्याओं में विलीन हो जाता है। शेक्सपिअर के चौदह हास्यों में रौबर्टसन 'ए मिड समर नाइटस ड्रीम' को ही उसका पूरा लिखा हुआ मानता है यद्यपि डोवर विल्सन इनमें भी तीन भिन्न व्यक्तियों की रचनाओं का समन्वय समझता है। पुरानी कृतियों में मिश्रित रचना तो है ही, इसके अतिरिक्त उनमें अनधिकृत क्षेपक भी हैं। शेक्सपिअर स्वयं इस बात का सङ्केत करता है जब हैम्लेट फर्स्ट प्लेअर को 'मरडर ऑफ गॉनजेगो' में अपने हाथ की लिखी हुई बारह या सोलह पंक्तियाँ मिला देने का आदेश देता है। इसी तरह 'डॉक्टर फॉस्टस' में वर्ड और रोली के क्षेपकों का समावेश है, और 'मैक्बैथ' में कनिंघम के मतानुसार, मिडिल्टन और शायद रोली या जार्ज विल्किन्स के क्षेपक हैं। स्वजनित रचना को क्षेपकों से अलग करना भी पाठालोचक का ही काम है।

आलोचनात्मक वार्तालाप में एक ख्यातिप्राप्त आलोचक ने लेखक से कहा कि यदि हिन्दी से संस्कृत का इतिवृत निकाल दिया जाय तो हिन्दी का प्रवन्ध-काव्य करीब-करीब अस्तित्वहीन हो जाय। यद्यपि इस कथन में अत्युक्ति है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीनकाल से अब तक हिन्दी संस्कृत की ऋणी रही है। इतिवृत्ति बाहर से लेने की प्रथा संस्कृत से ही चली आ रही है। कालीदास-कृत 'शकुन्तला' और हर्ष-कृत 'नैषध' को कथावस्तु 'महाभारत' से आई है, हिन्दी में 'भ्रमरगीत' 'सूर-सागर' और 'रास-पञ्चाध्यायी' का वस्तु-निर्वाचन 'भागवत' से हुआ है, 'रत्नाकर' कृत 'गङ्गावतरण' और 'हरिश्चन्द्र' वाल्मीकीय 'रामायण' पर आधारित है और मैथिलीशरण कृत 'जयद्रथ-वध' 'महाभारत' पर अवलम्बित है। तुलसीदास स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनकी 'रामचरितमानस' पुराने ज्ञान का निष्कर्ष है। उन्होंने वाल्मीकीय 'रामायण' 'अध्यात्म-रामायण' 'श्रीमद्भागवत' 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' का विशेष सहारा लिया। इनके अतिरिक्त अनेक संस्कृत ग्रन्थों के स्फुट श्लोकों के छायानुवाद भी उनकी रचना में मिलते हैं। 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता के कारण इसके संस्करण बहुतायत से हुए, और सम्पादकगण अपनी रुचि के अनुसार ग्रन्थ में क्षेपक लेते गये। इन क्षेपकों का आलोचनात्मक अध्ययन बड़ा रोचक है। अयोध्याकाण्ड के तापस-

विषयक क्षेपक को सुलझाना बड़ी कठिन सामस्या का सामना करना है। यह क्षेपक शैली में तुलसीदास का सा मालूम होता है और समस्त प्रामाणिक प्रतियों में मिलता भी है। परन्तु इससे कथा-प्रवाह में रुकावट पड़ती है, और एक रचना-कौशल-सम्बन्धी नियम को भी यह भङ्ग करता है। अयोध्याकाण्ड में आमतौर से छन्द पच्चीसवें दोहे के बाद आता है, और इस स्थल पर छन्द छब्बीसवें दोहे के बाद है। अतः अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि यह प्रसङ्ग स्वतः कवि द्वारा ग्रन्थ की समाप्ति के अनन्तर मिलाया गया था।

पाठालोचक का मुख्य काम पाठ का ऐसा संशोधन करना है कि फिर से मूलपाठ स्थापित हो जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आलोचक हस्तलिखितप्रतियों के साक्ष्य का सहारा लेता है। इस साक्ष्य को आलोचक पाठक के सामने इस तरह उपस्थित करता है कि वह उन प्रमाणों को जिन पर पाठ आधारित है भलीभाँति समझ जाय और सम्पादक की निर्णयात्मक पटुता का उसे पूरा भरोसा हो जाय।

उन्नीसवीं शताब्दी तक सम्पादक सबसे अच्छी हस्तलिखित प्रति की खोज में रहता था। जब उसे ऐसी प्रति मिल जाती थी, तो उसके आधार पर वह पाठ का मनमाना संशोधन कर डालता था। इस प्रक्रिया में सबसे अच्छी प्रति की शुद्धियों अथवा अशुद्धियों की कोई परीक्षा नहीं की जाती थी; और यद्यपि बहुत से टोल सीधे पड़ जाते थे, बहुत से बेतुके भी जाते थे। सन् १८४२ ई० में कार्ल लैकमैन ने 'न्यू टैस्टामेण्ट' के संस्करण में पाठपरीक्षा की सुनिश्चित पद्धति प्रतिपादित की। इस पद्धति के अनुसार पहले पाठ की प्रतियों का पुनर्निरीक्षण किया जाता है, फिर पाठ की शुद्धि की जाती है।

पहले सम्पादक जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ पा सकता है इकट्ठा करता है। उनकी तिथियों का अन्वेषण करता है। प्रतियों के पाठ की कड़ी जाँच करता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म मिटे हुए शब्दों, शून्य स्थानों, खरोंचे या दुबारा लिखे हुए अक्षरों को ध्यान से देखता है।

इस प्रकार पाठान्तरों की परीक्षा करता हुआ प्रतियों का सन्तुलन करता है। हस्तलिखित प्रतियाँ सन्तुलन के पश्चात् कुछ एक कक्षा में, कुछ दूसरी कक्षा में, कुछ तीसरी कक्षा में, और अन्य प्रतियाँ अन्य कक्षाओं में बँट जाती हैं। हर एक कक्षा की सन्तुलित प्रति हस्तलिखित असली प्रति की नक़ल मानी जाती है। इन सन्तुलित प्रतियों का फिर वर्गीकरण होता है; और ऐसे वर्गीकरणों द्वारा मूल प्रति से उत्पन्न कल्पित वंशों का अनुमान लगाते हुए, सम्पादक कवि की प्रति के पाठ तक पहुँचने का प्रयास करता है।

'कैण्टर्बेरी टेल्स' की मूल प्रति इसी प्रकार निर्णीत हुई। यह पुस्तक सत्तर से अधिक हस्तलिखित प्रतियों में वर्तमान है, जिनमें से बहुत सी अपूर्ण हैं। इन सत्तर में से केवल सात प्रतियाँ मुद्रित हुई हैं, और इन सातों में से भी तीन प्रतियाँ बेकार सी हैं। चार अच्छी प्रतियाँ एल्समेअर, कैम्ब्रिज, हैङ्गवर्ट, और हार्लियन प्रतियाँ हैं। इन चारों में से कैम्ब्रिज, हैङ्गवर्ट, और हार्लियन प्रतियाँ भी बहुत सन्तोषजनक नहीं हैं, परन्तु उनमें जहाँ-तहाँ पाठ श्रेष्ठतम हैं, जिनकी सहायता से चौथी प्रति, एल्समेअर

प्रति, का पाठ ठीक किया गया है। एल्समेश्रर प्रति ही सर्वोत्तम प्रति है। इस प्रति में शब्दों की वर्णरचना शुद्ध है, यही प्रति अत्यन्त होशियारी से सम्पादित है; और इन दोनों गुणों के कारण यही प्रति आजकल के सब संस्करणों के पाठ का आधार है। पुर्नानिरीक्षण से प्राप्त मूलप्रतियों के 'कैण्टर्बेरी टेल्स' से भी अधिक सुन्दर उदाहरण लैकमैन सम्पादित 'न्यू टैस्टामेण्ट' रोबिन्सन सम्पादित टैसीटस की 'जरमैनिका' और पैरी सम्पादित 'फेबिल्स' हैं।

मूल प्रति को पाकर उसका असली रूप निश्चित करने के उद्देश्य से सम्पादक फिर उसकी परीक्षा करता है। वह प्रमाण से बताता है कि मूल प्रति के वंशज किस प्रकार विकृत हो गये, कहाँ पाठ परिवर्द्धित है और कहाँ पाठ संक्षिप्त है; मूल प्रति स्वयम् कैसे अक्षरों में लिखी हुई थी, अक्षर छोटे थे या बड़े; मूल प्रति का विषय अर्थानुसार विभाजित हुआ था या सारा विषय अखण्ड लिखा हुआ था; क्या मूल प्रति के हाशियों पर अथवा पंक्तियों के बीच में पाठार्थ पर टीका-टिप्पणियाँ तो नहीं लिखी हुई थीं? इस जाँच के बाद सम्पादक यह देखता है कि पाठ कहाँ मौलिक और कहाँ अमौलिक है।

मौलिक पाठ के निर्णय में 'कठिनतर पाठ' का सिद्धान्त बड़ा सहायक होता है। नक़ल करने वाला सादृश्य के आधार पर कठिन शब्द को आसान शब्द में बदल देता है। ऐसे मौके पर सम्पादक को बिना खटके कठिनतर पाठ ग्रहण करना साधारणत: उपयुक्त माना गया है। उदाहरण के तौर पर 'बुक ऑफ कॉमन प्रेअर्स' के प्रचलित 'पाठ "टिल डेथ अस डू पार्ट" को लीजिये। यहाँ डू पार्ट का पाठ नक़ल करने वाले ने विकृत कर दिया है। असली पाठ डिपार्ट है। नक़ल करने वाला डिपार्ट के प्राचीन अर्थ को नहीं समझता था। पहले पार्ट के अर्थ में डिपार्ट का प्रयोग होता था।

कुछ अन्य उदाहरण डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'जायसीग्रन्थावली' से लीजिए। 'पदमावत' के पैंतालीसवें दोहे की एक पंक्ति है—

गिरि पहार पब्बै गहि पेलहिं। विरिख उपारि झारि मुख मेलहिं।

'पब्बै' प्राकृत का शब्द है, जिसका अर्थ 'पर्वत' होता हैं। शब्द के इस प्राचीन रूप से अपरिचित होने के कारण लिपिकारों ने, यहाँ तक कि सम्पादकों ने भी, इसका पाठ विकृत कर दिया है। कुछ प्रतियों में 'पब्बै' के स्थान पर 'परबत' कुछ में 'परवै' और किसी-किसी में बिलकुल ही न समझने के कारण 'हस्ती' पाठ मिलते हैं। इसी प्रकार उसके अठत्तरवें दोहे की एक पंक्ति का निर्धारित पाठ है—

कहेसि पंखि खाधुक मानवा। निठुर ते कहिअ जे पर मँसुखवा।

इसमें मानवा' (,मानव) और'मँसुखवा'(माँस खाने वाले) के ठीक अर्थों से अपरिचित होने के कारण लोगों ने इन शब्दों की बड़ी कपालक्रिया की है। कुछ प्रतियों में इनके पाठ

क्रमशः 'खाधुक मन लावा' 'मँसुखावा', कुछ में 'खाधुए मावा', 'खावा' कुछ में 'का दुक्ख जनावा', 'खावा', और कुछ अन्य में 'खाधुक मनावा', 'खावा' मिलते हैं; दो-एक में तो 'खाधुक मन लावा', 'निठुर अहा तो प्रेम सतावा' तक मिलते हैं। पुनः इसी प्रकार उसके एक सौ पचपनवें दोहे की एक पंक्ति में 'महनारंभ' (मन्थनारम्भ) के स्थान पर 'मथन अरंभ', 'महा अरंभ', तहाँ अरंभ', 'महनामंथ', 'महतारंभ' आदि अनेक भ्रमात्मक पाठ मिलते हैं। ऐसी विकृतियों का कारण यही है कि प्रतिलिपिकार अनुरूप सरल शब्द को लिखने की चेष्टा करता है।

इस पुनर्निरीक्षण द्वारा प्राप्त पाठ को भी मूल पाठ नहीं माना जायगा, और अब सम्पादक को यह देखना होगा कि पाठ कहाँ सत्य है और कहाँ असत्य; और जहाँ असत्य है, वहाँ वह उसे ठीक करे। यही संशोधन-क्रिया है।

डब्ल्यू० डब्ल्यू० ग्रेग ने अपने 'प्रिन्सिपिल्स ऑफ एमेण्डेशन' नामक व्याख्यान के शुरू में कहा है कि संशोधन का केवल एक सिद्धान्त है, और वह यह है कि उसका कोई सिद्धान्त नहीं है। संशोधन बहुधा आकस्मिक सूझ है। 'मैक्बेथ' में 'फर्स्ट फोलियो' का यह पाठ है—

आई डेयर डू आल दैट मे बिकम ए मैन
हू डेयर्स नो मोर इज नन।[1]

रो ने दूसरी पंक्ति में नो (no) की जगह डू (do) पढ़ा और एक अक्षर बदलने से शेक्सपिअर के भाव को व्यक्त कर दिया। 'एण्टनी और क्लोपैट्रा' में फोलियो का पाठ यह है।

फार हिज बाउण्टी,
देयर वाज नो विण्टर इन्'ट; ऐन एण्टोनी इट वाज
दैट ग्रयू दि मोर बाई रीपिंग।[2]

थियोबोल्ड ने 'ऐन एण्टोनी इट वाज' (an Anthony it was) की जगह 'ऐन आटम ट्वाज (an autumn t'was) पढ़ा, और एक निरर्थक पाठ को सार्थक बना दिया। इसी प्रकार 'हैमलेट' में 'फोलियो' पाठ था—

फॉर इफ़ दि सन ब्रीड मैगाँट्स इन ए डेड डॉग, बीइंग ए गुड किसिंग
कैरियन,—हैव यू ए डॉटर ?[3]

---

[1] I dare do all that may become a man,
who dares no more is none.

[2] Far his bounty,
There was no winter in't, an Anthony it was
That grew the more by reaping.

[3] For if the sun breed maggots in a dead dog, being a good kissing carrion,—Have you a daughter ?

वार्बर्टन ने गुड (good) की जगह गॉड (God) पढ़ा। इस संशोधन पर जॉनसन ने वार्बर्टन की आलोचन-शक्ति की बड़ी प्रशंसा की। जॉनसन बॉसवेल की आलोचनात्मक प्रेरणा से भी बहुत आश्चर्यचकित हुआ। जॉनसन ने बॉसबेल से सर मैकेञ्जी की कृतियों की पहली पुस्तक में एक जगह गलती पाने के लिए कहा। गद्यांश वह था जहाँ कहा गया है की शैतान जवाब देता है, 'इविन इन एञ्जिन्स' (even in engines) बॉसबेल ने झट से इविन (even) की जगह एवर (ever) और एञ्जिन्स (engines) की जगह एनिग्माज (enigmas) किया। जॉनसन ने विस्मय में कहा, 'महाशय, आप श्रेष्ठ आलोचक हैं। यदि आप किसी पुराने ग्रन्थ में ऐसी पाठ-शुद्धि करते, तो आपके लिये यह एक बड़ी बात होती।'

यद्यपि पाठ-शुद्धि किन्हीं स्पष्ट नियमों का पालन नहीं करती तो भी उसे बिल्कुल बिना अटकल का टोल नहीं कह सकते। कभी-कभी ध्वनि-सादृश्य ही से सम्पादक को सङ्केत मिल जाता है। उदाहरणार्थ, 'मैक्बेथ' के 'फोलियो' पाठ वेवार्ड (wayward) ने थियोबोल्ड को वीयर्ड (weird) का सङ्केत दिया। वीयर्ड (weird) एलीजैबैथ के काल में वेवार्ड (wayward) के समान दो अंशों का माना जाता था, और दोनों शब्दों का उच्चारण एक सा ही था। उन सम्पादकों को जो 'फ़ोलियो' के वेवार्ड (wayward) पाठ का पोषण करते हैं कनिंघम यह उत्तर देता है कि शेक्सपिअर की जादूगरनियाँ वैसी ही थीं जैसी वे हॉलिन्शैड और विण्टून में वर्णित हैं, थ्री वीयर्ड सिस्टर्स (three weird sisters)। इस तरह की दूसरी प्रसिद्ध पाठशुद्धि बुलेन की है, जहाँ एक अक्षर का भी परिवर्तन नहीं करना पड़ा। 'फ़ॉस्टस' के सबसे पहले संस्करण का ऑनकेमियान (oncaimion) पाठ बाद के संस्करणों में ऐक्रोनोमी (oeconomy) प्रकट होता है। इस स्थल पर मनन करने से बुलेन को यह सूझा कि पाठ में कोई अशुद्धि नहीं है। यह वास्तव में अरिस्टॉटल् का वाक्यांश 'ऑन कि मि ऑन' (on ki mi on अर्थात् सत् और असत्) है जिसे उसने अपनी एक कृति के नाम के लिए प्रयोग किया था। यही वाक्यांश अज्ञानवश साथ-साथ लिख गया।

कभी-कभी कवि की पदयोजना सम्पादक को पाठ-शुद्धि में सहायक होती है। 'रिचर्ड द सैकिण्ड' में एक स्थल पर ऐसा पाठ है—

द सेटिंग सन एण्ड म्युजिक ऐट द क्लोज'
ऐज द लास्ट टेस्ट ऑफ स्वीट्स इज स्वीटेस्ट लास्ट,
रिट इन रिमैम्ब्रन्स मोर दैन थिंग्स लांग पास्ट।[1]

---

[1] The setting sun and music at the close,
As the last taste of sweetest last,
Writ in remembrance more than things long past.

रोबर्टसन ने दूसरी पंक्ति में अन्त के अर्द्ध-विराम को हटा कर 'स्वीटेस्ट' (sweetest) के बाद रख दिया और उस पंक्ति का प्रवाह तीसरी पंक्ति में कर दिया, जिससे लास्ट (last) रिट (writ) का क्रियाविशेषण हो गया। इस प्रकार शेक्सपिअर का लय और उसका भाव दोनों ठीक हो जाते हैं। 'फ़ोलियो' के अनुसार लास्ट (last) को स्वीटेस्ट (sweetest) से सम्बन्धित करने में पुनरुक्ति दोष आ जाता है, क्योंकि लास्ट (last) का भाव स्वीटेस्ट (sweetest) में उपस्थित है। कुछ सम्पादक 'फ़ोलियो' पाठ की रक्षा इस अनुमान पर करते हैं कि शेक्सपिअर इस समय पदयोजना में अर्थघटित था और प्रवाहित पंक्तियाँ नहीं लिखता था। यह अनुमान निराधार है।

कभी-कभी प्रसङ्ग से पाठ-शुद्धि की सूचना मिलती है,जैसे कि थियोबोल्ड ने 'मैक्बेथ' में शोल (shoal) के स्थान में स्कूल (school) से पाठ-शुद्धि की है। फिर भी केवल प्रेरणा ही ठीक पाठ शुद्धि के लिए काफ़ी नहीं है। जिस शब्द या जिन शब्दों से पाठ-शुद्धि की जाय वे विकृत पाठ को भलीभाँति स्पष्ट कर दें। जॉनसन के 'सिजानस' का १६१६ के 'फ़ोलियो' से आगे यह पाठ था :—

हिज़ स्माइल इज़ मोर दैन ए'र पोयेट्स फेण्ड
ऑफ़ ब्लिस, एण्ड शेड्स, नेक्टार।[1]

रौबर्टसन का विचार है कि यथास्थित पाठ के अनुसार अर्थ और वृत्त दोनों असम्भव हैं और शेड्ज़ नेक्टार (shades, nectar) की जगह हैबिज़ नेक्टर (Hebe's nacter) पढ़ने की योजना करता है। उने दिनों की अंग्रेजी की लिपि में 'H' और 'b' का 'sh' और 'd' पढ़ा जाना बड़ा आसान था। पाठालोचक को किसी विशेष काल की प्रचलित लिपी-शैलियाँ परखने में बड़ी होशियारी होनी आवश्यक है। 'हैनरी द फिफ़्थ' में जहाँ मिसिज़ क्विकली फ़ाल्सटाफ की मृत्यु का वर्णन करती है वहाँ पाठ है, 'एण्ड ए टेब्ल ऑफ ग्रीन फ़ील्डस, (And a table of green fields) इस पाठ के लिये थियोबोल्ड की पाठ-शुद्धि 'एण्ड ए बैबल्ड ऑफ ग्रीन फील्डस' (and a babbled of green fields) सर्वमान्य है। शेक्सपिअर ने कई जगह वह के लिये अ (a) का प्रयोग किया है और उस समय की लिपि शैली में 'babld' असानी से टेब्ल 'table' पढ़ा जा सकता था।

डोवर विल्सन सम्पादकीय काम बड़ी ईमानदारी से करता है। संशोधन करने से पहले पाठ की पुरानी सब प्रतियों का निरीक्षण अच्छी तरह कर लेता है। हैमलेट के स्वगत-वचन में 'फ़ोलियो' का पाठ 'टू, टू सौलिड फ़्लेश' (too, too solid flesh) है और हैमलेट के पहले दोनों 'क्वार्टो' में सौलिड (solid) के स्थान में सैलीड (sallied) पाठ है। क्योंकि दूसरे 'क्वार्टो' में एक जगह सलीज (sullies) के बजाय सैलीज (sallies) का पाठ मुद्रित है, यह अनुमान होता है कि दोनों क्वार्टो में सलीड (sullied) के बजाय

---

[1] His smile is more than e'er poets feigned
Of bliss, and shades, nectar,

सलीड (sallied) छप गया है। बस शुद्ध पाठ सलीड (sullied) बैठता है और सलीड (sullied) का 'फर्स्ट फोलियो के सम्पादकों ने सौलिड (solid) कर दिया। नीचे वाले उदाहरण में पोलोनिअस के एक कथन में फोलियो का पाठ यह है—

हैज़र्ड सो नीअर अस ऐज़ डथ आवार्ली ग्रो

आउट ऑफ हिज़ ल्यूनसीज़ ।[१]

ल्यूनेसीज़ (lunacies) की जगह डोवर विल्सन ब्रोल्स (browls) पढ़ने का प्रस्ताव करता है क्योंकि 'क्वार्टो में पाठ ब्राउज़ (browes) है। एक और दूसरे उदाहरण में 'फोलियो' पाठ यह है—

आर ऑफ अ मोस्ट सिलैक्ट ऐण्ड जैनेरस चीफ़ इन दैट ।[२]

आफ़ ए(of a) पाठ की पुष्टि दोनों क्वार्टो करते हैं। परन्तु डोवर विल्सन का खयाल है कि यहाँ असली पाठ ऑफ़िन (often) था और अक्षर जोड़ने वाले ने इसे आफ़ ए (of a) कर दिया। रूप-सादृश्य और वृत्त-विचार से ऑफिन (often)का पाठ बिल्कुल ठीक पड़ता है। सम्पादन-कार्य में डोवर विल्सन की निष्पक्षता सराहनीय है। सम्पादक को ऐसे विचारों से पथभ्रष्ट न होना चहिये कि अमुक पाठ सुगम होगा अथवा श्रवणप्रिय होगा अथवा भाव में सुन्दर होगा। जहाँ पर पाठ अशुद्ध है वहाँ पर सम्पादक का कार्य सुधार नहीं वास्तविक पाठ का प्रत्यानयन है। 'मैक्बेथ' के प्रथम अङ्क में रोस के कथन में यह पाठ है—

ऐज़ थिक ऐज़ टेल

कैन पोस्ट विद पोस्ट एण्ड ऐव्रीवन डिड बीयर

दाइ प्रेजेज़ इन हिज़ किंगडम्स ग्रेट डिफेंस ।[3]

यहाँ कैन (can) का संशोधन रो केम (came)करता है। यह माननीय है। परन्तु उसका टेल (tale) के स्थान में हेल (hail) पढ़ना माननीय नहीं, क्योंकि टेल (tale) से उतना ही सन्तोषजनक अर्थ निकलता है जितना हेल (hail) से 'ट्रॉयलस एण्ड क्रेसिडा, में 'फ़ोलियो' पाठ के अनुसार क्रेसिडा कहती है—

सी, सी, योर साइलेन्स

कम्मिंग इन डम्बनेस ।[४]

---

१ Hazard so near us as doth hourly grow
Out of his lunacies.

२ Are of a most select aud generous chief in that.

३ As thick as tale
Can post with post, and every one did bear.
Thy praises in his kingdom's great defence.

४ See, see your silence,
Comming in dumbness...

पोप यहाँ कमिङ्ग (comming) के स्थान में कनिङ्ग (cunning) पढ़ता है। यह व्यर्थ है। कमिङ्ग (comming) शेक्सपिअर के समय में 'कपटी' और 'ढीठ' के अर्थ में प्रयोग किया जाता था। 'ट्वेल्फ्थ नाइट' में कैप्टिन का कथन है—

फ़ॉर हूज डीयर लव
दे से शी हैथ एब्ज्योर्ड द शाइट
एण्ड कम्पनी आफ मेन।[१]

यहाँ न तो लव (love) के लिये वॉकर का संशोधन लॉस (loss) ग्राह्य है और न हैन्मर का साइट एण्ड कम्पनी (sight and company) के लिये संशोधन कम्पनी एण्ड साइट (company and sight) ग्राह्य है। कारण यह है कि यथास्थित पाठ सुबोध है।

परन्तु हस्तलिखित पाठ का सुबोध होना भी इस बात का निश्चय नहीं कि पाठ ग्रन्थकार सम्मत है। आर० डबल्यू० चैपमैन इसके परिपोषण में जॉनसन के 'जरनी टू द वैस्ट्रन आइलैण्ड्ज' से दो उदाहरण प्रस्तुत करता है। पहला गद्यांश इस प्रकार छपा है—

टु डिसार्म पार्ट आफ़ द हाइलैण्ड्स, कुड गिव नो रीज़नेबिल अकेज़न आफ़ कम्प्लेण्ट। एव्री गवर्नमेण्ट मस्ट बी एलाउड द पावर ऑफ टेकिंग अवे द ट्रीज़न दैट इज़ लिफ्टेड अगेंस्ट इट।[२]

यहाँ पर ट्रीज़न (treason) पाठ सुबोध है, परन्तु यह जॉनसन का प्रयुक्त शब्द प्रतीत नहीं होता। चैपमैन की राय में जॉनसन का शब्द वैपन (weapon) था। जॉनसन के हाथ की लिखावट में वैपन (weapon) असानी से ट्रीज़न (treason) पढ़ा जा सकता था। दूसरा गद्यांश इस तरह छपा है—

वालण्टैरी सालीटयूड वाज द ग्रेट आर्ट ऑफ़ प्रोपिशिएशन, बाइ ह्विच क्राइम्स वेयर एफ़ेस्ड ऐण्ड कान्शेन्स वाज़ अपीज्ड।[3]

यहाँ चैपमैन का विचार है कि जॉनसन ने ऐक्ट ऑफ प्रोपिशिएशन (act of

---

[१] For Whose dear love
They say she hath abjur'd the sight
And company of men.

[२] To disarm part of the Highlands, could give no reasonable occasion of complaint. Every Government must be allowed the power of taking away the treason that is lifted against it.

[3] Voluntary solitude was the great art of propitiation, by which crimes were effaced and conscience was appeased,

propitiation) लिखा था न कि आर्ट ऑफ़ प्रौपिशिएशन (art of propitiation) क्योंकि एकान्तवास को वह कला नहीं कह सकता था। उसका कहना है कि सी (c) में और (r) की भ्रान्ति होना बड़ी साधारण सी बात है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि पाठ नकल करने वालों और सम्पादकों द्वारा विकृत और भ्रष्ट होता है और विकृत और भ्रष्ट अज्ञानवश ही नहीं परन्तु दुरुपयुक्त-ज्ञानवश भी होता है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' अवधी भाषा में लिखा था और उसी भाषा के शब्द, वाक्यरचना-सम्बन्धी नियमों और मुहावरों का प्रयोग किया था। उनके बहुत से शब्द अर्द्धतत्सम हैं। उन्हें नकल करने वालों ने और सम्पादकों ने तत्सम कर दिया है; जैसे स्रुति को श्रुति, महेस को महेश, बरखा को वर्षा, कारन को कारण, जोनि को योनि, जस को यश, दसरथ को दशरथ और कौसल्या को कौशल्या। प्राचीनता की रक्षा बहुत कम प्रतिलिपिकारों और सम्पादकों ने की है। इस तरह की पाठ-शुद्धि ज्ञान के दुरुपयोग से हुई है।

नीचे 'रामचरितमानस' तथा 'पदमावत' से कुछ स्थल दिये जाते हैं, और उनके स्थलों पर पाठ-निर्धारण के अन्य सिद्धान्त स्पष्ट किये जाते हैं। ये सभी उदाहरण डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित दोनों ग्रन्थों से दिये गये हैं।

'रामचरितमानस' की सं० १७२१ वाली ऊपर बताई गई प्रति में बालकाण्ड की एक चौपाई का पाठ है—

हंसहिं बक गादुर चातक ही। हंसहिं मलिन खल बिमल बतकही।

शेष प्रतियों में 'गादुर' के स्थान पर 'दादुर, पाठ मिलता है। 'हंस' से तुलना के लिए जिस प्रकार पक्षिवर्ग से 'बक' लिया गया है उसी प्रकार 'चातक' की तुलना के लिए पक्षिवर्ग के 'गादुर', अर्थात 'चमगादर' का लिया जाना समीचीन जाना पड़ता है। 'चातक' और 'गादुर' की परस्पर विपरीत रहन-सहन और आचरण प्रसिद्ध है : चातक मरते समय तक अपनी चोंच ऊपर आकाश की ओर उठाए रहता है, उसकी वृत्ति ऊर्ध्वमुखी रहती है; और गादुर सदैव अपना मुँह नीचे की ओर लटकाए रहता है, उसकी वृत्ति इसीलिये अधोमुखी मानी जाती है। 'चातक' और 'दादुर' में इस प्रकार की समानता और विपरीतता नहीं है; समानता इन दोनों में यही है कि दोनों वर्षा के जल से सुखी अन्यथा उसके लिये पिपासार्त रहते हैं, और विषमता यह हैं कि चातक की बोली मधुर और दादुर की कर्कश होती है। इस प्रकार 'गादुर' पाठ ही अधिक समीचीन है।[1] बालकाण्ड की एक अन्य चौपाई का सामान्य पाठ है—

झाँझ भेरि डिंडिमी सुहाईं। सरस राग बाजहिं सहनाईं।

---

[1] डॉ० माताप्रसाद गुप्तः 'रामचरितमानस का पाठ', भाग १, पृ० ३१

'भेरि' के स्थान पर छक्कनलाल की प्रति का पाठ 'बीन' है। बीन के साथ झाँझ, डिंडिभी, और सहनाई जैसे शोर करने वाले बाजे ग्रन्थ में कहीं नहीं आए हैं, यह तो भेरी के साथ ही मिलते हैं थलय। तुलनी निम्नलिखित हैं—[1]

बिना बेनु संख धुनि द्वारा। २-३७-५।
बाजहिं ताल पखाउज बीना। ६-१-६।
झाँझ मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल डिंडिभी सुहाई। १-२६३-१।
मधुकर मुखर भेरि सहनाई। ३-३८-६।
मुर्खाहं निसान बजावहिं भेरि। ६-३६-१०।
बाजहिं भेरी नफीरी अपारा। ६-४१-३।
भेरि नफीरि बाज सहनाई। ६-७६-६।

बालकाण्ड की एक और चौपाई लीजिये, जिसका सामान्य पाठ है—

कर कुठारु मैं अकरुन कोही।

सं० १६६१ की प्रति में 'कर' के स्थान पर 'खर' पाठ मिलता है। 'खर' पाठ से कुठार की स्थिति कहाँ है, अथवा वह किसका कुठार है, इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता, और प्रसङ्ग में ही 'कर' कुठार' का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है, 'खर कुठार' का नहीं। यथा—

कटि मुनि बसन तून दुई बांधे। धनु सर कुठार कल कांधे।१-२६७-४

इसलिये 'कर' पाठ 'खर' की अपेक्षा अधिक प्रासङ्गिक और प्रयोगसम्मत प्रतीत होता है।[2] अयोध्याकाण्ड की एक चौपाई का सामान्य पाठ है—

कैकेई भव तनु अनुरागे। पांवर प्रान अघाई अभागे।

सं० १७६२ की प्रति में 'पांवर' के स्थान पर 'पावन' पाठ आता है। अन्यत्र भी इस प्रकार के प्रसङ्ग 'पांवर' शब्द ही, आया है, जैसे—

औसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदय बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पांवर प्रान। २-६७

और 'पांवर' का यह प्रयोग 'प्रान की ही भाँति 'जीव' 'नर' आदि समानार्थी प्रयोगों के साथ भी मिलता है, इसलिये उसकी समीचीनता प्रकट है। किन्तु 'पावन का प्रयोग कहीं भी 'प्रान' या उसके समानार्थियों के विशेषण रूप में नहीं हुआ है। इसलिए वह प्रयोगसम्मत

---

[1] डॉ० माताप्रासद गुप्तः रामच रितमानस का पाठ, भाग २, पृ० २६५
[2] वही, भाग २, पृ० ३०६

नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रान तनु अनुरागे कहे गए हैं, इसलिए उनका 'पांवर' होना ही अधिक युक्तियुक्त है, पावन होना नहीं। अयोध्याकाण्ड की ही एक दूसरी चौपाई का सामान्य पाठ है—

चंदिनि कर कि चंडकर चोरी

छक्कनलाल की प्रति में 'चंडकर' के स्थान चंदकर पाठ है। चंदकर चोरी' का अर्थ होगा चन्द्रमा की चोरी किन्तु इस प्रकार के अर्थ के लिए 'कर' के स्थान पर 'कै' या 'कइ' प्रयोग होना चाहिए था, क्योंकि 'चोरी स्त्रीलिङ्ग है । इसलिए 'चंदकर' पाठ शुद्ध नहीं है। चंडकर चोरी' में समास है, यथा नीचे के 'परत्रिय चोरी में—

हमहु सुनि कृत परत्रिय चोरी। ६-२२-५

इसलिए उसमें यह अशुद्धि नहीं है। दूसरे चंद की चोरी की अपेक्षा चंडकर, अर्थात्, सूर्य की चोरी कुछ और असम्भव भी है, इसलिए प्रसङ्ग में असम्भवना की ध्वनि के लिए वह उसकी अपेक्षा अधिक उपयुक्ति भी है।[1] लङ्काकाण्ड की एक पंक्ति का सामान्य पाठ है—

कोटिन्ह आयुध रावन डारे।

'डारे' के स्थान पर कोदवराम वाला प्रति में 'मारे' पाठ है। 'डारना' के प्रयोग 'आयुध' कर्म के साथ अन्यत्र भी मिलते हैं—

सक्ति सूल तरवारि कृपाना। अस्त्र सस्त्र कुलिसायुध नाना
डारइ परसु परिध पाषाना। लागेउ बृष्टि करइ बहु बाना। ६-७३-३२

सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहि बारहीं।
करि कोप श्री रघुबीर पर अगनित निसाचर डारहीं। ३-२०

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। ३-१९-१
अस्त्र सस्त्र सब आयुध डारे। ६-५१-६

'मारना' का प्रयोग एक मात्र बाण के साथ हुआ है—

दस दस बिसिख उर मांझ मारे। ३-२०
सत सर पुनि मारा उर माहीं। ६-८३-७
तब सत बान सारथी मारेसि। ६-९१-२[2]

---

[1] डॉ० माताप्रसाद गुप्त : रामछरितमानस का पाठ, भाग २, पृ० ३३४
[2] वही, पृ० ५२०

उत्तरकाण्ड की एक चौपाई का पाठ कोदवराम की प्रति के अतिरिक्त सब में इस प्रकार है—

मुधा बचन नहिं ईश्वर कहई ।

कोदवराम की प्रति में 'मुधा' के स्थान पर 'मृषा' पाठ है। 'मृषा' का प्रयोग 'भ्रमपूर्ण असत्य' के आशय में हुआ है :

तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू । मुधा मान ममता मद बहहू ।

६-३७-५

मुधा भेद जद्यपि कृत माया । बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया

७-७८-८

बचन के प्रसङ्ग में मृषा, अर्थात् झूठ का ही प्रयोग मिलता है, और शिव के वचन के प्रसङ्ग में भी वह मिलता है—

संभु गिरा पुनि मृषा न होई। १-५१-३

पुनि पति बचन मृषा करि जाना। १-५६-२

सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार । १-१३२

होइ न मृषा देवरीसि भाषा । ७-६८-४

इसलिए 'मृषा' निश्चय ही अधिक प्रयोगसम्मत है।[१]

कुछ उदाहरण डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' से भी दिए जाते हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है इस समय 'पदमावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर फ़ारसी या अरबी लिपियों में ही मिलती हैं; साथ ही यह भी प्रमाणित हुआ है कि उक्त ग्रन्थ की मूल प्रति देवनागरी लिपि में थी। इसलिए 'पदमावत' में लिपि-सम्बन्धी अशुद्धियाँ दो प्रकार की मिलती हैं—पहली वे जो देवनागरीलिपि के दोषों के कारण घुस गई थीं, और दूसरी वे जो बाद में फ़ारसी या अरबी लिपि के दोषों से पैदा हुईं। लिपि-सम्बन्धी 'पदमावत' के पाठ की इस विषशेता को ध्यान में रखते हुए 'रामचरितमानस' की तुलना में कहीं अधिक संशोधन-क्रिया डॉ० गुप्त को 'पदमावत' में करनी पड़ी है।

नागरी लिपिजनित पाठ-विकृतियों के केवल दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

उस समय की नागरी लिपि के 'ब' और 'व' में विशेष अन्तर नहीं था। फलतः नागरी लिपि में लिखी हुई मूल प्रति के उर्दू प्रतिलिपिकार प्रायः 'ब' के लिए 'बे' न लगाकर उर्दू 'वाव' ही लगा दिया करते थे, जिससे उसका उच्चारण 'व' या 'ओ-औ' में परिवर्तित हो जाता था। 'पदमावत' की प्रायः समस्त प्रतियों में 'जबहिं', 'तबहिं', 'कबहूँ'

---

[१] डॉ० माताप्रसाद गुप्तः रामचरितमानस का पाठ, पृ० ५२७

के क्रमश: 'जौहिं', तौहिं', 'कौहु' में परिवर्तित हो जाने का यही रहस्य है। इसी प्रकार 'म' और 'भ' के लेखन-साम्य के कारण जहाँ-जहाँ 'कुरुँम' (कूर्म, अर्थात् कछुआ) शब्द होना चाहिये, वहाँ-वहाँ 'पदमावत, की प्राय: समस्त प्रतियों में 'कुरुँभ' पाठ पाया जाता है। इस प्रकार की विकृति ग्रन्थ के नागरी मूल होने के कारण ही हुई है, और प्रकट है कि इस प्रकार के समस्त स्थलों पर संशोधन-क्रिया ही कवि के अभीष्ट पाठ को दे सकती थी।

फ़ारसी या अरबी लिपि के कारण उत्पन्न हुई विकृतियाँ तो 'पदमावत' की प्रतियों में हज़ारों पड़ी हैं। केवल निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होगा। निर्धारित पाठ के एक सौ सत्तरहवें छन्द की अन्तिम पंक्ति का पाठ है :—

तेहि अरधानि भँवर सब लुबधे तर्जाहि न 'नीवी' बंध।

एक प्रति में इस पंक्ति के दूसरे चरण का पाठ है, 'लुबधे तर्जाहि न तेहि सनमंध' एक दूसरी प्रति में 'बार बुध तरुनौ बंध' है, किसी प्रति में 'लुबुधे तर्जाहि न सोई बंध' है, तो किसी में 'लुबुधे तर्जाहि न ताकर रंध' है, किसी में 'लुबुधे तर्जाहि न देई बंध' है, तो दूसरी में 'तपही नीमी बंध' है, किसी दूसरी प्रति में 'लुबुधे तर्जाहि न पीवी बंध' है तो अन्य में 'लुबुधे तर्जाहि न तेहि सँग बंध' है, किसी में 'लुबुधे तर्जाहि न अपने बंध' है, तो किसी में 'तर्जाहि न तिन वै बंध' है, केवल एक प्रति में 'तर्जाहि न नीवी बंध' है। डॉ० गुप्त ने 'नीवी वाले पाठ को ही प्रामाणिक माना है, क्योंकि प्रसङ्ग-सम्मत होने के साथ एक मात्र वही ऐसा पाठ है जिसके उर्दू लिपि में होने पर 'तरुनौ', 'नीमी', 'पीवी', 'तेवै', आदि पाठ-विकृतियाँ सम्भव हैं।

उर्दू लिपि-जनित पाठ विकृतियों के इस प्रकार के स्थलों पर भी प्रकट है कि सम्बोधन-क्रिया ही हमें कवि का अभीष्ट पाठ देने में समर्थ हुई है।

पाठ-विज्ञान-सम्बन्धी अनुसन्धान की सहायता से पाठालोचन ने निस्सन्देह साहित्य की बड़ी अमूल्य सेवा की है। यह पाठालोचकों के अश्रान्त परिश्रम का ही फल है कि पुराने पाठ पश्चादागत पाठकों के लिये सुबोध हो गये हैं, विशेषतया ऐसे पाठकों के लिये जिनमें आलोचना की क्षमता न थी। 'फ़ोलियो' में शेक्सपिअर का पाठ कितना अशुद्ध और अव्यवस्थित था इसकी कल्पना हम तब कर सकते हैं जब हमारा ध्यान उन अनेक सम्पादकों पर जाता है जिन्होंने उसके पाठ को फ़ोलियो की विकृतियों और अविधियों से बचाया। फिर भी पाठालोचन एक निम्म श्रेणी की आलोचना है। पाठालोचन पुस्तकों के निर्माण की तिथि निर्धारित करती है, उनके इतिवृत्त की खोज करती है, वास्तविक लेखक को निश्चित करती है, और परम्परागत प्रयुक्त विकृत पाठों को शुद्ध करती है। पाठालोचन की ये समस्याएँ साहित्यालोचन के क्षेत्र से बाहर है। साहित्यालोचन किसी पुस्तक का मूल्याङ्कन कलामीमांसा के सिद्धान्तों के अनुसार करती है।

३

तृतीयतः हमें पुस्तक-परिचय (अँगरेज़ी, रिव्यू) का बहिष्कार करना चाहिये, यद्यपि यह वैज्ञानिक आलोचना अथवा पाठालोचन की तुलना में साहित्यालोचन के अधिक समीप है।

पुस्तक-परिचय समाचारपत्र के साथ आया। समाचार पत्रलेखन की उत्पत्ति मुद्रणयन्त्र से पहले हुई। अगिनकोर्ट और दूसरी मध्यकालीन लड़ाईयों के बाद जो परिपत्र (अँगरेज़ी, सरक्यूलर लेटर) भेजे जाते थे उनमें समाचारपत्र का पहला रूप मिलता है। समाचारपत्र-लेखक के व्यवसाय की तिथि उसी दिन से है जिस दिन से पत्रवाहन संस्था की स्थापना हुई। इससे पहले राजनीतिज्ञ ख़बर पाने के ज़रिये स्वतन्त्र और निजी रखते थे। उदाहरणार्थ, एलीज़ेबैथ के समय में एसेक्स बहुत से योग्य आदमी अपनी नौकरी में केवल समाचार प्राप्ति के लिये रखता था। ये आदमी जनता के लिये नहीं लिखते थे वरन् अपने स्वामी के लिए, वे उसके राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति में मदद करने के लिये लिखते थे। धीरे-धीरे समाचार प्रसार के लिये मुद्रणयन्त्र की सहायता ली जाने लगी। राजविद्रोहों के कारण १६२१ ई० तक ख़बर आने-जाने पर सरकार का कड़ा नियन्त्रण रहा। १६२२ ई० से साप्ताहिक 'कोरेण्टों' में वैदेशिक समाचार जनता को मिलने लगे। ये समाचार प्रायः वैदेशिक पत्रों से लिए जाते थे। अंग्रेज़ी पत्रलेखनकला के विकास में इन्हीं पत्रों का पहला स्थान है। इनके पश्चात् साप्ताहिक 'न्यूज़बुक्स' निकलीं जिनमें राजकीय अथवा जनता-सम्बन्धी समाचार रहते थे। 'न्यूज़बुक्स' के बाद १६६५ ई० में 'ऑक्सफ़ोर्ड गज़ट' निकला। मडीमैन, एलस्ट्रेन्ज, और हैनरी केअर बहुत दिनों तक समाचार पत्रिकाओं और समाचार पुस्तकों से समाचार वितरण करते रहे। १७०४ ई० में डेफ़ो ने 'रिव्यू ऑफ़ द एफ़ेअरज़ ऑफ़ फ्रांस' की स्थापना की। इसमें अन्ताराष्ट्रीय नीति और व्यापार विषयक विचार रहते थे। परन्तु इसमें 'मरक्यूरे स्कैण्डले और एड्वाइस फ्रॉम द स्कैण्डलस क्लब' एक ऐसा विभाग था जिसमें गप-शप और नैतिक आलोचना भी रहती थी। इसी विभाग में हमें सामयिक आलोचना और पुस्तक-परिचय के अंकुर मिलते हैं। १७१२ ई० में 'रिव्यू' का अन्त हो गया। डेफ़ो से स्टील को प्रेरणा मिली। स्टील ने १७०६ ई० में 'द टैटलर' की नींव डाली। यह सामयिक पत्र सप्ताह में तीन बार निकलता था और जनवरी १७११ में इसका अन्त हो गया। इस पत्र ने सामयिक निबन्ध का विकास किया। इसके अनन्तर 'द स्पैक्टेटर' निकला जो एडीसन और स्टील का संयुक्त कार्य था। एडीसन ने पहले ही 'टैटलर' में साहित्य पर कुछ आलोचनात्मक लेख निकाले थे। 'स्पैक्टेटर' ने एडीसन की साहित्यालोचनात्मक लेखनी को और तेज़ी से अभ्यस्त कर दिया। मिल्टन के 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' पर एडीसन के लेख इस पत्र में नियमबद्ध आलोचना के बड़े उत्कृष्ट उदाहरण हैं। 'टैटलर' और स्पैक्टेटर' इतने सर्वप्रिय सिद्ध हुए और उनसे इतनी आय हुई कि इनके देखादेखी बहुत से साहसी लेखकों और सम्पादकों ने स्वतन्त्र अपनी-अपनी पत्रिकाएँ निकालीं। 'द गार्जियन', 'दि इंगलिशमैन', 'दि एग्ज़ामीनर',

'द जैन्टिलमैन्स मैगज़ीन', 'द चैम्पियन', 'द बी,' 'द फ्री थिङ्कर,' 'द फ़ीमेल स्पैक्टेटर' 'द रैम्बलर,' उदाहरणीय हैं। इन नियतकालिक पत्रिकाओं को प्रसिद्ध लेखक अपने लेख भेजने लगे और इन्हीं के द्वारा अपने विचारों को साधारण जनता तक पहुँचाने लगे। 'द जैन्टिलमैन्स मैगज़ीन' को छोड़ कर ये सब पत्रिकाएँ थोडे-थोड़े दिनों तक ही जीवित रहीं। जैसे ही उनके जन्मदाता लेखक उन्हें इस्तेमाल करना छोड़ देते थे, उनका अन्त हो जाता था। इन पत्रिकाओं की एक विशेषता स्मरणीय है। जैसे ही इनका निकलना प्रारम्भ हुआ था, १७१२ ई० का स्टाम्प एक्ट लागू हो गया था। इसके कारण पत्र निकालने का खर्चा बढ़ गया था और पत्रसञ्चालक राजनैतिक दलों का सहारा लेने लगे थे। यह प्रवृति इतनी प्रबल हो गई थी कि पत्रिकाओं का उद्देश्य राजनैतिक स्वार्थपरता को उन्नत करना हो गया था। इस प्रकार कुछ पत्रिकाएँ टोरी हित में, कुछ पत्रिकाएँ ह्विग हित में, तथा कुछ पत्रिकाएँ हाईचर्च हित में, और कुछ पत्रिकाएँ ईवेंजेलीकल हित में प्रकाशित होती रहीं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त की ओर औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव साहित्य रचनाओं के बाहुल्य में दृष्टिगत हुआ। अतएव इस बात की आवश्यकता जान पड़ी कि पत्रिकाएँ और उनके सम्पादक साहित्यक और वैज्ञानिक विषयों में जनता के मस्तिष्क-नियन्ता बनें। इसी उद्देश्य से १८०२ ई० में 'दि एडिन्ब्रा रिव्यू एण्ड क्रिटीकल जरनल' की स्थापना हुई। अठारहवीं शताब्दी की पत्रिकाओं में से 'द स्पैक्टेटर' और 'द रैम्बलर' पुराने साहित्य की परीक्षा उन परिवर्तित शास्त्रीय मानदण्डों से किया करते थे जो नवीन साहित्यिक कृतियों की विशेषताओं से प्रभावित हो चुके थे। वे शुद्ध आलोचना का प्रकाशन करते थे। 'द एडिन्ब्रा रिव्यू' ने भी ऐसे ही मानदण्डों का प्रयोग किया परन्तु अधिकतर उसने नई पुस्तकों की जाँच की। पुस्तकों के विवरण लम्बे होते थे और देर से निकलते थे। वे शुद्ध नहीं दूषित होते थे; या पुस्तक-परिचय के लेख असाहित्यक पक्षपातों से भ्रष्ट रहते थे। नाम-गोपन की प्रथा ने जो पुस्तक-परिचय में बड़ी प्रचलित थी 'एडिन्ब्रा रिव्यू' को सबल व्यक्तित्व प्रदान किया। यह व्यक्तित्व राजनीति में ह्विगपक्षीय था और धर्म में उदारपक्षीय था 'एडिन्ब्रा रिव्यू' की यह विशेषता पुरानी पत्रिकाओं की राजनीतिक और धार्मिक विशेषताओं का अविच्छिन्न प्रसार है। 'एडिन्ब्रा रिव्यू' ऐसे लेखकों का जो राजनीति में टोरी और धार्मिक विचारों में कट्टर होते थे शत्रु था और उनकी रचनाओं को कुदृष्टि से देखता था। 'एडिन्ब्रा रिव्यू' की प्रतिक्रिया में १८०९ ई० में 'द क्वार्टरली रिव्यू' निकाला गया। उसका उद्देश्य राजनैतिक तथा सुधार-सम्बन्धी धार्मिक सिद्धान्तों के खतरे से राष्ट्र और धर्म की रक्षा करना था। क्योंकि 'क्वार्टरली रिव्यू' धर्म सम्बन्धी विषयों में यथेष्ट रूढ़िवादी न था और राजनीतिक मामलों में यथेष्ट स्थितिपालक न था, अतः वह १८१७ ई० में 'ब्लैकवुड्ज़ मैकज़ीन' के उत्थान का कारण बना। १८२० ई० में 'क्वार्टरली रिव्यू' का प्रतियोगी 'द लन्दन मैगज़ीन' अस्तित्व में आया। जब पहले पहल 'रिव्यू' और 'मैगज़ीन' चले तो उनमें यह अन्तर था कि 'रिव्यू' में साहित्य, कला, विज्ञान, राजनीति, समाज ऐसे विषयों का समन्वय होता

था। वह लेखकों और राजनीतिज्ञों के गुण और दोष अपने पाठकों के सामने लाता था। उसमें मौलिक लेखों का समावेश नहीं था। वह प्राय: लेखकों की कृतियों का परिचय और उनकी समीक्षा ही दिया करता था। इसके विपरीत मैगज़ीन सब प्रकार के लेख छापता था उसमें रिव्यू की तरह पुस्तकों का परिचय और उनकी समीक्षा और पार्लियामेण्ट की बहसों के हाल तो रहते ही थे, और साथ ही साथ वह मौलिक लेख भी प्रकाशित करता था। उसका उद्देश्य जनता को वाह्य जगत के व्यापारों से अभिज्ञ करना और अपनी आलोचना से पाठकों को प्रभावित करना ही न था किन्तु उनका मनोरञ्जन करना भी था। रिव्यू और मैगज़ीन की ये विशेषताएँ अभी तक चली आ रही हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आदि के रिव्यू और मैगज़ीन के आलोचनात्मक लक्षणों में दो विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं। पहली विशेषता यह है कि उनका ध्यान कलाकार की कल्पना-शक्ति और किसी दृश्य के सम्पादन की ओर आकृष्ट रहता है। आधुनिक पुस्तक-परिचय के विपरीत वे रचना प्राक्रिया से कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। हैज़लिट का कथन है कि जो आलोचक जनता के लिये लिखता है उसका कलात्मक साधनों से क्या प्रयोजन है। दूसरी विशेषता यह है कि वे आलोचना में व्यक्तिगत आक्षेपों, गाली-गलौज, और अन्धाधन्ध कटाक्षों की भरमार कर देते थे। यद्यपि लॉकहार्ट और विल्सन में व्यक्तिगत बड़ा भेद था तथापि जब वे ऐसे लेखकों की आलोचना करने बैठते थे जिनसे उनके विचार नहीं मिलते थे तो वे दोनों ऐसे लेखकों को कलङ्कित किए बिना नहीं मानते थे। पिछली शताब्दी के चतुर्थ दशक में 'द टाइम्स' के सम्पादक ने मैकोले को बकवादी मैकोले कह कर दूषित किया था। 'सण्डे' समाचारपत्रों के परिचयदायकों से डिकिन्स इतना दुखित हुआ कि उनके लेखकों को उसने मनुष्याकृति राक्षस कहना आरम्भ कर दिया। टैनिसन भी पुस्तक-परिचय देने वालों के कटाक्षों से इतना भग्नाश हुआ कि वह देश छोड़ने तक को तैयार हो गया। धीरे-धीरे पुस्तक-परिचय में गाली-गलौज की जगह शिष्टता आने लगी। यह शिष्टाचार 'द एथेनिअम,' 'द सैटरडे रिव्यू,' और 'द टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेण्ट' के द्वारा आया। इनके पुस्तक-परिचय देने वालों ने व्यक्तिगत आरोपों का बहिष्कार करके कृतियों की वस्तु और शैली-सम्बन्धी लाभदायक सूचनाएँ पाठकों को दीं।

पुस्तक-परिचय देने वाले का धर्म निश्चित करने में पुस्तक-परिचय का यह सूक्ष्म ऐतिहासिक विवरण साहायक होगा। फ़िलिएट का विचार है कि पुस्तक-परिचय देनेवाला साहित्य व्यापार में एक व्यर्थ का अधिकारी है। उसे यह मिथ्याभास रहता है कि वह पुस्तक का यथेष्ट परिचय दे रहा है, जब कि सत्य तो यह है कि यदि ग्रन्थ दार्शनिक है तो वह विचार-धारा की सूक्ष्मता को छोड़ कर इधर-उधर की महत्त्वहीन बात करने लगता है, और यदि पुस्तक साहित्यिक होती है तो वह उसके हृदयग्राहि लक्षणों को छोड़ कर शैली और वस्तु की नवीनता इत्यादि ऐसी बातें करने लगता है। टी० एस० इलियट आलोचक की पुस्तक-परिचय देने वाले से तुलना करता है। आलोचक तो एक ऐसा व्यक्ति है जो सब तरह का पर्याप्त ज्ञान रखता है, चाहे वह किसी विशेष विद्या का विशेषज्ञ न हो, और जो कला

को केवल मनरञ्जन ही का साधन नहीं समझता। परन्तु आधुनिक पुस्तक-परिचय देनेवाला तो केवल जीविका कमाने वाला जल्दबाज कलाप्रेमी है। पुस्तक-परिचय में दायित्व और ध्यान की ही नहीं वरन् सहानुभूति की भी कमी रही है। 'द मन्थली रिव्यू' के सम्पादक ने कोलरिज के 'एन्शैण्ट मैरीनर' को असङ्गत, अशिक्षित, और बुद्धिहीन साडम्बर प्रबन्ध-काव्य कहा है। 'एडिन्ब्रा रिँव्यू ने वर्डसवर्थ के 'एक्सकर्शन' को इन शब्दों से निन्दित किया, यह पाठकों को कभी रुचिकर न होगा। वर्डसवर्थ महोदय की दशा स्पष्टतः नैराश्यपूर्ण है। उनका रोग असाध्य है और आलोचना की शक्ति से परे है।" 'क्वार्टरली रिव्यू' ने कीट्स की 'एण्डीमियन' की भर्त्सना करते हुए उसे लन्दन की अशिक्षित शैली में लिखी हुई कविता बताया। इसी तरह 'ब्लैकवुड्ज़ मैगज़ीन' ने कीट्स को काव्य-रचना छोड़ कर फिर दवाखाना वापिस जाने की सलाह दी और वहाँ प्लास्टर, मरहम, गोलियाँ, तथा अनुलेप के बक्सों को फिर से सम्भालने के लिए कहा। आरम्भिक पुस्तक-परिचय देने वालों के ऐसे निर्णयों पर हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। परन्तु एक दूसरी दृष्टि से आधुनिक पुस्तक-परिचय भी आशाजनक नहीं है। पुस्तक परिचय देने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई है और एक ही कृति के तरह-तरह के पुस्तक परिचय निकलते हैं। यदि एक पुस्तक परिचय देने वाला उसे श्रेष्ठतम रचना कहता है तो दूसरा उसे निकृष्टतम मानता है। इस प्रकार प्रशंसा दोष को काट देती है और दोष प्रशंसा को काट देता है, और बेचारा पाठक कृति के बारे में कोई मत नहीं बना सकता है। पुस्तक-परिचय अपने कार्य में विफल सी ही जान पड़ती है। मतविभिन्नता जो पुस्तक-परिचय को बेकार कर रही है, आलोचनात्मक मानदण्ड की अस्थिरता के कारण हैं। हैरल्ड निकलसन पुस्तक-परिचय देने वाले का कर्त्तव्य निश्चित करने के उद्देश्य से कहता है कि आलोचक दो विधियों से चल सकता है। वह किसी कृति को कला के अमर मान-दण्डों से सम्बन्धित कर सकता है अथवा कृति की आलोचना पाठक की संस्कृति के स्तर से दे सकता है। पुस्तक-परिचय देनेवाला इन्हीं दो सीमाओं के बीच क्रियाशील हो सकता है। हैरल्ड निकलसन स्वंय बड़ा अभ्यस्त पुस्तक-परिचय देने वाला है। अपने पुस्तक-परिचय का वह यह हाल देता है। पुस्तकों का परिचय देते समय मैं उनके लेखकों से वार्ता करता हूँ। मैं इन्हें यह बता देना चाहता हूँ कि उनकी रचनाओं को मैं क्यों पसन्द करता हूँ या क्यों नापसन्द करता हूँ। मेरा यह विश्वास है कि ऐसे वार्तालाप से साधारण पाठक को उपयोगी सूचना मिल जाती है। वर्जीनिया वुल्फ़ आधुनिक पुस्तक-परिचय देने वालों के अनुत्तरदायित्व से घबड़ाकर कहती है कि पुस्तक-परिचय देनेवालों का बिलकुल अन्त कर देना चाहिये और एक ऐसे मन्त्री की नियुक्ति करनी चाहिये जो थोड़ी सी फ़ीस में कृति की जाँच करे और लेखक को अपने निष्पक्ष विचारों से परिचित करे। वर्जीनिया वुल्फ़ का विचार है कि यह पद्धति हैरल्ड निकलसन की पद्धति से बेहतर होगी। इस पद्धति से उच्चाकांक्षी लेखक को उपयुक्त परामर्श और प्रच्छन्नता मिल जायगी। परन्तु हैरल्ड निकलसन और वर्जीनिया बुल्फ़ दोनों ही उस अभिप्राय को ग़लत समझे हुए हैं जिस से पुस्तक-परिचय देने की प्रथा चली। आधुनिक काल की प्रमुख विशेषता साहित्य का मर्यादाधिक्य सृजन है। प्रत्येक वर्ष अंग्रेज़ी

में बीस हजार से अधिक पुस्तकें छप रही हैं। उनमें कुछ अच्छी, कुछ बुरी, और कुछ न अच्छी और बुरी हैं। बिना पुस्तक-परिचय की सहायता के पाठक के लिये उच्चतम पुस्तक का निर्वाचन कठिन है। आवश्यक कौशल से सम्पन्न पुस्तक-परिचय देनेवाला लेखक और पाठक का मध्यस्थ होता है। जब वह कर्तव्यपरता से अपना काम करता है, तब वह अपने पाठकवृन्द के लिये पुस्तक का साफ़, बुद्धिमत्तापूर्ण, और निष्कपट विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस विश्लेषण से प्रेरित होकर पाठक पुस्तक मोल लेने का निश्चय करता है। साहित्य व्यापार की मितव्ययिता में पुस्तक-परिचय देनेवाले की मध्यस्थता अपरिहार्य है। साथ ही साथ उसका कार्य लेखक के लिये भी लाभकारी हो सकता है। वह बुरी किताबों की निष्फलता प्रदर्शित करता है और प्रतिभाहीन किताबों के दोष निर्दिष्ट करता है। परन्तु व्यावसायिक दृष्टि से उसका अस्तित्व पाठक ही के हित में है।

पुस्तक-परिचय अपनी सीमा का उल्लङ्घन कर बहुधा साहित्यालोचन के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। 'एडिन्ब्रा रिव्यू' की आकांक्षा जनता के मस्तिष्क को शिक्षित करना और कला, साहित्य, तथा विज्ञान-विषयक बातों में जनता के निर्णय का पथ प्रदर्शन करना थी। परन्तु अभ्यास में उसके सम्पादक न्यायाधीशों के समान लेखकों को अपराधी जानकर उनकी कृतियों पर फ़ैसला देते थे। 'एडिन्ब्रा रिव्यू' पर मैकोलै के चरित्र की छाप गहरी लगी थी और वह पुस्तक-परिचय देनेवाले को एक ऐसा प्रमाणाध्यक्ष कहता है, जो साहित्यकारों का उचित स्थान निर्धारित करने में दक्ष होता है और उन्हें अपने-अपने उचित स्थानों तक शिष्टाचार सहित ले जाता है। ठीक यही काम साहित्यालोचक का है। वह भी योग्यतानुसार लेखकों का क्रम लगाता है। आलोचना की मुख्य धारा उन्नीसवीं शताब्दी में पुस्तक-परिचय के मार्ग में प्रवाहित होती रही और अब भी वही प्रवृत्ति बनी है। इसके अतिरिक्त पुस्तक-परिचय ने आलोचना के लिये सदा शिक्षास्थल का काम दिया है। पुस्तक-परिचय ही ने सेण्ट ब्यूव, मैथ्यू आरनल्ड, और एडमण्ड गॉस की आलोचनात्मक प्रतिभा को चमत्कृत किया। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं बिना इनके लेखों के आलोचनात्मक साहित्य बहुत कुछ निधन होता। तथापि आलोचना और पुस्तक-परिचय दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं, और उन्हें एक दूसरे से पृथक् करना आवश्यक है। पहले, पुस्तक-परिचय देनेवाला पुस्तक का वस्तु विशेष, उसका मूल्य, उसकी जिल्द, उसका टाइप और कागज ऐसी बातों की परीक्षा करता है। आलोचक का इन बातों से कोई सरोकार नहीं है। दूसरे, पुस्तक-परिचय देनेवाले को पत्रिका के पढ़ने वालों का खयाल होता है और अपनी शैली और अपना प्रतिपादन उन्हीं की रुचि और संस्कृति के स्तर से संयोजित करता है। इन विचारों से पुस्तक-परिचय में आलोचनात्मक गुण का ह्रास होता है। इसके विपरीत आलोचक पहले कृति से काल्पनिक सम्पर्क स्थापित कर उसका मूल्याङ्कन करता है और फिर उस मूल्याङ्कन की सहज अभिव्यक्ति करता है। तीसरे, जब कि पुस्तक-परिचय देनेवाला पुस्तक की ऐसी बातों पर अधिक जोर देता है, जिनसे पाठक का ध्यान पुस्तक की ओर आकर्षित हो, आलोचक पुस्तक के किसी अङ्ग को विशेष ध्यान नहीं देता, वह सब अङ्गों की पृथकता को पुस्तक के एक रूप

में भूल जाता है। चौथे, जब कि पुस्तक-परिचय देनेवाला पत्रिका में प्राप्त स्थान से बाधित होता है और विषय और शैली का न्यायपूर्ण पर्याप्त प्रतिपादन नहीं कर सकता, आलोचक ऐसी बाधा से मुक्त होता है। पाँचवें, जब कि आलोचक पुरानी और नई दोनों तरह की किताबों में आविष्ट होता है और काल और देश का आदर करता है, पुस्तक-परिचय देनेवाले का क्षेत्र नयी पुस्तकों तक सीमित रहता है, बहुधा छापेखाने से तुरन्त निकली हुई नई पुस्तकों से। छठें, जब कि पुस्तक-परिचय देनेवाला पुस्तक को दूसरी और पुस्तकों से अलग कर लेता है और उसकी ही परीक्षा करता है, आलोचक एक पुस्तक की दूसरी पुस्तकों से तुलना करता है और उस पुस्तक के लेखक की दूसरे लेखकों से तुलना करता है। और अन्त में, पुस्तक-परिचय देनेवाल कृत का प्रतिरूपक संक्षिप्त विवरण देने में यत्नशील होता है और रचनात्मक कला के विज्ञान से तनिक भी चिन्तित नहीं होता; आलोचक कलात्मक कृतियों का मूल्य ही निर्धारण नहीं करता वरन् उन सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी नियमों का विवरण देने में सन्नद्ध रहता है जिनसे उन कृतियों की रचना नियन्त्रित होती है और जिनके परिपालन से वे अपना प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

२
रचनात्मक आलोचना (क्रीएटिव क्रिटीसिज्म)

आलोचना के तीन प्रयोजन हैं—रचना (क्रीएशन), व्याख्या (इण्टर्प्रेटेशन), और निर्णय (जजमेण्ट)। या तो अलोचक कलाकृति को अपने अनुभूति के स्तर पर लाकर एक अन्य रचनात्मक कृति की सृष्टि करता है, जिसमें आलोचना के साथ-साथ आलोचक का पूर्ण व्यक्तित्व प्रतिलक्षित होता है—यह रचनात्मक (क्रीएटिव) आलोचना है। या धैर्य और सहानुभूति के साथ आलोचक कलाकृति में तल्लीन हो जाता है और उसे पूर्णरूप से समझने का प्रयत्न करता है। वह समझने की क्रिया में कृति का सम्बन्ध कलाकार के जीवन और उसकी प्रतिभा से स्थापित करता है, अथवा कृति को वैज्ञानिक दृष्टि से देखकर उस नियम तक पहुँच जाता है जिससे कृति के विकास का स्पष्टीकरण होता है। यह व्याख्यात्मक (इण्टर्प्रेटेटिव) आलोचना है। या कृति को पूर्णरूप से समझने के पश्चात् आलोचक कृति के गुणावगुण पर अपना निर्णय देता है। वह बतलाता है कि कृति साहित्य है या नहीं है। यदि वह साहित्य है तो भला है या बुरा। यदि वह भला साहित्य है तो वह अमुक साहित्य से ज्यादा भला है या ज्यादा बुरा। यह निर्णयात्मक (जुडीशल) आलोचना है। आलोचना के इतिहास से आलोचना के यही तीन काम सिद्ध होते हैं, चौथा नहीं। इन तीनों कामों में निर्णयात्मक काम ही प्रधान और श्रेष्ठतम है और संसार के बड़े-बड़े आलोचकों की रुचि भी कृत के गुण-दोष निरूपण की ओर ही रही है। परन्तु पहले हम रचनात्मक आलोचन का विवरण देंगे, उसके पश्चात् व्याख्यात्मक आलोचना का और अन्त में निर्णयात्मक का।

१

रचनात्मक आलोचना में विरोधाभास मिलता है। रचनात्मक क्रिया आलोचनात्मक क्रिया के प्रतिकूल मानी जाती है। इस प्रातिकूल्य को गम्भीर समझकर कभी-कभी बड़ी बेहूदी बाते कह डाली गई हैं। उदाहरणार्थ, ड्राइडन का कथन है कि जब कभी किसी कवि

को काव्य-प्रणयन में सफलता नहीं मिलती तब उसका नैतिक पतन आरम्भ हो जाता है और तभी वह आलोचक बन बैठता है । मानो कि एक क्षेत्र में असफल होना दूसरे क्षेत्र में सफल होना है । इसमें सन्देह नहीं कि ड्राइडन का यह मत ऐसे बुरे कवियों के विषय में था जिन्होंने असफलता के कारण कविता छोड़ कर सफल कवियों पर कड़े आक्रमण किये थे । मैथ्यू आर्नल्ड भी रचना और आलोचना के विरोध को स्वीकार करता है । उसका कहना है कि साहित्य के इतिहास से यह मालूम होता है कि रचना और आलोचना के अलग-अलग काल होते हैं । यदि किसी काल में रचना प्रधान होती है–जैसे पिण्डार और सोफ़ोक्लीज़ के समय के यूनान देश में और शेक्सपिअर के समय के इंगलैण्ड देश में, तो किसी काल में आलोचना प्रधान होती है जैसे अठारहवीं शताब्दी के यूरोप में । मैथ्यू आर्नल्ड रचना को आलोचना से श्रेष्ठतर प्रवृत्ति मानता है । उसका कहना है कि रचनात्मक शक्ति के प्रयोग में ही मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है । आलोचनात्मक शक्ति की तो रचनात्मक शक्ति केवल सहकारिणी है । आर्नल्ड की राय में रचनात्मक साहित्य जीवन की आलोचना है और बतौर आलोचक उसने अपना धर्म यह समझा कि इस जीवन की आलोचना को बाहर समाज में लाये और उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण संस्कृति से स्थापित करे । जिस प्रकार न्यूमैन संस्कृति का स्रोत सर्वाङ्गिक ज्ञान मानता है, उसी प्रकार आर्नल्ड संस्कृति का स्रोत आलोचना मानता है । उसके मतानुसार आलोचक का मुख्य कार्तव्य यह है कि वह संसार के सर्वोच्च ज्ञान और विचारों को जाने और सोचे समझे, और फिर उनका सर्वत्र प्रसार करके सच्ची और नवीन भावनाओं की धारा प्रवाहित करे । इस प्रकार आलोचक का कार्यभार त्रिगुण है । पहले, आलोचक पढ़े, समझे और वस्तुओं का यथार्थ रूप देखे । दूसरे, जो कुछ उसने सीखा है उसे वह दूसरों को हस्तान्तरित करे, जिससे उत्तम भावनाएँ सब जगह प्राबल्य पाएँ । इस ओर उसका कार्य धर्म प्रचारक का जैसा है । तीसरे, वह रचनात्मक प्रतिभा को उत्तेजना और पोषण दे । इस विचार से आलोचना रचना की दासी है । परन्तु आलोचना की इस अप्रतिष्ठा के लिये आर्नल्ड के पास कोई दर्शनिक आधार नहीं है । टी० एस० इलियट के कथनानुसार रचना और आलोचना साहित्य के निर्माण में एक दूसरे के पूरक हैं, और दोनों का संयोग प्रायः एक ही व्यक्ति में उपस्थित होता है । किसी कलात्मक कृति की रूप सम्बन्धी व्यवस्था बिना आलोचनात्मक शक्ति के असम्भव है । अवधारण और सङ्गति को ध्यान में रखते हुए भिन्न-भिन्न अवयवों का एकीकरण और व्यञ्जक शब्दों, पदों और परिच्छेदों से एक ऐसी तार्किक शृङ्खला का निर्माण जो कलात्मक आनन्द का शाश्वत हेतु हो, ऐसा ही कलाकार कर सकता है जिसमें रचनात्मक प्रतिभा के साथ-साथ आलोचनात्मक प्रतिभा भी उसी मात्रा में होगी । इसी से तो यह उक्ति सदा सत्य है कि किसी कवि को महान् होने के लिये उसे महान् आलोचक भी होना चाहिये । इसी तरह आलोचक को रचनात्मक शक्ति की पूरी आवश्यकता है क्योंकि बिना इस शक्ति के कृति का प्रत्यक्षीकरण और उसका पुनर्निर्माण असम्भव है । यदि हम हीगल की तात्त्विक प्रणाली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि कलात्मक यथार्थता रचना और आलोचना का समन्वय है । कला रचनात्मक प्रक्रिया

में आलोचनात्मक होती है और आलोचना कृति के पुनर्निर्माण में रचनात्मक होती है।

२

कलामीमांसकों ने कलात्मक सृष्टि का उद्गम कइ मानसिक शक्तियों से किया है, जैसे; अनुकरण, वैदग्ध्य (विट), रुचि (टेस्ट), कल्पना, और व्यक्तित्व (पर्सनैलिटी)।

प्राचीन यूनान में कलामीमांसन नैतिक दृष्टिकोण से हुआ। कवि उपदेशक माना जाता था। यूनानियों का सब से बड़ा कवि उनका सबसे बड़ा उपदेशक था। प्रत्येक यूनानी जीवन के आदर्श होमर के महाकाव्यों से लेता था। होमर ने अपने काव्यों में जीवन के सत्य का स्वच्छ प्रतिरूप दिया था, ऐसी धारणा यूनानियों की थी। आलौकिक पात्रों और घटनाओं के उनके व्याख्याता लाक्षणिक अर्थ दिया करते थे। शुरू से ही उनके मस्तिष्क में यह विचार समाया हुआ था कि कला सच्चे रूप से अनुकरणात्मक होती है। इस विचार का सोलन पर इतना अधिक प्रभाव था कि अपने समय के नाटकों में झूठा अनुकरण पाने पर उसने उनका वहिष्कार किया। इस आदर्श की सोक्रेटीज़ ने भी पुष्टि की और उसने सुझाया कि मन की आन्तरिक अवस्थाओं का अनुकरण भी चेहरे से इङ्गित द्वारा हो सकता है। वह थोड़ा सा आगे भी बढ़ा। उसने यह स्थापित किया कि प्राकृतिक तत्वों को ऐसे मिलाया जा सकता है कि उनसे नये-नये रूपों की सृष्टि हो। आगामी आलोचक इसी सिद्धान्त पर जमे रहे और उनके इस कथन में कि कविता की ध्वनियाँ जीवन की ध्वनियों की नकल हैं और कविता की गतियाँ जीवन की गतियों की नकल हैं, अनुकरणात्मक सिद्धान्त की व्याख्या अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच जाती है। परन्तु इस सिद्धान्त का सबसे भारी पोषक प्लेटो है। उसने इसी सिद्धान्त का उपयोग अपनी काव्य-समीक्षा में किया। उसने सिद्ध किया कि समग्र यूनानी साहित्य में न आलौकिक सत्य है और न लौकिक। एक आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक को ऐसी झूठी साहित्यिक सृष्टि से अलग ही रहना श्रेयस्कर है। अरिस्टॉटल भी इसी सिद्धान्त का अनुयायी था। परन्तु वह अनुकरण से जीवन अथवा प्रकृति का सीधा अनुकरण नहीं समझता था। उसका विचार था कि काव्यात्मक अनुकरण भावनामय होता है।

रोमन आलोचक होरेस भी कविता को जीवन का अनुकरण मानता है, परन्तु वह यूनानियों की प्रतीभा से इतना चकित था कि उसने कवियों को आदेश दिया कि वे अपने काव्यात्मक अनुकरणों में यूनानी लेखकों और आदर्शों को कभी न भूलें।

इटली का पुनरुत्थानकालीन आलोचक विडा कवियों को प्रकृति का अनुकरण करने की सलाह देता है और यह प्रमाण पेश करता है कि प्राचीन कवियों ने भी ऐसा ही किया था। उन्होंने सदा प्रकृति का अध्ययन किया और वे सदा प्रकृति के सत्यों और आदर्शों के अशिथिल अनुगामी रहे। इटली के आलोचकों का ध्यान यथार्थ के संसार से प्राचीन कला के संसार की ओर आकर्षित होने का कारण स्पष्ट है। पुनरुत्थान काल में जब योरोप में बुद्धि-विषयक जागृति हुई तो प्राचीन यूनान और रोम की कृतियों को ही लेखकों

ने साहित्यिक श्रेष्ठता का मानदण्ड माना। स्कैलीगर ने अपने देश के कवियों को निर्भीकता से आदेश दिया कि वे निरन्तर वर्जिल का अनुकरण करें, क्योंकि वर्जिल ने अपने 'एनीड' महाकाव्य में प्रकृति की कमियों को पूरा कर दिखाया है। बैन जोंनसन दृढ़तापूर्वक कहता है कि शास्त्रीय अनुकरण ही कलात्मक रचना का मूल स्रोत है। फ्रांसीसी आलोचक बोइलो प्राचीन यूनानी और रोमन कृतियों के अनुकरण की दार्शनिक व्याख्या करता है। उसका कथन है कि कोई वस्तु सत्य नहीं है जो प्रकृति में नहीं है। इसलिए कविता को सुन्दर होने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी नींव सत्य और प्रकृति में हो। क्योंकि प्राचीन कवियों की कविता के सत्य और प्रकृति मूलाधार हैं उन्हीं की कविता अत्यन्त सुन्दर है। बस, आधुनिक कवियों का यही धर्म है कि वे उनका साशङ्क अनुकरण करें। अंग्रेज़ी कवि और आलोचक पोप भी शास्त्रीय अनुकरण का पूरा हामी है। वह अपने पद्यात्मक आलोचना विषयक निबन्ध में लिखता है कि प्राचीन यूनान में कविता आलोचना के सिद्धान्तों से नियन्त्रित थी। आज कल के कवियों का कर्तव्य हैं कि वे होमर और वर्जिल को खूब घोखें और समझें और उन्हीं को अपने आदर्श मानें। दोनों ही काव्य-रचना के उत्कृष्ट प्रमाण हैं, परन्तु पोप की स्कैलीगर के विपरीत होमर के प्रति अधिक श्रद्धा है। यह बात इस कथन से स्पष्ट है। जब मैरो ने एक ऐसे काव्य का ढाँचा तैयार किया जो पुराने रोमन काव्यों से भी अधिक जीवित रहे, तो उसका विश्वास हुआ कि ऐसा काव्य सीधे प्रकृति के अनुकरण के आधार पर ही लिखा जा सकता है। परन्तु जब उसने अपने काव्य के प्रत्येक भाग की परीक्षा की तो उसे मालूम हुआ कि प्रकृति और होमर तो एक ही हैं।

होमर और वर्जिल दोनों ने अपनी रचनाओं में प्रकृति को उपस्थित किया है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि उन्होंने प्रकृति को ज्यों का त्यों नग्न अवस्था में उपस्थित किया है। स्कैलीगर के वर्जिल-विषयक कथन से सिद्ध है कि वर्जिल की प्रवृत्ति प्रकृति के प्रति भावनामयी थी। उसने प्रकृति को आदर्श रूप में चित्रित किया। अनुकरण से मतलब प्रकाशचित्रकलात्मक (फोटोग्राफ़िक) पुनरुत्पत्ति नहीं समझना चाहिये। प्रकाश चित्रकला और ललितकला में सारभूत अन्तर है। प्रकाशचित्रकलात्मक पुनरुत्पत्ति में कल्पना की मात्रा नहीं होती; इसके विपरीत साहित्यिक पुनरुत्पत्ति में कल्पना की मात्रा अवश्य होती है। इस मात्रा की मान्यता अरिस्टॉटल को तो है, ही क्योंकि वह साफ़ कहता है कि कवि वस्तुओं को उनके यथास्थित रूप में नहीं वर्णित करता किन्तु उनके उपयुक्त रूप में। प्लैटो द्वारा इस सिद्धान्त की मान्यता उसके आदर्शवाद से सम्बन्धित है। प्लैटो का विश्वास है कि ईश्वरजनित मूलादर्श (आइडिया) ही वास्तविक सत्ता है, और मूलादर्शों का एक सूक्ष्म जगत है, जिसका यह स्थूल जगत् एक अपूर्ण अनुकरण है। ईश्वर परम कल्याण है और उसकी कल्याणात्मक प्रवृत्ति ही से उसके मूलादर्श (आर्चटाइपल आइडिआज़) सांसारिक वस्तुओं में प्रविष्ट हैं। प्लैटो ऐसी कविता को असली कविता मानता है जो मूलादर्शों के सूक्ष्म जगत का अनुकरण करती है और ऐसी कविता का बहिष्कार करता है जो इस अपूर्ण स्थूल जगत का अनुकरण करती है। प्लैटो के इस विचार को उसकी

दार्शनिक सूक्ष्मता से दूर कर के यों व्यक्त कर सकते हैं—कवि को प्रकृति और जीवन के निरीक्षण से आदर्श सत्य का आभास हो जाता है और उसी सत्य के नियन्त्रण में प्रकृति और जीवन को परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित कर के वह अपनी कृतियों में उपस्थित करता है। अतः कलाएँ प्रकृति और जीवन की कोरी नकल नहीं होतीं, उन सभी में आदर्शीकरण की मात्रा विद्यमान् होती है।

परन्तु प्रकृत्यनुकरण का दृढ़ाग्रह अभी आलोचना से बिल्कुल नहीं गया। वह कविता और नाटक में प्रकृतिवाद के रूप में और उपन्यास में यथार्थवाद के रूप में अब भी विद्यमान् है। आधुनिक काल में इस सिद्धान्त को रूसो के क्रान्तिकारी प्रकृतिवाद, डार्विन के विकास-सिद्धान्त अथवा उत्क्रान्तिवाद, हेक्ल के जड़ द्वैतवाद, और फ्रायड के मनोविश्लेषण से बड़ा बल मिला है कविता में पुराने समय से ही प्रकृति अनुकरण की परम्परा चली आ रही है। चौसर, क्रैब, बर्न्स,वर्डसवर्थ ब्राउनिङ्ग, सिज्ज, येटस; और मेसफ़ील्ड की कविताओं में बहुत से जीवन-दृश्य ज्यों के त्यों समाविष्ट हैं। थोरो कहता है कि मैं सदा दो कापी पास रखता हूँ; एक तो तथ्यों के हेतु और दूसरी कविता के लिए। परन्तु मुझे तथ्य और कविता के बीच अन्तर स्थिर रखने में बड़ी आपत्ति होती है। मुझे महसूस होता है कि रोचक और सुन्दर तथ्य तो लोकप्रिय कविता से कहीं अधिक काव्यमय है। यदि मेरे एकत्रित तथ्य सब जीवित और सार्थक हों तो मुझे केवल एक ही कविता वाली कापी की जरूरत रहे। ठीक है। कविता आई कहाँ से ? जीवन से तो ही। तथ्त सब निर्मित कथाओं से अधिक सुन्दर होता है। ऐसा विचार प्रकृतिवादियों का है। पिछली शताब्दी में पहले रोमान्सवादियों ने ऐसे सिद्धान्तों की उपेक्षा की जिनसे यह सिद्ध होता था कि मनुष्य सारे समाज से सम्बद्ध है और उसके जीवन की गति के अटल नियम हैं। फिर विज्ञान में भौतिक शास्त्र को जीवविज्ञान ने कुछ समय के लिये आच्छादित कर लिया। जीवविज्ञान व्यवस्था की बुनियाद व्यक्ति है और व्यक्ति का भविष्य जीव-विज्ञान में भी पहले से ही निश्चित है। वह मूल तत्वों और शक्तियों का खेल है। इसी कारण प्रकृतिवादी लेखक व्यक्ति का उसकी प्रकृतिक परिस्थिति में अध्ययन करता है कि किस प्रकार यह प्रकृति से उत्तेजित होता है और किस प्रकार वह प्रकृति को अपने हित में परिवर्तित करता है। गॉल्सवर्दी का कहना है कि यदि कोई नाटककार अपने समय के जीवन को प्रकृतिवादिता के अनुसार ठीक-ठीक निरूपित करने की चेष्टा करे तो वह मनुष्य को अपनी परिस्थिति में ऐसा फँसा पायेगा कि वह वहाँ से अलग हो ही नहीं सकता। इब्सन ने प्रकृतिवाद का आवेशपूर्ण अनुसरण किया। उसने रङ्गमञ्च का पुरानी रीतियों से उद्धार किया और जीवन को उसने यथार्थ रूप में चित्रित किया। बैनेट, गॉल्सवर्दी, बैक, गोरकी, शैख़ो और होप्टमैन योरोप के प्रसिद्ध प्रकृतिवादी नाटककार हैं। प्रकृतिवाद को उपन्यास की आलोचना में यथार्थवाद कह देते हैं। पुराने उपन्यासकार मिथ्याभूत नायक और नायिकायों को अविश्वसनीय घटनाओं में प्रदर्शित करते थे। नये उपन्यासकारों की चेष्टा हुई कि वे जीवित मनुष्यों की सच्ची समस्याएँ और उनके यथाभूत संवेगों को उपन्यास में चित्रित करें। वे संसार का अपना सच्चा अनुभव पाठक के सामने रखना चाहने लगे। स्पष्ट है कि मनगढ़न्त वस्तुओं को छोड़ वे वास्तविक जीवन की वास्तविक क्रियाओं

की ओर झुके। इस झुकाव में उन्होंने यह भी परवाह न की कि चित्रित जीवन-दृश्य मनोहर हैं अथवा जुगुप्सित। इन्द्रियगम्य संसार का वर्णन ही यथार्थवाद का परम उद्देश्य है। फ़्लोवर्ट, ज़ोला, डोडे और दोनों गोनकोर्टों ने फ्राँस में यथार्थवाद का बड़ी धूम से प्रचार किया। डिकिन्स, ज्योर्ज इलियट, किलिपङ्ग, हार्डी और गॉल्सवर्दी इंगलैण्ड के प्रसिद्ध प्रकृतिवादी उपन्यासकार हैं।

प्रकृति अनुकरण हाल में अतियथार्थवाद (अंग्रेजी सररियलिज़िम) के रूप में आया है। इस मत का उद्देश्य प्रकृति की मान्य सीमाओं से परे जाना है। साहित्य में ऐसे उपकरण लाना है जो अभी तक नहीं लाये गये थे, जैसे स्वप्न और स्वयं प्रवर्तक साहचर्य, और चेतन और अचेतन अवस्थाओं का मेलान। अतियथार्थवादी अपनी कृति को बिना तर्क के व्यवस्थित होने देता है जिससे वह अचेतन मानसिक व्यापार के समतुल्य दीख पड़े।

हर्बट रीड के मतानुसार अतियथार्थवाद रोमान्सवाद की विस्तृति है। दूसरों के मत में अतियथार्थवाद रोमान्सवाद का निष्फलीकरण है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों एकरूपता की जगह विभिन्नता और तर्क की जगह स्वयं प्रवर्तक साहचर्य के प्रति अधिक रुचि दिखाते हैं। यदि आतियथार्थवाद का प्रतिनिधित्व करता है तो वह ऐसा रोमान्सवाद है जिसका महायुद्धों द्वारा मान्य मूल्यों के पतन अथवा विनाश से शोध हो चुका है, जिसकी वृद्धिसापेक्षता के सिद्धान्त से और फ्रायड के मनोविश्लेषण से हुई है। सच पूछा जाय तो अतियथार्थवाद के सम्भाव्य के कारण फ़्रायड, हीग्ल और मार्क्स ये तीन हैं। फ़्रायड से शोधीकृत मन के अनुसन्धान की प्राप्ति हुई हीग्ल, से विपरीत सत्यों के संश्लेषण के प्रत्यय का ज्ञान हुआ, और मार्क्स से समकालीन मूल्यों की घृणा के लिये तर्क मिला।

हॉब्स ने आलोचना के इतिहास में एक नई कलामीमांसा का प्रवर्तन किया। वह कहता है कि काल और शिक्षा से अनुभव उत्पन्न होता है। अनुभव से मेधा (मैमरी) उत्पन्न होती है। मेधा से अवधारणा (जजमेण्ट, और तरङ्ग (फैन्सी) उत्पन्न होती हैं। अवधारणा से काव्य की प्रभावोत्पादकता और उसकी रचनाव्यवस्था उत्पन्न होती है और तरङ्ग से काव्य का अलङ्कार उत्पन्न होता है। अवधारणा और तरङ्ग ही हॉब्स के मतानुसार काव्य के विधाता हैं। हॉब्स तरङ्ग का वैदग्ध्य (विट) के अर्थ में प्रयोग करता है। वैदग्ध्य और अवधारणा इन दोनों शब्दों की व्याख्या जैसी उसने की वैसी ही उस समय के आलोचनात्मक शब्द-समुदाय में दृढ़ता से स्थापित हो जाती है और पीछे के आलोचक इसी व्याख्या का सहारा लेते हैं। वैदग्ध्य वह मानसिक शक्ति है जो व्यक्त रूप से समान वस्तुओं में विभिन्नता ढूँढ़ती है। तरङ्ग वास्तव में स्वच्छन्द कल्पना है और उसके गुण तीव्रता और प्रत्युत्पन्नत्व हैं। वह कल्पना के विपरीत चपल और अनुत्तरदायी होती है। हॉब्स ने जिस अर्थ में वैदग्ध्य का प्रयोग किया है उस अर्थ में वैदग्ध्य तरंङ्ग के उपयुर्यक्त दोनों गुणों का सूचक है। धीरे-धीरे वैदग्ध्य तारङ्गिक लक्षण निम्नपदस्थ हो जाता है और बौद्धिक लक्षण उच्चपदस्थ हो जाता है। यह बात डैनिस की इस परिभाषा से स्पष्ट है। वैदग्ध्य, बुद्धि और उच्छृंखलता का ऐसा

उचित सम्मिश्रण है जिसमें बुद्धि का परिमाण अवश्य अधिक रहता है। इस परिभाष में अवधारणा का बौद्धिक तत्त्व जिसके कारण उसमें और वैदग्ध्य में विरोध था वैदग्ध्य में समाविष्ट हो जाता है। यह तत्व आगे चल कर और जोर पकड़ जाता है। ड्राइडन वैदग्ध्य को विचारों और शब्दों की उपयुक्तता ही समझता है। अगली पीढ़ी में पोप वैदग्ध्य को मनोहर अभिव्यञ्जना ही नहीं कहता वरन् उसका तादात्म्य विवेक और मानवी और भौतिक व्यवस्थित प्रकृति से स्थापित करता है, जैसा कि निम्नोद्धृत पोप के चरणद्वय (कप्लेट)से स्पष्ट होता है।

ट्रू विट इज़ नेचर टु एडवैण्टेज ड्रेस्ड
व्हाट ऑफ्ट वाज़ थॉट, बट नेवर सो वेल एक्प्रेस्ड।[१]

प्रकृत्यकरण और वैदग्ध्य की तरह रुचि एक तीसरा काव्य सिद्धान्त है जो साहित्यिक कलाकार की प्रवृत्ति उसके विषय-वस्तु की ओर निश्चित करता है। रुचि उस चारुता और रमणीयता की उत्पादक है जो आलोचनात्मक नियमों के परिपालन से कभी उपलब्ध नहीं हो सकती। रुचि बुद्धि और प्रमाण से स्वतन्त्र काम करती है और उसकी क्रियाशीलता हृदय से शासित होती है, मस्तिष्क से नहीं। उसे व्यक्तिगत संवेदनशीलता के अधिकार मान्य हैं। फिर भी जैसे वैदग्ध्य के अर्थ में स्वच्छन्दता की जगह हेतुवादिता आ गई, वैसे ही रुचि के अर्थ में भी स्वातन्त्र्य की जगह हेतुवादिता आ गई। स्कैलीगर का कहना है कि जैसे जगत में प्रत्येक जाति के विशिष्ट जीवों के लिये पूर्णता का मानदण्ड है, उसी तरह साहित्य जगत में प्रत्येक साहित्यिक रूप के लिये पूर्णता का मानदण्ड हैं। मूषक का स्वभाव है कि वह मूषकत्व की निर्दिष्ट क्षमता प्राप्त करे और उसी नियम द्वारा जिससे विकासात्मक प्रगति में उसके शरीर की व्यवस्था निश्चित होती है, वह मूषकत्व को नैसर्गिक शक्यता को पूर्णतया सिद्ध करे। अश्व का स्वभाव है कि वह अश्वत्व को निर्दिष्ट क्षमता प्राप्त करे—तीव्रता से मनुष्य के नियन्त्रण में दौड़ना। अश्व के सब गुण, उसकी हड्डियों की बनावट और उसका रूप, उसके शरीर का सुडौलपन और उसकी टाँगों का उसके शरीर से अनुपात, उसके नथनों का आकार और उसके चेहरे में आपेक्षिक स्थान, ये सब चीजें तभी सुन्दर हैं जब उन द्वारा अश्व अश्वत्व के जातीव धर्म का पूर्णतया पालन करता है। इसी प्रकार काव्य भी अपनी नैसर्गिक क्षमता की पूर्ण सिद्धि के हेतु विकसित होता है। वही विकसित रूप काव्य का मानदण्ड है। उसी को मानसिक दृष्टि के सामने रखकर कवि को कविता करनी चाहिये और आलोचक को आलोचना करनी चाहिये। लाब्रूअरे फ्राँस का एक प्रसिद्ध आलोचक स्कैलीगर के शब्दों को इस तरह दुहराता है '''कला में पूर्णता की एक सीमा होती है जैसे प्रकृति में परिपक्वता अथवा चारुता की सीमा होती है। जो कलाकार उस सीमा से अभिज्ञ हैं और उस सीमा से प्रेम करता है, उसकी रुचि पूर्ण है। इसके विपरीत,

---

[१] True wit is nature to advantage dress'd,
What oft was thought, but ne'er so well express'd.

जो कलाकार उस सीमा से अनभिज्ञ है और उस सीमा से इधर या उधर की किसी और वस्तु से प्रेम करता है, उसकी रुचि दोषपूर्ण है। इस प्रकार अच्छी और बुरी दोनों तरह की रुचियाँ हैं और मनुष्य रुचि के विषय में व्यर्थ नहीं झगड़ते।"

प्राचीन मनोविज्ञान में कल्पना इन्द्रिय (सैन्स) और प्रज्ञा (इण्टिलैक्ट) के बीच की एक मानसिक शक्ति मानी गई है। उसका कार्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संस्कारों को सुरक्षित रखना और उनका पुनरुत्पादन ही नहीं है, बल्कि मानसिक सङ्केतों को इन्द्रियों तक पहुँचाना भी। कला के प्रङ्ग में वह कभी स्वयंसत्ताक उत्पादक शक्ति नहीं मानी गई है। अरिस्टटॉल कल्पना में क्षीण संवेदना के अतिरिक्त कुछ नहीं पाता। उसके विचारनुसार कल्पना संवेदना की ही मेधा द्वार प्राप्त अनुलिपि है। लॉज्जायनस कल्पना को प्रतिमा-निर्मायक शक्ति कहता है। काव्य में वह कल्पना का प्रयोग उस मानसिक अवस्था के लिए करता है जिसमें कि कवि अनुराग और उत्साह के वेग से प्रेरित होकर वर्ण्य विषय को आंखों के सामाने सुस्पष्ट देखता है और अपने वर्णन द्वारा पाठक को भी उसे सुस्पष्ट दिखाने में समर्थ होता है। कल्पना की धारणा में न तो अरिस्टाटल को और न लॉज्जायनस को उसने सारभूत तत्व विधायकता का पता है। यूनानी आलोचना केवल फिलॉस्ट्रेटस में एक ऐसा स्थल-प्रस्तुत करती है जिसमें कल्पना-विषयक विधायकता का उल्लेख है। उस स्थल में फिलॉस्ट्रेटस कल्पना शक्ति की अनुकरण शक्ति से तुलना करता है, और कल्पना को उच्चतर शक्ति मानता है। वह कहता है कि अनुकरण शक्ति उसी चीज का निर्माण कर सकती है जिसे वह अपने सामने देखती है, परन्तु कल्पना शक्ति ऐसी चीज का भी निर्माण कर सकती है जो उसको दृष्टिगोचर नहीं है; बस, इस बात की आवश्यकता है कि निर्मित चीज शक्य हो। फिर, यथार्थ का आकस्मिक धक्का अनुकरण के हाथ को रोक देगा परन्तु कल्पना के हाथ को नहीं, क्योंकि कल्पना भावना की ओर निर्बन्ध चली जाती है। उदहारणार्थं, फ़िडियस और प्रेक्सीटेलीज़ देवताओं को देखने के लिये स्वयं स्वर्ग नहीं गए; उन्होंने देवताओं को अपनी कल्पना में देखा और उन देवताओं को अपनी कृतियों में प्रत्यक्ष किया।

मध्यकाल और पुनरुत्थान में आलोचकों ने रोगशास्त्र से सम्बन्धित समझा। उनका विचार था कि कल्पना से ही मानसिक विक्षिप्तता का उद्भव है। 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम में शेक्सपिअर ने थैस्यूस के एक कथन में यही विचार प्रकट किया है कि पागल, प्रेमी, और कवि इन तीनों में कल्पना घनीभूत रहती है। बेकन अवश्य कल्पना का उस मानसिक शक्ति के अर्थ में प्रयोग करता है जो पदार्थों के वाह्य रूप को मन की भावना से पर्वितिक कर नीरस को सरस दिखाती है। अपनी 'एडवान्समेण्ट ऑफ लर्निङ्ग' में उसने काव्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। उसका कहना है कि संसार में कल्याण, गौरव, और वैचित्र विद्यामान् हैं, परन्तु कवि उनसे सन्तुष्ट नहीं होता। उसकी कल्पना उसे विद्यमान कल्याण से अधिक श्रेष्ठ कल्याण की सूझ देती है, विद्यमान गौरव से अधिक भव्य गौरव की सूझ देती है, और विद्यमान वैचित्र्य से अधिक मनोहर वैचित्र्य की सूझ देती है। असंतुष्टि ही से काव्य-विषयक

कल्पना उत्तेजित होती है, गौरव, और जो रूप कल्याण, गौरव और वैचित्र्य का कल्पना दिखाती है, उसी को कवि अपनी सन्तुष्टि के लिए कविता में रच देता है।

नवशास्त्रीय (नियोक्लासिक) काल में भी कल्पना का ठीक अर्थ निश्चित नहीं हो पाया। ड्राइडन कल्पना को ऐसी शक्ति समझता है जो एक तेज शिकारी कुत्ते की तरह स्मृति क्षेत्र पर ऐसे भावों की खोज में दौड़ मारती है जिनके द्वारा वह अनुभूतियों को अच्छी तरह प्रदर्शिक कर सके। महाकाव्य अथवा ऐतिहासिक काव्य में कल्पना का काम रमणीय चरित्रों, कृत्यों, मनोवेगों, स्थायी भावों, और विचारों को प्रस्तुत करना है। इन सब चीजों का वर्णन कल्पना ऐसी उपयुक्त, सुस्पष्ट, और आलङ्कारिक भाषा में करती है कि वह अनुपस्थित विषय को आँखों के सामने प्रकृति से भी अधिक सुन्दर और पूर्ण रूप में ले आती है। बस, कल्पना की पहली क्रिया युक्ति, अथवा ठीक विचारों का पाना; दूसरी क्रिया तरङ्ग, अथवा मनोग्रहण अथवा पाये हुए विचारों को अवधारणा के निदर्शन में विषय के अनुकुल ढालना, अथवा करना, तीसरी क्रिया वाग्मिता अथवा पाये हुए विचारों की उपयुक्त, सार्थ, और रूपान्तरित ध्वनिपूर्ण शब्दों में व्यञ्जना। पहली क्रिया में कल्पना की प्रशंसा उसकी तेजी के लिये होती है; दूसरी क्रिया में उसकी प्रशंसा उसकी सफलता के लिये होती है, और तीसरी क्रिया में उसकी प्रशंसा विशुद्धता के लिये होती है। प्राचीन कवियों में ओविड युक्ति और तरङ्ग के लिये विख्यात है और वर्जिल वाग्मिता के लिये। एडीसन कल्पना का क्षेत्र दृश्य जगत् ही मानता है। उसका कहना है कि कल्पना में कोई ऐसी प्रतिमा नहीं आ सकती जो पहले दृष्टिगोचर न हुई हो। हाँ, कल्पना वास्तविक प्रतिमाओं को स्वतन्त्रता से एक दूसरी से अलग कर सकती है और मिला सकती है। ऐसे फूल जो भिन्न-भिन्न ऋतुओं और देशों में आते हैं कल्पना अपने वर्णन में एक ही ऋतु और देश में प्रस्तुत कर सकती है। कल्पना ऐसे जीवों की सृष्टि कर सकती है जिनका शरीर भेड़ का, जिनका सिर शेर का, और जिनकी पूँछ अजगर की हो। किसी मनुष्य को दश सिर दे सकती है, किसी को चार। काल, देश, स्थिति, स्वभाव, यथार्थ सब का स्वच्छन्दता से उल्लङ्घन कर सकती है। कल्पना दो रूप में आनन्द प्रदान करती है, अपरोक्ष रूप में और परोक्ष रूप में। अपरोक्ष कल्पना का आविर्भाव यथार्थ वस्तुओं की उपस्थिति में होता है, जब हम विस्तृत मैदान, विपुल जलराशि और असंख्य तारों से उद्दीप्त आकाश को देखते हैं तो हमारे हृदय में आनन्द का उद्रेक होता है। इस आनन्द के उद्भवार्थ वस्तुओं में वृहत्त्व, असाधारणता और विचित्रता होनी चाहिये। परोक्ष कल्पना का अविर्भाव यथार्थ वस्तुओं की अनुपस्थिति में होता हैं। या तो पहले देखी हुई सुन्दर चीजें ज्यों की त्यों अथवा भावना से परिवर्तित फिर स्मृति मानसिक दृष्टि के सम्मुख ले आये और या सुन्दर चीजों के चित्र कला द्वारा हमारी मांनसिक दृष्टि के सम्मुख आयें। पहले प्रकार के आनन्द की प्राप्ति के लिये मनुष्य को जीवन और प्रकृति का निरीक्षण आवश्यक है और दूसरे प्रकार के आनन्द के लिये मानसिक शिथिलता और कलात्मक संस्कृति की आवश्यकता है। ऊपर के दो विवरणों में ड्राइडन तो कल्पना को स्मृति से सीमित करता है और एडीसन चक्षु इन्द्रिय से। इन मान्य सीमाओं के भीतर दोनों

कल्पना को पूरी स्वतन्त्रता देते हैं। परन्तु दोनों अनुभववादी हैं। न ड्राइडन और न एडीसन कल्पना को वह सर्वोच्च मानसिक शक्ति समझता है जो अपनी रचनात्मक वृत्ति में तथ्य से उच्चतराधिकारिणी है और जो संवेदना से आये हुए भावों को संयोजित और सुघटित ही नहीं करती वरन उनका अपाकरण कर अनुभवातीत हो जती है। काण्ट ने कल्पना को अवराधिकारिणी माना है। वह इन्द्रियों द्वारा पाये हुए प्रदत्तों के अपूर्ण संश्लेषण को बुद्धि तक एक उच्चतर संश्लेषण के लिए भेजती है।

कल्पना का ठीक-ठीक अर्थ रोमान्स के पुनः प्रवर्तन में हुआ। वर्ड्सवर्थ 'लिरीकल बैलैडस' के १८२५ ई० के संस्करण में कल्पना की व्याख्या करता है। पहले वह एक होशियार अलोचक की इस व्याख्या की उपेक्षा करता है कि कल्पना इन्द्रियदत्त प्रतिभासों की मन में प्रतिमा खींच देती है। उसका कहना है कि कल्पना जब उच्चतर भाव की द्योतक होती है तो उसका वाह्य अनुपस्थित पदार्थों की प्रतिमाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। कल्पना वह शक्ति है जिससे मन वाह्य पदार्थों पर और रचना और प्रणयन सामग्री पर काम करता है। वर्ड्सवर्थ अपना अभिप्राय कई दृष्टान्तों से स्पष्ट करता है। शेक्सपिअर 'किङ्ग लिअर' में एक व्यवसायी को जो चट्टानों पर एक विशेष प्रकार के पौधे इकठ्ठा करता है, चित्रित करते समय उसे लटका हुआ कहता है। दूर से देखने में यह मनुष्य वास्तव में लटका हुआ लगेगा। लटका हुआ यह निरूपण इस प्रसङ्ग में कल्पनात्मक है। इसी तरह मिल्टन जहाजों के एक बृहद बेड़े को दूर से देख कर उसे बादलों से लटका हुआ कहता है। इस निरूपण में कल्पना की मात्रा और भी अधिक है। पहले तो बेड़े का बेड़ा ही एक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत होता है। फिर क्योंकि दूर समुद्र पर बादल और जहाजों के मस्तूल मिले दिखाई देते हैं, बेड़ा रूपी व्यक्ति बादलों से लटका हुआ लगता है। कल्पना की ऐसी प्रतिमाओं में पदार्थों में ऐसे गुण प्रविष्ट हो जाते हैं जो उनमें नहीं हैं, अथवा ऐसे गुणों का आरोप हो जाता है जो दूसरों में हैं। कल्पना एक प्रतिमा पर ही क्रियाशील नहीं होती है, वरन प्रतिमाओं के समुच्चय पर भी। ऐसी सूरत में एक प्रतिमा दूसरी प्रतिमा को परिवर्तित और सार्थ कर देती है। उदाहरणार्थ, मिल्टन के एक दूसरे स्थल में बड़ी ऊँची चोटी पर कोई वृद्ध मनुष्य एक भारी पत्थर की तरह अचेत पड़ा दृष्टिगोचर होता हैं। ऐसा प्रतीत होती है कि वह पत्थर एक सामुद्रिक जीव और रेंग कर किसी चट्टान की ताक में थका, अचेत, धूप में विश्राम कर रहा है इस उपमा में उपमेय एक बुड्ढा आदमी है जो न जीवित प्रतीत होता है न मृत और न सुप्त। कवि की कल्पना पत्थर को सेन्द्रिय सामुद्रिक जीव की प्रतिमा में बदल देती है और सामुद्रिक जीव अपने जीवित लक्षणों को दूर कर पत्थर वृत्ति धारण कर लेता है। यह सामुद्रिक जीव की मध्यस्थित प्रतिमा पत्थर की प्रतिमा को सादृश्य में बुडढे आदमी की दशा से घटित कर देती है। कल्पना पदार्थों को परिवर्तित कर देती है। उन्हें नये व्यापार और गुण प्रदान कर देती हैं। यह ही नहीं, कल्पना निर्माता और स्रष्टा भी है। ऐसी क्रियाशीलता के उसके बहुत से ढङ्ग हैं परन्तु सबसे श्रेष्ट ढङ्ग यह है। वह संख्याओं का इकाई में घनीकरण कर देती है और

इकाई का संख्याओं में पृथक्करण कर देती है। उदाहरणार्थ, मिल्टन वाला स्थल जिसका हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं उद्धृत करते हैं :—

> **ऐज़ व्हेन फ़ार ऑफ ऐट सी फ्लीट डेस्क्राइड**
> **हैंग्ज इन द क्लाउडस, बाइ इक्वीनॉकशल विण्ड्स**
> **क्लोज् सेलिङ्ग फ्राम बेंगाला, ऑर द आइल्स**
> **ऑफ टेर्नाट ऑफ टाइडोर, ह्वेन्स मर्चेण्टस ब्रिङ्ग**
> **देयर स्पाइसी ड्रग्स, दे ऑन द ट्रेडिङ्ग फ्लड**
> **थ्रू द वाइड एथियोपियन टु द केप**
> **प्लाई, स्टेमिङ्ग नाइटली, टु वार्ड द पोल, सो सीम्ड**
> **फार ऑफ द फ्लाइंग फ़ीण्ड ।[1]**

यहाँ भागते हुए शैतान की प्रतिमा है। बेड़ा बहुत से जहाजों से बना है, अतः संख्यक है, अर्थात् उसकी संख्या की जा सकती है। समुद्र पर तेज़ी से जाता हुआ बेड़ा भागते हुए शैतान के तुल्य है, इसलिये एक है। कल्पना की यह व्याख्या वर्ड्सवर्थ ने रचना-कौशल से परिमित रखी है। इससे आगे वह नहीं बढ़ा। आगे बढ़ना उसके मित्र कोलरिज का काम था, जिसने कल्पना को काव्य-प्रणयन का मूलतत्त्व सिद्ध कर दिखाया। कोलरिज बड़ा सूक्ष्मदर्शी तत्ववेत्ता था। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और आलोचनात्मक प्रेरणा में बहुत कम तत्ववेत्ता उसकी बराबरी कर सकते हैं। कोलरिज की प्रेरणा वर्ड्सवर्थ की एक कविता सुनने पर जागृत हुई। उस कविता में एक विशेष गुण यह था कि उसके सुनते ही कोलरिज की भावना शक्ति और बुद्धि दोनों चेतनावस्था में आईं, उसे सौन्दर्य का ही प्रत्यक्षीकरण न हुआ, वरन सत्य का भी निश्चय हुआ। वह परिणाम भावों और प्रतिमाओं के मन माने ढङ्ग से एकत्रित करने में नहीं सम्भव हो सकता था। जब उनका एकत्रीकरण वर्डसवर्थ जैसे प्रतिभाशाली कवि द्वारा हुआ तभी उनमें हृदयस्पर्शता और सुबोधता के गुण आये। बस, कोलरिज को सूझ हुई कि वह मानसिक शक्ति जिसके द्वारा ऐसा परिणाम सम्भव है, कल्पना है। पुराने मनोवैज्ञानिकों ने चेतना का विश्लेषण किया था और उन्हें चेतना में ठण्डे, मृत, और कोरे संस्करों, प्रतिमाओं और प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ न मिला।

---

[1] As when far off at sea a fleet descried
Hangs in the clouds, by equinoctial winds
Close sailing from Bengala, or the isles
Of Ternate or Tidore, whence merchants bring
Their spicy drugs; they on the trading flood
Through the wide ethiopian to the Cape
ply, stemming nightly toward the Pole; so seemed,
Far off the flying fiend,

संस्कार प्रतिमा, प्रत्यय सब प्रकृति-जनित हैं। बहुत सी संवेदनाएँ मिल कर एक सार्थक दृश्य की उत्पत्ति करती हैं। उस सार्थकता का कोई पता पृथक्-पृथक् संवेदनाओं के विश्लेषण से नहीं चलता। चेतना में संवेदना ही नहीं है, वरन् मन* भी है। चेतना दोनों का संश्लेषण है। अकेले तो न मन चेतना है और न संवेदना। विश्वचेतना ससीम और असीम का एकीकरण है। विश्वकल्पना उसका कारण है। ज्योंही ब्रह्म प्रकृति में विषयीकृत होता है त्योंही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म का विषयीकरण वैसे ही निरन्तर है जैसे सूर्य का प्रकाश फेंकना। इस प्रकार संसार के पदार्थ ब्रह्म के विषय अथवा विचार हैं और जगत विषयीकृत ब्रह्म है। जैसा हम कह चुके हैं ब्रह्म और प्रकृति का संयोग कल्पना द्वारा होता है। ब्रह्म कल्पना वाह्य प्रकृति को ब्रह्म के सम्मुख उपस्थित करती है और ब्रह्म का विषयीकरण सम्भव होता है। इस प्रकार विश्व ब्रह्म की कला है। बस मानव चेतना भी विश्वचेतन के अनुरूप है। जैसे ब्रह्म मन के सम्मुख ब्रह्मकल्पना वाह्य प्रकृति को उपस्थित करती है, वैसे, ही मानवमन के सम्मुख मानवकल्पना प्रकृति के उस क्षेत्र को जिसमें मानव-मन का व्यापार है, लाती है; और जैसे ब्रह्म का विषयीकरण हो जाता है, वैसे ही मनुष्य का विषयीकरण हो जाता है। क्यों विषयीकरण होता है? इसका कारण यही ज्ञात होता है कि मन और प्रकृति पहले से ही समस्वर हैं। विश्वा ब्रह्म का आत्मज्ञान है और मनुष्य का जगत् मनुष्य का आत्मज्ञान है। इस आत्मज्ञान का कारण कल्पना है। इस कल्पना को कोलरिज प्रथमपदस्थ कल्पना कहता है। प्रथमपदस्थ कल्पना प्रत्यक्षीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विश्व भगवान् का प्रत्यक्षीकरण है, मनुष्य का जगत् मनुष्य का प्रत्यक्षी-करण है। ब्रह्म के विचार विश्व में प्रविष्ट हैं और विश्व पदार्थ उन्हें प्रतिबिम्बित करते हैं। उसी प्रकार मनुष्य के विचार मनुष्य जगत् में प्रविष्ट हैं और मनुष्य के क्षेत्र में उपस्थित पदार्थ उसके विचारों को प्रतिबिम्बित करते हैं। इस मत को कोलरिज ने अपनी 'ओड टू डिजैक्शन' में व्यक्त किया है:—

ओ लेडी वी रिसीव बट ह्वाट वी गिव,
ऐण्ड इन अवर लाइफ़ एलोन डथ नेचर लिव।[१]

"हे देवी! जगत हमारे जीवन में ही जीवित है और हम जगत् से वही वापिस पाते हैं जिसे हम उसे प्रदान करते हैं।" परिमित प्रकृति जिसमें मनुष्य का व्यापार है उसकी चेतना को नियत पदार्थ अनुभव के लिए देती है। परन्तु सारी प्रकृति को मनुष्य ब्रह्म नहीं वरन ब्राह्म के विषयीकृत विचारों की नाईं देखता है। और यह

*** मन भारतीय मनोविज्ञान में इन्द्रिय है और प्रकृति से सम्बन्धित है। पश्चिम में मन अर्थात् माइण्ड एक ऊँचे अर्थ में प्रयोग किया जाता है, जिसके लिए हमारे यहाँ आत्मा अथवा पुरुष प्रयुक्त होता है। यहाँ मन उसी ऊँचे अर्थ में प्रयुक्त है।**

[१] O lady! we receive but what we give.
And in our life alone doth nature live

इसी बात से सम्भव है कि ब्रह्म की बुद्धि और मनुष्य की बुद्धि में साहचर्य है । एक तरह से प्रकृति मनुष्य के ऊपर आरोपित है और क्योंकि मनुष्य की कल्पना ब्रह्म कल्पना की प्रतिनाद है, मनुष्य प्रकृति को अपने अनुरूप फिर उत्पादित करता है । अब प्रश्न उठता है कि कलाकार प्रकृति की कोरी नकल क्यों नहीं करता । उत्तर यही है कि कलाकार को ऐसी नकल वृथा की प्रतिद्वन्द्विता मालूम होती है । वह जानता है कि इस प्रतिद्वन्द्विता में हार निश्चित है, क्योंकि असल को नकल कैसे पहुँच सकती है अतः कलाकार अपनी भावनानुसार प्रकृति का पुनः सृजन करता है । इस पुनः सृजन ही में उसकी अत्मा को आनन्द मिलता है । पुनः सृजन से मतलब यही है कि जगत से चेतना में आये हुए तत्त्वों का कलाकार अपनी भावनानुसार एकीकरण करता है । कोलरिज के इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि कल्पना वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा विभिन्न तत्त्वों का एकीकरण होता है ।

वर्तमान शताब्दी में आई० ए० रिचार्डज़ कोलिरिज का भारी पोषक है । उसने पहले कल्पना के वे छः अर्थ दिये हैं जो आलोचनात्मक वादविवाद में प्रचलित हैं । पहले अर्थ में कल्पना चाक्षुष सुस्पष्ट प्रतिमाओं की उत्पादक मानी जाती है । दूसरे अर्थ में कल्पना सालङ्कार भाषा के प्रयोग से सम्बद्ध है । जो साहित्यकार रूपकों और उपमाओं से अपने भाव व्यक्त करते हैं कल्पनाशील कहलाते हैं । तीसरे अर्थ में वह लेखक अथवा पाठक कल्पनाशील कहलाता है जो दूसरे मनुष्यों की चित्तावस्थाओं को, विशेषतया दूसरों के मनोवेगों को, सहानुभूतिपूर्वक प्रस्तुत कर सकता है । चौथे अर्थ में कल्पना युक्तिकौशल की द्योतक है । इस अर्थ में जो व्यक्ति ऐसे तत्त्वों को जो सामान्यतः एक दूसरे से नहीं मिलाये जाते हैं मिला देता है कल्पनाशील कहलाता है । कल्पना का पाँचवाँ अर्थ वैज्ञानिक है । वैज्ञानिक कल्पना वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा वैज्ञानिक सामान्यतः असदृश वस्तुओं में सङ्गत सम्बन्ध दिखा देता है । इस क्रिया में कल्पना अनुभव को निर्णीत ढङ्गों में निर्णीत उद्देश्यों के लिए व्यवस्थित करती है । रचना-कौशल के उत्कृष्ट उदाहरण भी कल्पना के चमत्कार हैं । छठें अर्थ में कल्पना वह मायिक और संयोगिक शक्ति है जो विपरीत और विस्वर गुणों के सन्तुलन में प्रकट होती है । कल्पना की यही परिभाषा आलोचना को कोलिरिज की सर्वोच्च देन है । जैसे ज़गत् के नानाविधत्व का आधार एक भगवान् है उसी प्रकार नानाविधि अनुभव के एकत्व का आधार कवि है । इसी कारण आई० ए० रिचार्डज़ करुण नाटक को उत्कृष्ट कविता मानता है क्योंकि करुण में विपरीत अनुभवों का एकीकरण होता है । करुण हमारी करुणा और भय की प्रवृतियों को जागृत करता है । करुणा समीप आने की प्रवृत्ति है और भय भगने की प्रवृत्ति है । इस प्रकार दोनों प्रवृतियाँ एक दूसरे के विपरीत हैं । करुण ऐसी विपरीत प्रवृतियों को एक ही कृति के अनुभव में उपस्थित करता है, इसलिये वह श्रेष्टतम काव्य है । जीवन कला में भी सर्वोच्च व्यक्ति वही है जिसे सुख और दुख, विफलता और सफलता, जीवन और मृत्यु सब एक समान ग्रहणीय हैं । क्योंकि शेक्सपिअर अपने नाटकीय संसार में अपने पात्रों द्वारा ऐसी प्रवृत्ति दिखता है, इसलिए वह सर्वोच्च कवि है । आजकल की अलोचना में कल्पना को कोई स्वतन्त्र मानसिक शक्ति नहीं

माना जाता है। उसे मन के अनुकलन से सम्बद्ध किया जाता है। नवीन मनोविज्ञान कल्पना से चेतन मन का वह प्रयास समझता है जिसके द्वारा वह चेतनोन्मुख (प्रीकौन्शस) मन से उन प्रतिमाओं को निकाल कर अपने स्तर पर ले आता है जो उसमें दबी पड़ी रहती हैं। जैसे रात को आकाश की ओर सामान्य दृष्टि से देखने से बहुत दूर के तारे नहीं दीख पड़ते; परन्तु जब गौर से देखते हैं तो दीख पड़ते हैं, इसी प्रकार चेतनोन्मुख मन में पड़ी हुई प्रतिमाएँ चेतन मन के सङ्केन्द्रण से चेतना में आ जाती हैं। एक प्रसिद्ध आलोचक कल्पना को आध्यात्मिक संवेदना कहता है। आध्यात्मिक संवेदना में मनुष्य का सारा अस्तित्व सम्मिलित होता है। ऐसी आध्यात्मिक संवेदना शारीरिक भी होती है, अन्तर्वेगीय भी होती है, और प्रज्ञात्मक भी होती है। इस विचार से वही कवि कल्पनाशील कहा जायगा जो अपनी मानसिक क्रिया अधिक से अधिक मात्रा में तीव्र कर सकता है। कुछ तत्त्ववेत्ता कल्पना को नियन्त्रित मन मानते हैं। उनका विचार है कि मन वस्तुतः सङ्कल्पात्मक है। कलात्मक प्रवृत्ति मन को सङ्कल्प के विषय की ओर बढ़ने से रोकती है और सम्बद्ध मनोवेग को पूरे चेतना क्षेत्र और परिस्थिति स्थल पर फैला देती है। इस क्रिया में मनोवेग की तीव्रता कम हो जाती है परन्तु उसके विस्तार की वृद्धि हो जाती हैं और वह मन पर नियन्त्रण स्थापित करने की जगह स्वयं मन के नियन्त्रण में आ जाती है। इसी अवस्था में कल्पना की जागृति होती है और मन ध्यानशील हो जाता है। ध्यानशीलता की अवस्था में वस्तुस्थिति के उस वास्तविक रूप की मन को सूझ हो जाती है, जिसके द्वारा उसका रहस्य स्पष्ट हो जाता है मन की यही क्रियाशीलता जो उसकी सङ्कल्पात्मक वृति के निरोध से निष्पन्न होती है कल्पनात्मक है।

हरमैन टर्क एक जर्मन तत्त्ववेत्ता और आलोचक अपनी कृति 'द मैन ऑफ जीनियस' में हैम्लेट के स्वभाव का विश्लेषण करता है। वह उसकी अकर्मण्यता के दो कारण देता है, एक तो उसका विषयीकरण, और दूसरा उसकी निस्वार्थता। हैम्लेट तत्त्वतः आदर्शवादी पुरुष है। उसका आदर्शवाद रूढ़िबद्ध नैतिकता से परे है। उसका मन घटनाओं से एक दम उस (यूनीफॉर्म) एकरूप नियम पर पहुँच जाता है जो उनको स्पष्ट करता है। किसी वस्तु का भाव, किस प्रकार उस वस्तु का अस्तित्त्व है, कैसे उनके सब अङ्गों में साधर्म्य है— इन्हीं बातों के चिन्तन में उसके मन को सुख मिलता है। हैम्लैट प्रतिभाशाली पुरुष की तरह अपनी वाह्य परिस्थिति से तादात्म्य अनुभव करने में लीन हो जाता है। उसे निश्चय है कि क्लॉडिअस दुष्ट है। परन्तु वह देखता है कि राजदरबारी लोग जिस प्रगाढ़ भक्ति से उसके महानुभाव पिता से प्रेम करते थे, उसी प्रगाढ़ भक्ति से वे उसके दुष्ट चचा से प्रेम करते हैं। बस उसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि डेनमार्क का पूरा नैतिक पतन हो चला है और उस राष्ट्र में अब कोई व्यक्ति दोष और अपचार से रहित नहीं है। अतएव वह सोचने लगता है कि यदि वह अपने व्यभिचारी चचा को मार भी डाले तो क्या संसार सामाजिक व्यवहार में उतना उन्नत हो जायगा जितना वह उसके मन को वाञ्छनीय है? निराश होकर वह यही निर्णय करता है कि क्लॉडिअस के प्रति उसकी प्रतिशोध की भावना व्यर्थ है। क्लॉडिअस की मृत्यु के पश्चात भी संसार उतना ही अधम, अनीतिमय, और विषयासक्त

होगा जितना अब है। हैम्लैट प्रतिशोध के धर्म को व्यक्तिगत औचित्य के रूप में नहीं देखता। वह निस्स्वार्थ हो जाता है। निस्स्वार्थता मनुष्य को अपने व्यावहारिक व्यक्तित्व से ऊपर उठा लेती है। वही प्रतिभा का सार है। प्रतिभा दृष्टिगत पदार्थ से तादात्म्य स्थापित करने की मानसिक वृत्ति है। प्रेम प्रतिभा का रहस्य है। हरमैन टर्क प्रतिभा और प्रेम को एक ही समझता है। जिस वस्तु से हमारा प्रेम होता है उसका ध्यान हम अपनी पूरी मानसिक शक्ति से करते हैं। मन का कोई भाग वस्तु के ध्यान से बाहर नहीं रहता। इसीसे हमें प्रेम वस्तु का पूर्ण स्वरूप दिखाता है। प्रेम वस्तु की उस स्थिति का ज्ञान देता है जिसमें उसके अस्तित्व की सब दशाएँ उपस्थित होती हैं। प्रेम वाह्य अनुकरण नहीं करता बल्कि मौलिक रचना करता है। प्रेम कलात्मक सहजज्ञान का स्रोत है। जो रहस्य हैम्लैट की प्रतिभा का है वही रहस्य शेक्सपिअर की प्रतिभा का भी है। मिडिल्टन मरे ने शेक्सपिअर की प्रतिभा का विश्लेषण किया है। शेक्सपिअर अहङ्कारी पुरुष नहीं था। अपनी अधिकांश क्रियाओं में, विशेषतया कलात्मक क्रिया में उसका समग्र व्यक्तित्व काम करता था। उसकी कविता समग्र मनुष्य के उद्गार हैं, उनके नाटक जीवन भूतियों और जीवनदर्शों के वास्तविक रूपों पर अवस्थित हैं, और उसके बिना चेतन प्रयास के उसकी कविता और उसका नाटक उसकी कृतियों में सम्मिश्रित हो जाते हैं। जिस अवस्था में शेक्सपिअर ने यह पूर्णता पाई, उसे मिडिल्टन मरे आत्मविस्मृति कहता है। ब्लेक इस अवस्था को अन्तःकरण की निर्दोषता (थर्मस) कहता है। जैसे ही बच्चा पैदा होता है, उसका मन अविभाजित होता है। उसके मन में अन्तर्वेग और प्रज्ञा का विभेद नहीं होता। वह जीवन का अनुभव अविभक्त मन से करता है। निर्दोषता की यह पहली अवस्था है। जैसे ही बच्चा आयु पाता है, उसका मन अन्तर्वेग और प्रज्ञा में विभक्त हो जाता है। वह आत्मज्ञ हो जाता है। इस अवस्था में उत्कृष्ट कला असम्भव है। यदि कवि में अन्तर्वेग प्रधान होता है, तो उसका झुकाव वाग्विलास की ओर होत है; यदि उसमें प्रज्ञा प्रधान होती है, तो उसका झुकाव अनुपयुक्त और अस्वाभाविक रूपकों की ओर होता है, और दोनों अवस्थाएँ काव्यात्मक सिद्धि की बाधक हैं। यदि कवि का झुकाव जीवन के सर्वाङ्ग बोध की ओर है, तो वह विभक्त मन की अवस्था के पश्चात् उस अवस्था को प्राप्त होता है जिसमें अन्तर्वेग और प्रज्ञा का द्वन्द्व मिट जाता है, अन्तर्वेग और प्रज्ञा दोनों उस जीवन के अधीन हो जाते हैं, जिनमें से उनके द्वन्द्व का आविर्भाव हुआ था। इस अवस्था में कवि अनात्मज्ञ हो जाता है। इसी अवस्था में उत्कृष्ट कला की सृष्टि होती है। कारण यह है कि बिना आत्म-विराम के कलाकार अपने अनुभव के विषय से अपना समीकरण नहीं कर सकता और बिना ऐसे समीकरण के वह उस आदर्श सत्य तक नहीं पहुँच सकता जिसकी अभिव्यक्ति वह अपनी कला में करता है। इस प्रसङ्ग में टी० एस० इलियट का कथन उपयुक्त है। वह अपने निबन्ध 'ट्रैडीशन एण्ड इण्डीविजुअल टैलैएट' में कहता है कि कलाकार की प्रगति निरन्तर आत्मोत्सर्ग अथवा पूर्णात्मावसान में ही है। प्रेम, अथवा विषयीकरण, अथवा आत्मविस्मरण, अथवा आत्मोत्सृजन की प्रक्रिया उस आवरण को हटा देती है जिसे जीवन की व्यावहारिक प्रतिक्रियाएँ बनाती हैं। जैसे ही यह आवरण हटता है, असली व्यक्तित्व

साक्षात होता है। जैसे स्वस्थ नैतिकता चरित्र रूढ़िगत नैतिक के वहिष्कार से प्राप्त होता हैं, जैसे उच्चतम शैली शैली से उदासीन होकर विषय में रत होने से प्राप्त होती है, उसी तरह पवित्रतम व्यक्तित्व व्यावहारिक आत्मा के परित्याग में प्राप्त होता है, यह पवित्रतम व्यक्तित्व जिसकी प्राप्ति आत्मोत्सृजन से होती है कलात्मक रचना का मूलोद्‌गम है।

आलोचना में व्यक्तित्व का रचनात्मक व्यापार तभी से मान्य हुआ जब से आलोचकों की प्रवृत्ति रचना को रचनात्मक मन से सम्बद्ध करने की हुई। व्यक्तित्व का विकास व्यक्ति द्वारा मानसिक प्रक्रियाओं की व्यवस्थिति से होती है। व्यवस्थिति सङ्गत होती है। परन्तु इस व्यवस्थिति में वह सङ्गति नहीं होती जो चरित्र (कैरेक्टर) से व्यवस्थिति मानसिक प्रक्रिआओं में होती है। चरित्रवान पुरुष कोई आदर्श चुन लेता है और अपनी मानसिक क्रिआओं को उसी से नियमित करता हैं। वह ऐसे मनोवेगों की तृप्ति चाहता है जो उसके आदर्श की प्राप्ति में सहायक होते हैं और ऐसे मनोवेगों का निषेध करता है जो उसके आदर्श की प्राप्ति में बाधक होते हैं। वह अपने आदर्श से पूर्णतया शासित होता है। वह अपने व्यवहार पर ऐसी कड़ी नज़र रखता है कि ऐसे समाज में भी जहाँ चरित्रभ्रष्ट होने का डर हो सकता है। अपनी आदर्शनिष्ठा दृढ़ रखता है। स्पष्ट है कि उसकी मानसिक व्यवस्था स्वतन्त्रा मौलिक विचारों पर आधारित नहीं होती, वरन् उसकी मानसिक व्यवस्था का आधार कोई वाह्य प्रमाण होता है। उसी का वह कट्टर अनुयायी होता है। व्यक्तित्व से जो मानसिक व्यवस्था होती है वह अन्तर्जात होती है। वह मनुष्य की अपनी संवेदनाओं पर आधारित होती है। व्यक्तित्व को वाह्य प्रमाणों का शासन मान्य नहीं है। वह किसी तरह का निषेध नहीं करता। वह अपनी मूलप्रवृत्तियों, अपने अन्तर्वेगों और विचारों को पूरी स्वतन्त्रता देता है। स्वतन्त्र मानसिक क्रियाओं से उसके मानसिक जीवन में गत्यात्मकता आ जाती है। इस गत्यात्मकता की दिशा उसके मानसिक जीवन के इतिहास से निर्दिष्ट होती है। फ्रांस के निबन्धकार मौनटेन ने साहित्यिक मनोरञ्जन के लिए बड़ा सुन्दर व्यक्तित्व विकसित किया था। जिस रीति से वह काम करता था उसका वर्णन उसने यों किया है: "जो कुछ मैं करता हूँ, सम्पूर्णता से करता हूँ, स्वभाववश करता हूँ, और उसे एक क्रिया रूप में करता हूँ; मैं कभी कोई ऐसी क्रिया नही करता जो मेरी बुद्धि से निर्दिष्ट न हो और जिसके करने में मेरी सारी शक्तियाँ बिना विभाजन अथवा अन्तर्द्रोह के सम्मत न हों।" ऐसे मनुष्य का मानसिक जीवन समृद्ध होती है। प्रत्येक नई स्थित उसे एक नया दृष्टिकोण सुझ ती है और वह उसे ग्रहण करने को तैयार होता है। फर्नेण्डेज़ के कथनानुसार आदर्श व्यक्तित्व उस मनुष्य का माना जायगा जो अपना अस्तित्व अपने विचारों की प्रगति के अनुरूप कर लेता है और जिसके विचार विश्व के पूर्णतया समस्वर हैं। व्यक्तित्ववान मनुष्य अनुभव की निरन्तरता में विश्वास रखता है। जीवन की और जीवित रहने की इच्छा ही उसका परमधर्म है। कलाकार चरित्रवान नहीं वरन व्यक्तित्व संपन्न मनुष्य होता है। कलात्मक वृत्ति के विषय में कीट्स ने सत्य कहा है कि कुछ रासायनिक द्रव्यों को नाईं प्रतिभाशाली पुरुष महान् होते हैं। वे तटस्थ प्रज्ञा के स्तर पर क्रियाशाली होते हैं। परन्तु कोई

वैशिष्ट्य नहीं होता। वे कोई निर्णीत चरित्र नहीं रखते। व्यक्तित्ववान् मनुष्य ही शक्तिशाली कहे जा सकते हैं।

कलात्मक व्यक्तित्व के उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त प्लैटो और पेटर के निरूपण भी बड़े उपदेशक हैं। प्लैटो का कवि वह ज्ञानी पुरुष है जिसने दस हज़ार वर्ष तक जन्मजन्मान्तर आध्यात्मिक शास्त्र का मनन किया हो और जिसकी वृत्ति सदा ध्यानशील रही हो। ऐसा मनुष्य संसार के सब भावों और विचारों का अलौकिक मूल स्वरूप जान जाता है। जब मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है तभी ग्रहणीय काव्य का उत्पादन कर सकता है। पेटर ने अपने 'मैरिअस दि एपीक्यूरिअन' में कलात्मक व्यक्तित्व निरूपण का मैरिअस के जीवन द्वारा किया है। मैरिअस जीवन ही को कला मानता हैं। वह उस अवस्था को पहुँच गया है जिसमें जीवन और मूल्य (वैल्यू) एक हैं, जिसमें जीवन के साधनों और जीवन के उद्देश्यों का भी समीकरण हो गया है। उसने यौवनकाल में काव्य और दर्शन का इस अभिप्राय से अध्ययन किया कि उसे शुद्ध बुद्धि की प्राप्ति हो। जैसे सूर्य के स्वच्छ प्रकाश में और वस्तुओं का ठीक रूप दीख पड़ता है, वैसे उसने शुद्ध बुद्धि की उज्ज्वल रोशनी में संसार का सत्य रूप देखना चाहा। स्टोइकों के जितेन्द्रियवाद और प्लैटो के आदर्शवाद का प्रभाव तो उस पर शुरू में पड़ा ही था, पीछे से वह हैरैक्लीटस के 'अनन्त विक्रिया' (पर पैचुअल फ्लक्स) के सिद्धान्त से, प्रोटैगोरस के 'मनुष्य ही सब वस्तुओं का माप है' इस सिद्धान्त से, और अरिस्टिप्पस के 'वस्तुएँ केवल छाया हैं' इस सिद्धान्त से बहुत प्रभावित हुआ। एक सिद्धान्त को दूसरे सिद्धान्त की अपेक्षा देखने के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जीवन कला का अनुभवी पहले सिद्धान्तों के अनियत शासन से अपने को मुक्त करे। फिर सरलचित से चिन्तनशील होकर व्यक्तित्व को जीवन के अनुभवों से समृद्ध करे। कलाकार के लिए ठीक यही अनुशासन है और यही अनुशासन आलोचक के लिये है। आलोचक भी अपने को स्वमतासक्ति और रूढ़िगत विचार प्रणाली से मुक्त कर नवीन मतों और नवीन अभिव्यक्ति प्रणालियों को खुले चित्त से ग्रहण करे।

प्लैटो और पेटर का यह उल्लेख भारतीय मत से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। भारत में प्राचीन काल से ही जीवन कला की ओर ध्यान आकर्षित रहा है। सांख्यों के अनुसार निर्गुण पुरुष का त्रिगुणात्मक प्रकृति दर्पण है। त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार ही हमारी बुद्धि है। इस तरह बुद्धि पुरुष का दर्पण है। जब यह दर्पण साफ हो जाता है, अर्थात् जब बुद्धि सात्विक हो जाती है, तब पुरुष को अपना सात्विक रूप दीखने लगता है और उसे यह बोध हो जाता है कि वह प्रकृति से भिन्न है। बोध होते ही वह प्रकृतिजन्य रागों से छुटकारा पा जाता है। पुरुष की इसी नैसर्गिक अथवा स्वाभाविक स्थिति को मोक्ष कहते हैं। वेदान्त के अनुसार यही गति आत्मनिष्ठ मनुष्य को प्राप्त होती है। जिस मनुष्य के मन में ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का साक्षात्कार नित्य जागृत हैं वह ब्रह्म रूप है और नित्य ब्रह्मभूत ही रहता है। ऐसा मनुष्य किसी कर्म में आसक्ति, काम, सङ्ग, राग अथवा प्रीति नहीं रखता और वह जीवनमुक्तावस्था को प्राप्त होता है। मुक्ति का अर्थ देहपात अर्थात् कर्म

से निवृत्ति नहीं है। ज्ञानी पुरुष ज्ञानोत्तर भी अपने अधिकारानुसार धैर्य और उत्साह से किन्तु सम और शुद्ध बुद्धि से, बिना फलाशा, लोकसंग्रह के निमित्त बराबर काम करते रहते हैं। ज्ञानमय कर्म ही उनका इतिकर्तव्य है। वे शुद्ध जीवन के आदर्श हैं और दूसरे मनुष्यों के पथप्रदर्शक हैं। ऐसे मनुष्यों का अभाव संसार को उत्सन्न कर देगा। श्रीकृष्ण ने निर्विषयता से काम करने वाले मनुष्यों का उदाहरण अपने अतिरिक्त जनक का दिया है। मिथिला के जल जाने पर भी जनक शान्त चित्त रहे और निस्करण बुद्धि से देव, पितर, सर्वभूत, और अतिथियों के लिये समस्त व्यवहार करते रहे। बस, यही व्यक्तित्व उत्कृष्ट कलाकार का है। कलाकार भी संसार के राग-द्वेषों से मुक्त हो सत्यनिष्ठा से अपने जीवनव्यापार में गतिशील होते हैं और अपनी कला और अपने जीवन द्वारा लोक-कल्याण करते हैं।

भारतीय मत से कवित्व जन्मसिद्ध है। प्रकृति ऐसे मनुष्य भी रचती है जो स्वभाव से ही आह्लादित होते हैं और आह्लाद के उद्रेक में हृदय में काव्य-प्रकाश की अनुभूति करते हैं। कभी-कभी कवित्व दैविक शक्ति की देन होती है। कालिदास ने कवितार्थं काली की उपासना की और उसे अकस्मात् ज्ञान और कविता की प्राप्ति हुई। वेदान्ताचार्य ने अपनी काव्यशक्ति हयग्रीव से पाई। ब्राह्मणग्रन्थों में सरस्वती वाग्देवी मानी गई हैं, और उसकी उपासना कवियों के लिये एक साधारण-सी बात रही है। पश्चिम में भी कलादेवियों में विश्वास रहा है। उनका आह्वान तथा उनकी उपासना पुराने कवियों में अधिकतर पाई जाती है।

आजकल के बहुत से पाश्चात्य कलामीमांसक उदाहरणार्थ, क्रोचे, भाषाविज्ञान और कलामीमांसा को एकरूप समझते हैं। दोनों ही का उद्देश्य अभिव्यक्ति है, इसे मानते हुए पाणिनि का एक कथन शब्दोच्चारण के विषय में उपयुक्त है। अभिव्यक्ति के लिये शब्द यों प्रेरित होता है—"पहले आत्मा बुद्धि के द्वारा सब बातों का आकलन करके मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करता है; और जब मन कामाग्नि को उकसाता है तब कामाग्नि वायु को प्रेरित करती है; तदनन्तर वह वायु छाती में प्रवेश करके मन्द स्वर उत्पन्न करती है।" यहाँ अभिव्यञ्जना का स्रोत मन की इच्छा द्वारा उकसाई हुई कामाग्नि है। अंग्रेज़ी कवि ब्लेक भी उत्साह का उपासक था। वह कहा करता था कि उत्साह ही शाश्वत आह्लाद है और काव्यसृजन का हेतु है। मन की इच्छा द्वारा उकसाई हुई कामाग्नि—इन्हीं शब्दों में भारतीय मतानुसार कवित्व का सार है। मन सङ्कल्पात्मक है और बुद्धि का निर्णय पाकर उस उत्साह का उत्पादक है जिससे रचना सम्भव होती है। उपनिषदों में वर्णन है कि विश्व की सृष्टि भी मूल परमात्मा की बुद्धि या बुद्ध-जनित इच्छा से हुई। हमें अनेक होना चाहिये, बस परमात्मा की यह इच्छा होते ही सृष्टि उत्पन्न हुई। सांख्य ने भी अव्यक्त प्रकृति अपनी साम्यावस्था को भङ्ग कर सृष्टि की उत्पत्ति का निश्चय पहले ही कर लेती है। बुद्धिजनित इच्छा की प्रवर्तकता की व्याख्या यों है कि मन में युगपत्ज्ञान की क्षमता है और उसके तीन व्यापार इच्छा, भावना और बोध में से बोध

ही मूल व्यापार है। उसी से भावना और इच्छा आती है। यही बात पाणिनि के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है। कलात्मक क्रियाशीलता में बुद्धि का प्रथम स्थान है। प्रतिभा उसकी एक विशेष गति है और कल्पना उसका एक अङ्ग है। कलात्मक रचना में कल्पना प्रतिभा के नियन्त्रण में काम करती है। कल्पना का व्यापार ज्ञात वस्तुओं का अज्ञात ढङ्ग से निरूपण करना है, और इसीलिये वह भ्रामक है। मायावश कल्पना की ऐसी इच्छा होती है, जिससे आत्मा मायाकृत शरीर से अनुबद्ध रहती आये। दूसरी बात यह भी है कि कल्पना को अपने इस व्यापार में नैसर्गिक आनन्द की अनुभूति होती है। ज्ञात वस्तुओं को अज्ञात ढङ्ग से रखने में कल्पनात्मक रचना अनर्गल हो सकती है। इस अनर्गलता से उसे प्रतिभा, जिसे सत्य का निदर्शन आत्मा से मिलता है, रोकती है। इसी से कविता के दो भेद हो जाते हैं—एक तो ऐसी जिसमें कल्पना सत्य से न हिले और जो आत्मा को आनन्द दे; और दूसरी ऐसी जिसमैं कल्पना अनर्गल हो जाय और मन को मायावी सुख दे। 'श्रीमद्भागवत' और 'गीता' पहले प्रकार की कविता के उदाहरण हैं और आजकल की बहुत-सी पद्यात्मक रचनाएँ दूसरी तरह की कविता के उदाहरण हैं। इस व्याख्या से सिद्ध है कि भारतीय विचार बुद्धि अथवा बुद्धिजनित इच्छा को रचनात्मक शक्ति मानता है।

राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में भी काव्य की उत्पत्ति का ऐसा ही विवरण है। काव्य का हेतु शक्ति है जो समाधि और अभ्यास से उद्भाषित होती है। समाधि है मन की एकाग्रता और अभ्यास है फिर-फिर एक ही क्रिया का अवलम्बन। इन दोनों साधनों से प्राप्त शक्ति ही, जैसा मम्मट भी कहता है, "कवित्त्ववीजरूपसंस्कारविशेष', काव्यरचना को सम्भव करती है। इस शक्ति का सञ्चार प्रतिभा और व्युत्पत्ति द्वारा होता है। प्रतिभा से उपयुक्त अभिव्यञ्जना सहित विषय हृदय में उद्भूत होता है, और व्ययुत्पति सें उचित-अनुचित का विवेक होता है। इन दोनों में प्रतिभा को प्रधान माना गया है, क्योंकि उसके द्वारा व्युत्पत्ति के अभाव से आये हुए दोष ढँक जाते हैं। प्रतिभावान् पुरुष का ज्ञान सुस्पष्ट होता है। वह अदृष्ट और अदृश्य वस्तुओं को भी इस प्रकार वर्णित करता है मानो वह बड़े निकट से उनका साक्षी रहा हो। प्रतिभावान् कवि की कल्पना अपना आधिपत्य पाठक के मन पर जमा देती है। पाठक को कभी यह जागृति नहीं होती कि कवि जो कुछ वर्णन करता है वह मनुष्य के अनुभव से बाहर है। अंग्रेजी पाठकों के सामसे एकदम मिल्टन का उदाहरण आ जाता है कि कितने कौशल से मिल्टन ने स्वर्ग में फ़रिस्तों के दोनों दलों की लड़ाई का वर्णन किया है और कितने कौशल से उसने शैतान और उसके साथियों के भाषण नर्क में कल्पित किये हैं। प्रतिभा दो प्रकार की होती है—कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा काव्य की रचना कराती है और भावयित्री प्रतिभा काव्य का बोध कराती है। कारयित्री प्रतिभा तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या, औपदेशिकी। "डॉक्टर गङ्गानाथ झा ने अपने 'कविरहस्य' में इनकी व्याख्या इस तरह की है—'पूर्वजन्म के संस्कार से जो (प्रतिभा) प्राप्त हो सो सहजा अथवा स्वाभाविकी है। इस जन्म के संस्कार से जो प्राप्त

हो सो आहार्या अथवा अर्जिता है। मन्त्र एवं शास्त्र आदि के उपदेश से जो प्राप्त हो सो औपदेशिका अथवा उपदेशप्राप्त है।" इन्हीं के अनुसार तीन प्रकार के कवि होते हैं; सारस्वत, आयासिक और औपदेशिक। इनकी व्याख्या डॉक्टर गङ्गानाथ झा ने ऐसे की है--'जन्मान्तरीय संस्कार से जिसकी सरस्वी प्रवृत्त हुई है, वह बुद्धिमान् सारस्वत कवि है। इसी जन्म के अभ्यास से जिसकी सरस्वती उद्भाषित हुई है, वह आहार्यबुद्धि आभ्यासिक कवि है। जिसकी वाक्य-रचना केवल उपदेश के सहारे होती है, वह दुर्बुद्धि औपदेशिक कवि है।" काव्य की उत्पति का यह विवरण प्रज्ञा और अन्तरवोध पर आधारित है। जर्मन तत्त्ववेत्ता शैलिङ्ग को, प्लैल्टो प्लॉटीनस, सेण्ट ऑगस्टिन और दूसरे गूढ़तत्त्व- द्रष्टाओं की तरह, एक ऐसी मानसिक शक्ति का भान हुआ था जिसके द्वारा अनन्त की प्रकृतिनिष्ठ सूफ हो सके। इसका नाम उसने प्राज्ञअन्तरवोध (इण्टिलैक्चुअल इण्ट्यूशन) रखा था। यही शक्ति इस विवरण में काव्यरचना का आधार हैं. क्योंकि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों का सम्मिश्रण और प्रज्ञा अन्तरवबोध के सम्श्रिण के समान है। इस विवरण की सत्यता सभी को मान्य है ।

कलात्मक रचना का स्रोत व्यक्तित्व है। यह बात उल्लिखित मतों से स्पष्ट है। व्यक्तित्व ही जीवन वस्तु को कलारूप में परिणत करता है। व्यक्तित्व में बुद्धि का समावेश है। कल्पना बुद्धि का अङ्ग है ही और वह जब पूर्णतया क्रियाशील होती है तब व्यक्तित्व महान् दक्षता से काम करता है। हम कल्पना अपने सारे अस्तित्व से करते हैं। कल्पना करते समय शरीर का कोई अङ्ग असहयोग में नहीं होता। यही बात मनोविश्लेषणात्मक गवेषणा से उपलक्षित है जो कल्पना को पूर्व चेतना से सम्बन्धित करती है। जैसे टकटकी लगा कर देखने से रात्रि में अदृश्य तारे दिखाई देने लगते हैं, वैसे पूर्ण शक्ति और उत्साह से मन के काम करने से निहित प्रतिमाएँ चेतना में आ जाती हैं। भावनामय अनुकरण भी—ठेठ अनुकरण तो कलात्मक है ही नहीं—कल्पना से सम्बद्ध है। भावना में कल्पना जागृत होती ही है। बुद्धि, वैदग्ध्य, और रुचि नवशास्त्रीय काल के पाखण्डमत थे जिनका खण्डन साहित्य के विकास और कला मीमांसा के नये अनुसन्धानों से हुआ। वैदग्ध्य, चाहे अनर्गल रचना के अर्थ में, चाहे श्लेषोक्ति और वाग्विदग्धता के अर्थ में, और चाहे उपयुक्त अभिव्यञ्जना के अर्थ में हो, रचना कौशल से सम्बद्ध हैं। रुचि जब व्यक्तिगत संवेदनशीलता की द्योतक होती है तो व्यक्तित्व की क्रियाशीलता के अतिरिक्त कोई और वस्तु नहीं।

३

रचनात्मक प्रक्रिया की समीक्षा यह है। पहले, वाह्यजगत् और अन्तर्जगत् का निरीक्षण होता है। कवि में असाधारण भावग्राह्यता होती है। संसार की समस्त सम्पत्ति जो उसे भीतर अपने मन में मिलती है और वह सब जिसे प्रकृति उसके सम्मुख उपस्थित करती है, उसके अनुभवार्थ है। वह संसार का निरीक्षण वासनारहित मन से करता है। किसी प्रकार

का कोई दृढ़निविष्ट दुराग्रह अथवा पक्षपात उसकी दृष्टि को विकृत नहीं करता। दूसरे, चिन्तन होता है। कवि अनुभव के प्रदत्तों से किसी वैज्ञानिक व्यवस्था का निर्माण नहीं करता और न उन्हें ऐतिहासिक वृत्ति से वर्णनार्थ एकत्रित करता है। कवि की आँखें चिन्तनशील निष्क्रिय में अनुभव के विषयों पर पड़ती हैं और वे उसके लिये सार्थक हो जाते हैं। तीसरे, अन्तः स्फूर्ति की अवस्था आती है। इस अवस्था में ध्यानशक्ति घनत्व पाती है और कवि को अन्तर्वेगीय उत्कर्षण की अनुभूति होती है। इसी उत्कर्षण की दशा में मन के गम्भीरतम स्तरों से प्रतिमाएँ निकल पड़ती हैं और तुरन्त ही मूल्य ग्रहण करके सार्थक समुदायों में विभक्त हो जाती हैं और सजीव रूपों के वास्तविक संसार की नकल करने लगती हैं। इस अवस्था के अन्त में कवि का अनुभव उसकी मानसिक दृष्टि के सम्मुख नैसर्गिक व्यवस्था में उपस्थित होता है। यही आन्तरिक अभिव्यक्ति है, जिसका रचनात्मक प्रक्रिया में चौथा पद है। अन्त में, कवि अपनी अन्तरवबोधशक्ति द्वारा उपयुक्त शब्दों और लयों के रूप में ऐसे प्रतीक ढूँढ़ता है जो अपनी सार्थकता और ध्वनि से कवि के व्यवस्थित आन्तरिक अनुभव (इन्टर्नल एक्सपीरियेन्स) का प्रकाशन करते हैं। यही वाह्य अभिव्यक्ति है। इटली का आधुनिक कलामीमांसक क्रोचे आन्तरिक अभिव्यक्ति ही पर ठहर जाता है। वह कहता है कि जैसे ही कलाकार अपने अनुभव के तत्त्वों का एकीकरण कर लेता है, वैसे ही उसका काम समाप्त हो जाता है। वाह्य अभिव्यक्ति तो केवल व्यावहारिक उपयोगिता के लिये है, उसके द्वारा कवि अपने अनुभव को अपने और दूसरों लिये चिरकाल तक सुरक्षित रखता है। वाह्य अभिव्यक्ति का कलात्मक उत्पादन से कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु क्रोचे का यह मत असमर्थनीय है। कलाओं का अस्तित्व ही आन्तरिक अनुभव को वाह्य रूप देने की मूल प्रवृत्ति में है।

मनोविश्लेषण ने कलात्मक रचना पर बड़ा प्रकाश डाला है। जो कुछ डार्विन ने भौतिक व्यापारों के सम्बन्ध में किया, वही फ्रायड ने मानसिक व्यापारों के सम्बन्ध में किया। उत्क्रान्तिवाद ने यह बताया कि जीवन की विभिन्नता और उसका विकास किस प्रकार हुआ, तो गत्यात्मक अचेतन के प्रत्यय ने स्वच्छन्द कल्पना की अनियन्त्रित उडान और मन की गूढ़तम अभिलाषाओं का हेतुसिद्ध विवरण दिया। मनोविश्लेषण इस बात को स्पष्ट करता है कि कलात्मक प्रोत्साहना जीवन के गहन स्तरों से उठती है और गहन स्तरों में पड़ी हुई प्रतिमाओं को सुलझाने का एक विशेष ढङ्ग होती है।

फ्रायड के अनुसार प्रत्येक कलात्मक रचना स्नायुव्यतिक्रम की शोध है। स्नायुव्यतिक्रम किसी व्यक्ति को तब होता है जब वह अपने और समाज के बीच सङ्घर्ष से उत्पन्न हुई कठिनाई का सामना नहीं कर सकता। इसके बहुत से कारण हो सकते हैं। सम्भव है कि व्यक्ति ने जन्म से ही निस्सत्त्व काया पाई हो, सम्भव है कि उसने बाल्यावस्था में असाधारण कामवासना का अनुभव किया हो, सम्भव है कि उसने कार्याधिक्य अथवा असफल प्रेम की वेदनाएँ सहन की हों—चाहे जो बात हो वह नाजुक अवस्थाओं में जीवन के उत्तरदायित्व को सँभाल नहीं सकता और मतिभ्रष्ट हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति स्नायु-

व्यतिक्रम के अन्तर्गत हो जाता है और कठिनाई से बचने के लिये विचित्र कल्पनाओं के आभिर्भाव की अनुभूति करता है। ये विचित्र कल्पनाएँ साहचर्य के नियमों के अनुसार अचेतन में फैल जाती हैं और दबी हुई प्रेरणाओं को जागृत करती हैं। जागृत प्रेरणाएँ इतनी प्रबल होती हैं कि उन्हें निग्रहात्मक शक्ति नहीं रोक सकती और वे अभिव्यञ्जना के लिये आगे बढ़ती हैं। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति असङ्गत और अतर्क बातें बकने लगता है और पागल हो जाता है। कलाकर स्नायुव्यतिक्रम से पागल नहीं होता। उसमें बढ़ती हुई विचित्र कल्पनाओं को ऐसी अनात्म अभिव्यञ्जना देने की क्षमता है जिससे मन को सुख का अनुभव होता है। अनुभूत सुख के दो स्रोत होते हैं—एक तो रूप-सम्बन्धी तत्त्वों के संयोजन में और दूसरा अन्तर्द्वन्द्व की शान्ति में। इस प्रकार कलात्मक रचनाएँ सुव्यवस्थित विचित्र कल्पनाएँ होतीं हैं। फ्रायड का अगला प्रयास रचनात्मक कृतियों को मन के तीनों स्तरों से सम्बन्धित करता है। फ्रायड मन के तीन स्तर मानता है—इदम् अथवा अचेतन, अहङ्कार, और आदर्शाहङ्कार। इदम् आद्य प्रेरणाओं से भरा पड़ा है। ये प्रेरणाएँ तुष्ट के लिये ऊपर आती रहती हैं। कहीं न कहीं इदम् शारीरिक प्रक्रियाओं से मिला हुआ है और उनसे मूलप्रवृत्ति-सम्बन्धी आकांक्षाओं को लेकर उनकी मानसिक अभिव्यक्ति करता रहता है। ये मूलप्रवृत्तियाँ ही इदम् को स्फूर्ति देती हैं। परन्तु इदम् में न कोई व्यवस्था है और न कोई एकीकृत उसमें अभिलाषा होती है। वह पूर्णतया अनात्मिक है। बस, सुख के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार मूलप्रवृत्ति-सम्बन्धी आकांक्षाओं को तुष्टि देने में संलग्न रहता है। इदम् में तर्क का कोई नियम काम नहीं करता, प्रतिवाद और निषेध से तो उसका कोई प्रयोजन ही नहीं। वह काल और स्थान के प्रत्ययों से मुक्त है और फिर भी तत्त्ववेत्ताओं के मत के विरुद्ध मानसिक क्रियाएँ करता रहता है। इदम् मूल्याङ्कन, नैतिकता, और भलाई-बुराई के भावों से अनभिज्ञ है। उसकी सब प्रक्रियाएँ परिमाणात्मक गुणक से शासित रहती हैं। कलात्मक रचना की अस्पष्टता, उसकी शक्ति, और उसकी न्यायविरुद्धता इदम् से आती है। अहङ्कार इदम् का वह भाग है जो संसार के सम्पर्क से अलग अस्तित्व में आता है। वही हमको व्यक्तित्व का भान देता है और परिस्थितियों का सामना करने में समर्थ करता है। वह इदम् की प्रेरणाओं की आलोचना करता है और अपने मानदण्डों के अनुसार उन्हें स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करता है। अहङ्कार फ्रायड के मतानुसार तथ्य-सिद्धान्त का साक्षात्कार है और उसकी प्रवृत्ति मन के अनियमित उत्पादन का संश्लेषण करने की है। कलात्मक कृति अपनी रूप व्यवस्था और अपना ऐक्य अहङ्कार से पाती है। आदर्शाहङ्कार अहङ्कार से टूटकर अस्तित्व में आता है और अहङ्कार की अपेक्षा इदम् से अधिक सम्बन्धित मालूम होता है। आदर्शाहङ्कार प्रतिबधक का काम करता है। वह आध्यात्मिक आकांक्षाओं तथा नैतिक और सामाजिक आदर्शों की उत्पत्ति करता है। इन्हीं आकांक्षाओं और आदर्शों के प्रकाश में आदर्शाहङ्कार कृति की आलोचना करता है। कलात्मक कृति अपने नैतिक और सामाजिक उद्देश्य आदर्शाहङ्कार से पाती है।

युङ्ग रचनात्मक प्रक्रिया की व्याख्या इस प्रकार करता है। मन की दो विपरीत

वृत्तियाँ हैं—पहली अन्तर्व्यावृत्ति और दूसरी वहिर्व्यावृत्ति। मन का यह मौलिक विभाजन मनुष्य की प्रत्येक क्रिया में मिलता है। अन्तर्व्यावृत्ति और वहिर्व्यावृत्ति के विरोध को विचार और भाव का विरोध, अथवा प्रत्यय और वस्तु का विरोध, अथवा इन्द्रिय और विषय का विरोध भी कह सकते हैं। वास्तविक सत्ता न अकेली अन्तर्व्यावृत्ति का परिणाम है और न अकेली वहिर्व्यावृत्ति का परिणाम है, वरन् एक विशिष्ट आन्तरिक क्रियाशीलता का जो कि दोनों का मिलान करती है। वही क्रियाशीलता विरोध को मिटाती है और इन्द्रियोपलब्ध ज्ञान को तीव्रता देती है, और प्रत्यय को सफल शक्ति देती है। इस क्रियाशीलता को युङ्ग सक्रिय कल्पना कहता है। सक्रिय कल्पना रचनाक्रिया में सदा आरूढ़ रहती है। हमारी सब वर्तमान समस्याओं का सुलझाव यही कल्पना करती है और यही कल्पना हमारी भविष्य योजनाओं की मार्गप्रदर्शिका है। सक्रिय कल्पना का वर्णन करते हुए युङ्ग कहता है कि यह क्रियाशीलता चेतन मन की उस प्रवृत्ति के परिणामभूत है जिससे वह अचेतन मन के थोड़े बहुत सम्मिलित तत्वों को लेकर सादृश्य के नियमानुसार चेतन मन के तत्वों से मिलाकर उनका एकीकरण करता है। सक्रिय कल्पना कलात्मक मनोसामर्थ्य का प्रधान गुण है। जब सक्रिय कल्पना अचेतन और चेतन तत्वों के संश्लेषण को ऐसा रूप दे देती है जो सब को भावों और रूपसौष्ठव के कारण ग्राह्य हो तो, कलात्मक हो जाती है। युङ्ग रचनात्मक प्रक्रिया की आगे और विस्तृत व्याख्या करता है। प्रत्येक मनुष्य में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ दीख पड़ती हैं। कभी-कभी वह सब प्रकार के नियन्त्रणों को अपने मन से हटा देता है और अचेतन मन में घुस जाता है, जहाँ उसे असङ्गत आद्य प्रतिमाओं की राशि मिलती है; और इस राशि से वह अपना विनोद करता है। इसके विपरीत कभी-कभी वह सौन्दर्य अथवा नैतिकता के आदर्शों का नियन्त्रण अपने मन पर स्थापित करता है। जब दोनों प्रवृत्तियाँ मिलान खा जाती हैं, तब वे कला का उत्पादन करती हैं। उत्पादन का क्रम यह है—पहले सञ्चित संस्कारों द्वारा आदर्श की स्थापना जो चेतन मन पर अपना शासन जमाता है, दूसरे, किसी स्मृति अथवा प्रतिमा का जागना जो अन्तर्प्रेरणा से पहले अचेतन मन में पड़ी थी; तीसरे, इस स्मृति अथवा प्रतिमा की नियन्ता आदर्श द्वारा आलोचना और स्मृति अथवा प्रतिमा की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति। यदि वह स्मृति अथवा प्रतिमा नियन्ता आदर्श को स्वीकार होती है तो वह उसे उपयुक्त मूल्य देता है। स्मृति अथवा प्रतिमा की स्वीकृति और उसके मूल्याङ्कन में एक रचनात्मक क्रिया समझ लेनी चाहिये। ऐसी ही बहुत-सी क्रियाओं के समुच्चय में रचना की पूर्ति होती है। यदि आदर्श का नियन्त्रण दैवयोग से बड़ा बली हो तो समस्त रचनात्मक प्रक्रिया बड़ी तेज़ी से समाप्त होती है। कलाकार आनन्द और प्रकाश का अनुभव करता है और ऐसी अनुभूति में स्मृतियाँ अथवा प्रतिमाएँ तुरन्त अपना-अपना मूल्य और मूल्य के अनुसार स्थान पाकर सहज ही रचना का सृजन कर देती हैं।

एड्लर का विचार है कि कला उच्चता की अन्तर्जातप्रवृत्ति की शोधिता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन समाज, व्यवसाय, और प्रेम व्यापार के अनुकूल करना पड़ता है।

इस अनुकूलता के प्रयास में उसके घर का उसके प्रति व्यवहार, उसकी परिस्थिति, और उसके शारीरिक लक्षण उसे सहायक अथवा बाधक होते हैं। एड्लर का विश्वास है कि परिवार की सीमा में बच्चे के प्रति इतना अनुचित व्यवहार होता है कि उसमें आत्महीनता की भावना ज़ोर पा जाती है। बच्चे के आत्मभाव और समाजभाव के सामञ्जस्य में, जिसके ऊपर ही उसका नियमित विकास निर्भर है, बाधा पड़ जाती है। क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की उत्तेजना से ही वह उन्नति करता है और समाज से पददलित किये जाने पर हतोत्साह हो जाता है, जैसे ही उसमें आत्महीनता का भाव उत्पन्न होता है वैसे ही मानसिक क्षतिपूर्ति के लिए उसमें उच्चता का भाव आ जाता है। यह उच्चता का भाव अचेतन में रहता है और तर्क, सहानुभूति तथा सहयोग के सामाजिक मानदण्डों से दबा रहता है। साधारण पुरुष को समाज का भय उच्चता के भाव से प्रेरित क्रियाओं को खुल्लमखुल्ला नहीं करने देता। परन्तु कलाकार आत्मोत्कृष्टता का पार्ट बड़ी गम्भीरता से धारण करता है। वह इस संसार से विमुख होकर कल्पनाओं के एक ऐसे विचित्र संसार की सृष्टि करता है जिसमें उसे उस मान, शक्ति, और प्रेम का प्रत्यक्ष निरूपण होता है जिसकी उपलब्धि इस कठोर संसार में उसके लिए असम्भव थी। कलाकार कहे जाने का वह तभी अधिकारी होता है जब वह अपनी कल्पनाओं को ऐसा साकार रूप प्रदान करता है जो सब को ग्राह्य हो। स्नायुव्यतिक्रमी अपनी कल्पनाओं को ऐसा रूप देने में असफल रहता है और विक्षिप्तिग्रस्त हो जाता है।

रचनात्मक प्रक्रिया की मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं में अचेतन की सबल प्रवृति पर ज़ोर दिया गया है। अचेतन की सबल प्रवृत्ति साधारण भाषा में अन्तर्प्रेरणा (इन्सपिरेशन) कहलाती है और वह एक पुरातन सामान्य प्रत्यय है। अंग्रेजी का शब्द अन्तर्प्रेरणा के लिए इन्सपिरेशन है जिसकी क्रिया इन्सपायर है। इन्सपायर का अर्थ साँस भरना है। प्राचीन-काल में जब कोई भविष्यवक्ता असाधारण शक्ति से बोलता था तो यह समझा जाता था कि उसे भगवान् ने अनुप्राणित किया है। इसी प्रकार जब कोई कवि असाधारण स्वर से बोलता था तो भी यही समझा जाता था कि उसे किसी देवता अथवा देवी ने अनुप्राणित किया है। इसी अन्धविश्वास ने प्राचीन जगत् को एक ऐसी कलादेवी की सूझ दी जिसकी अलौकिक प्रेरणा से कवि को काव्यसिद्धि होती है। भारतीय परम्परा में भी ज्ञान अथवा अभ्यास सिद्धि के अतिरिक्त इष्ट-सिद्धि भी कवित्व का विश्वास है। प्लैटो अपनी 'आयोन' और 'फ़ैडरस' में अन्तप्रेरणा का यूनानी विचार प्रकट करता है। 'आयोन' में वह कवि का वर्णन इस प्रकार करता है—"कवि एक सूक्ष्म, पलायमान और पवित्र वस्तु है, और तब तक युक्तिहीन है जब तक कि उसे दैविक प्रेरणा नहीं मिलती और स्वयं इन्द्रियशून्य और बुद्धिविहीन नहीं हो जाता। जब तक वह इस अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक वह शक्तिहीन है और अपनी गूढ़ोक्तियाँ कहने में असमर्थ है।" 'फैडरस' में प्लैटो कहता है— कला से नहीं वरन् दैविक प्रमत्तता से कवि चितोत्सेक तक अग्रसर होता है। मध्यकाल में अन्तर्प्रेरणा का सिद्धान्त धार्मिक हो गया। एक्कीनाज़ ऐसी अन्तर्प्रेरणा को ईश्वरीय

प्रसाद मानता है, जो ईसाई धर्म के सत्यों की पुष्टि करती है और ऐसी अन्तर्प्रेरणा को दानवीय प्रलाप मानता है जो धर्मविरुद्ध बातों की पुष्टि करती है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में अन्तर्प्रेरणा की ओर भावना तर्कमूलक थी और आलोचक उसे अनुचित उत्साह कहकर घृणा की दृष्टि से देखते थे। आधुनिक काल में रोमान्सवाद के पुनर्जागरण से अन्तर्प्रेरणा फिर कला से सम्बद्ध होने लगी है। ब्लेक तो स्पष्टता से घोषित करता है कि उसे अपनी कविताएँ दिव्यात्माओं द्वारा प्रदान हुईं। मानवीय कल्पना को वह ऐसी दिव्यदृष्टि समझता है जो आत्मोन्मूलन और अन्तर्प्रेरणा की दशा में आती है। जर्मनी में व्यक्तिस्थित आत्मा का स्वातन्त्र्य और उसकी श्रेष्टता बड़ी दार्शनिक सूक्ष्मता से प्रतिपादित हुई। इसका परिणाम कविता में यह हुआ कि कवि अपनी अन्तर्प्रेरणा और अपनी अन्तर्दृष्टि को रचनात्मक उद्देश्य के लिये सब कुछ समझने लगा। उसका यह पूर्ण विश्वास हो गया कि प्रतिभाशाली कवि अपनी शक्ति अपने से परे किसी महान् शक्ति से लेता है और वह स्वयं उस शक्ति का केवल प्रवहण है। उसका यह भी विश्वास उतना ही दृढ़ हो गया कि कवि स्थिरदृष्टि से जीवन की झाँकी लेता है और जीवन के सच्चे रूपों का साक्षात् दर्शन करके उनका अपनी कविता में पुनर्सृजन करता है। इग्लैण्ड में वर्ड्सवर्थ और शैली दोनों कविता के इसी सिद्धान्त से प्रभावित थे। वर्ड्सवर्थ का कहना है कि कविता मन और प्रकृति के संयोग का फल है। प्रकृति मन को कितना ऊपर उठा सकती है, इसका अन्दाजा 'टिन्टर्न ऐबे' के इस पद्यांश[१] से स्पष्ट है जो प्रकृति के रूपों का मनुष्य के मन पर प्रभाव वर्णित करता है:—

नॉर लेस, आई ट्रस्ट,
टु देम आई मे हैव ओड ऐनअदर गिफ्ट,
ऑफ ऐस्पेक्ट मोर सब्लाइम, दैट ब्लेसेड मूड,
इन व्हिच द बर्देन ऑफ द मिस्ट्री,
इन व्हिच द हैवी एण्ड द वीयरी वेट
ऑफ़ ऑल दिस अनइण्टेलिजिबिल वर्ल्ड,

---

[१] Nor less, I trust,
To them I may have owed another gift,
Of aspect more sublime, that blessed mood,
In which the burthen of the mystry,
In which the heavy and the weary weight
Of all this unintelligible world,

इज़ लाइटेण्ड :—दैट सीरीन ऐण्ड ब्लेसेड मूड,
इन व्हिच द एफेक्शन्स जेण्टली लीड अस ऑन,
अनटिल, द ब्रैथ ऑफ़ दिस कारपोरल फ्रेम
एण्ड इविन द मोशन ऑफ़ आवर ह्यूमन ब्लड
ऑलमोस्ट सस्पेण्डेड, वी आर लेड एस्लीप
इन बॉडी, एण्ड बिकम ए लिविङ्ग सोल :
व्हाइल विद एन आई मेड क्वाएट बाई द पावर
ऑफ़ हारमनी, एण्ड द डीप पावर ऑफ़ जॉय,
वी सी इन्टु द लाइफ ऑफ़ थिंग्ज़

प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित होकर जब वर्ड्सवर्थ ध्यानावस्था में प्रवेश करता था तो वह इस अगम संसार के सब क्लेषों से मुक्त हो जाता था और जब प्रकृति का अनुराग अग्रणी होता था तो वह धीरे-धीरे अपनी उस चरम सीमा तक पहुँच जाता था जिसमें वह अपने शरीर की किसी गति का अनुभव नहीं करता था और शान्त और आनन्दमय हो कर जीवन का सारतत्त्व समझ लेता था । आगे चलकर इस कविता में वह यह भी कहता है कि प्रकृति का निरीक्षण प्रकृति के सच्चे प्रेमी को ईश्वर की व्यापकता का भी ज्ञान देता है । जो प्राप्त गति वर्ड्सवर्थ ने वर्णित की है उसकी तुलना समाधि अवस्था से ही की जा सकती है, केवल ब्रह्मात्मैक्य के ज्ञान की कमी है । शैली 'डिफ़ेन्स ऑफ़ पोइट्री, में इस मत का पोषण करता है कि जब ईश्वरीय मन मानवीय मन पर क्रीड़ा करता है तब ही कवि-जीवन की नित्य सत्य प्रतिमाएँ व्यञ्जित करने के लिए विवश हो जाता है। मनोविश्लेषण अन्तर्प्रेरणा के प्रत्यय को धार्मिक रहस्य से नग्न कर देता है और उसे अचेतन का एक विशेष व्यापार कहता है । रचनात्मक क्रिया में वे प्रतिमाएं अथवा वे प्रतिबिम्बमूल जो मस्तिष्क में अमिट रूप से अङ्कित रहते हैं पुनर्जीवित हो उठते हैं और अचेतन उन्हें चेतना अवस्था के चित्र की तरह उपस्थित करता है ।

आधुनिक पश्चात्य कलामीमांसा के अनुसार रचनात्मक प्रक्रिया चेतन और अचेतन व्यापारों का समन्वय है, और स्पष्टतः मनोविश्लेषण से प्रभावित है। इसी प्रभाव के

Is lightend:—that serene and blessed mood,
In which the affections gently lead us on,
Until the breath of this corporal frame
And even the motion of our human blood
Almost suspended, we are laid asleep
In body, and become a living soul :
while with an eye made quiet by the power
Of harmony, and the deep power of joy
we see into the life of things.

परिणामस्वरूप अब कलामीमांसा भावव्यञ्जकता पर ही पूरी तरह आश्रित होती जाती है और क्रोचे और उसके अनुयायियों के ज्ञानप्राधान्यवाद विषयक मत से विमुख होती जाती है। भावप्राधान्यवाद यूनानी साहित्यशास्त्र का विशेष लक्षण था और यह विशेष लक्षण अब तक पुष्ट है। पुराना भारतीय विचार भी भावप्राधान्यवाद विषयक है। अन्तर केवल इतना है कि पाश्चात्य विचार मन के भीतरी स्तरों में प्रविष्ट है और प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है। इसके विपरीत भारतीय विचार ऊपरी स्तरों तक सीमित है पर इन सीमाओं के भीतर भारतीय विचार ने बड़ी सूक्ष्मता से मन के गुणों और व्यापारों का विश्लेषण किया है। भारतीय विचार की इस विशेषता के दो कारण प्रतीत होते हैं—एक तो प्रमुख भारतीय दर्शनों में आत्मा को मन के परे माना है और मन को एक प्रकृतिजन्य इन्द्रिय निश्चित किया है, जब कि साधारण पाश्चात्य विचार मन को ही सर्वस्व समझता है; दूसरे, भारतीय मस्तिष्क की प्रवृत्ति ऐकान्तिक तत्त्वों की खोज की ओर अधिक रही है। फलतः भारतीय साहित्यशास्त्र में भाव निरूपण बड़ा विस्तृत और सुघटित है। परन्तु हम भारतीय भाव-निरूपण पर आने से पहले पाश्चात्य भाव-निरूपण देंगे, जिससे दोनों की तुलना सुगमता से हो जाय।

यूनानी आलोचकों की पहले ही से सूझ थी कि साहित्य और कला प्रकृति की तरह ऐसे भावों को उत्तेजित करते हैं जो उसके ज्ञानात्मक अस्तित्व के आधार होते हैं। प्लैटो ने होमर और अपने देश के नाटककारों को इसी विचार से दोषपूर्ण कहा कि उनके भाव और अन्तर्वेग कुनीति और अधर्म से सम्बन्धित थे और उनका निरूपण इतना चित्ताकर्षक होता था कि पाठक अथवा दर्शक बुराई की ओर ही अग्रसर होता था। अरिस्टॉटल ने भी करुण की परीक्षा भावोत्तेजना के आधार पर की। उसका यह निर्णय था कि करुण शोक और भय इन दोनों स्थायी भावों को उत्तेजित करके इनका शोध करता है और इस शोध से प्राप्त हुआ आनन्द ही करुण का विशिष्ट रस है। लॉज्जायनस ने उसी साहित्य को उत्कृष्ट माना जो परिणाम में सदा, सर्वत्र, और सब को आनन्दप्रद हो। प्राचीन यूनान के अनुकूल यूरोप के सब ही कालों और देशों में आलोचकों ने साहित्य और कला को सुख के सिद्धान्त से मापा। इस माप का साधारण विवरण यह है। यदि साहित्य से उत्तेजित भाव अवांछनीय सुख दें तो साहित्य दूषित है और यदि साहित्य से उत्तेजित भाव वांछनीय सुख दें तो साहित्य प्रशंस्य है। साहित्य से केवल कलात्मक सुख का उद्रेक होता है। इस विचार का पोषक कहीं-कहीं कोई आलोचक ही होता था। आधुनिक काल में तत्त्ववेत्ता और आलोचक दोनों कला को भावोत्तेजन से सम्बन्धित करते हैं। कान्ट का कहना है कि कला का अस्तित्व रचना के फलस्वरूप है और कलात्मक प्रतिभा दूसरे प्रकार की प्रतिभा से भाव के आधार पर ही अलग की जा सकती है। कला कलाकार के भावों की व्यञ्जना अथवा उनका निरूपण है। हीगल कहता है कि कवि उस सामग्री पर क्रियाशील होता है जिसे उस के अन्तर्वेग उसे प्रदान करते हैं और उस सामग्री को प्रतिमा के रूप में प्रत्ययोत्पादक शक्ति के सम्मुख उपस्थित करता है। शौपनहावर कला को क्रियात्मक शक्ति

से निवृत्ति पाने का साधन मानता है। उसके मतानुसार कलाकार और कलानुभवी दोनों जीवन से छुटकारा पाने के भाव से प्रेरित होते हैं। हाउसमैन का कहना है कि कविता बोध का सम्प्रेषण ही नहीं करती वरन् भाव का सञ्चार भी; वह पाठक की इन्द्रिय को ऐसे स्पन्दन की अनुभूति देती है, जिसका अनुभव स्वयं कवि को हुआ था। एलैग्ज़ेण्डर कला को विषय सम्बन्धी और निर्माणात्मक मनोवेगों का सम्मिश्रण मानता है। टी० एस० इलियट भी इस मत का है कि कलात्मक अनुभव भावों के संयोग का फल होता है।

कला में भावों का प्राधान्य तीन विचारों से स्पष्ट हो जाता है। पहला विचार तो कलाहेतुकला के सिद्धान्त की असफलता है। इस सिद्धान्त का उद्देश्य कला का स्वातन्त्र्य और उसकी अवलिप्तता स्थापित करना है। इस सिद्धान्त के पोषक मानते हैं कि कलाकृति आरोप की गई हुई वस्तु के तुल्य है। भला कला उस वस्तु के तुल्य कैसे हो सकती है जिसकी वह प्रतीक है? प्रतीक तो स्थानापन्न वस्तु है, वस्तु का प्रतिरूप है, स्वयं वस्तु नहीं है। इस कथन में केवल इतना सत्य है कि कलाकृति प्रतीक है। कलाहेतुकलावादियों की न यह बात माननीय है कि कला में रूप और वस्तु एक हैं यदि यह मान लें तो रूप को प्रतीक कैसे कह सकते हैं। कला के लिये कला से बाहर के भावोत्तेजना निर्देश विषयक अवश्यम्भावी हैं। शिल्पी के नाते कलाकार कलाकृति का उसके स्वातन्त्र्य में अवश्य अनुभव करता है और इन्द्रियजन्य सुख का साधन मानता है। परन्तु ललित कला का रचयिता इस रहस्य को अच्छी तरह समझता है कि शिल्पी का ध्यान कलाकृति के स्वातन्त्र्य की ओर इस कारण जाता है कि वह उन विचारों और प्रतिमाओं को व्यवस्थित प्रतीकों के रूप में अभिव्यक्त करने में आत्मविभोर होता है, जो नीतिशास्त्र, तत्त्वविद्या, धर्म, विज्ञान और प्रकृति से उत्तेजित भावों द्वारा आते हैं। दूसरा विचार यह है कि कलाकार इन्द्रियों को प्रभावित करने के साधनों का उपयोग करते हैं। ऐसे साधनों द्वारा कलाकृति भावों से अचिरेण निर्दिष्ट हो जाती है। घटनाओं, कार्यों, वस्तुओं, और विचारों से सम्बन्धित भाव इन साधनों द्वारा उचित संवेदनार्थ मूर्त प्रतिमाओं में स्थिर हो जाते हैं। कवि लोग भी अपने दार्शनिक विचारों को मूर्त प्रतिमाओं के रूप में प्रकाशित करते हैं; इस कारण से थोड़े ही कि उन्हें प्रत्ययों से शरम लगती है वरन् इस कारण से कि वे अपने अन्तर्वेगों को कलासाधनों से सम्बद्ध कर अनायास और सुस्पष्टतया दूसरों को प्रदान कर सकें। तीसरा विचार यह है कि कलाकारों की रुचि प्रायः मूर्तता के लिये होती है। थोड़े से प्रत्यय ही ऐसे हैं जो भावों को जागृत और स्थिर कर सकते हैं। मूर्ति भाव को जागृत करती है।

अरिस्टॉटल ने अपनी 'पोइटिक्स' में शोक और भय दो ही भावों का उल्लेख किया है। कारण यह है कि वह करुण के विवेचन में व्यस्त था। परन्तु भाव बहुत हैं; जैसे हर्ष, विषाद, तृप्ति, अतृप्ति, राग, द्वेष, आश्चर्य, उत्साह, निवृत्ति, प्रवृत्ति इत्यादि। पश्चात्य कलामीमांसा में भाव की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं, पहली अवस्था मूलप्रवृत्ति की, दूसरी अवस्था अन्तर्वेग की और तीसरी अवस्था भावगति की। भाव का जीवन इन तीनों अवस्थाओं में होकर विकसित होता है। मूलप्रवृत्ति की अवस्था में व्यक्ति समग्र स्थिति

से एक ऐसी उत्तेजना छाँट लेता है जिस की ओर उसके संस्कार उसे आकर्षित कर लेते हैं। इस उत्तेजना की प्रतिक्रिया में व्यक्ति शारीरिक क्रिया में प्रवृत्त हो जाता है। साधारण रूप से यह शारीरिक क्रिया शरीर के बाहर जाती है और उत्तेजना देने वाले विषय से व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित करती है। भूख, प्यास, लिङ्ग, आत्मरक्षा, इत्यादि मूलप्रवृत्तियाँ हैं। अन्तर्वेगीय प्रतिक्रिया में जिस क्रिया का सञ्चालन होता है वह शरीर से बाहर नहीं जाती और शरीर के भीतर ही भीतर समाप्त हो जाती है । अन्तर्वेगीय प्रतिक्रिया की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें एक से अधिक उत्तेजनाएँ कार्यशील होती हैं और कार्यार्थ प्रकार-प्रकार के ढङ्ग व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित करती हैं। इसी कारण इस दशा में व्यक्ति को मानसिक सङ्घर्ष का अनुभव होता है। इस दशा में व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति भी व्यक्ति की कुछ क्रियाओं को निश्चित करती है। इन्हीं कारणों से अन्तर्वेगीय प्रतिक्रिया मूल-प्रवृत्यात्मक प्रतिक्रिया से अधिक जटिल होती है और सभ्यता के विकास में अगला क्रम चिह्नित करती है। प्रेम, देशप्रेम, प्रकृतिप्रेम, परोपकार, स्वार्थ, खेद इत्यादि अन्तर्वेग हैं। तीसरी अवस्था में व्यक्ति ध्यानशील हो जाता है। वह घटना से बहुत सी उत्तेजनाएँ छाँट लेता है और उन्हें सञ्चित संस्कारों से संयुक्त करता है । इसी संयोजना में व्यक्ति की प्राथमिक और प्रायोगिक क्रिया प्रादुर्भूत होती है। यह क्रिया भी शरीर तक ही सीमित रहती है। सानुकम्पा, खिन्नता, उत्कर्ष, रसमयता, इत्यादि भावगतियाँ हैं। तीनों अवस्थाओं में भाव अनिच्छित होता है क्योंकि तीनों अवस्थाएँ क्रियाशील होने की पूर्वप्रवृत्ति की सिद्धि हैं। वैसे तो भाव तीनों अवस्थाओं में एक ढङ्ग से ही काम करता है, परन्तु पहली अवस्था में क्रिया बहिरङ्गी होती है और अगली अवस्थाओं में अन्तरङ्गी हो जाता है । बहिरङ्गी क्रिया से अन्तरङ्गी क्रिया की ओर परिवर्तन में, और अकस्मात् आविर्भूत क्रिया के नाते मूलप्रवृत्ति अन्तर्वेग, और भावगति की विभिन्नता में, मनुष्य के जीवन की समस्त प्रगति चिह्नित है, सुगमता से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी इन तीनों अवस्थाओं का प्रयोग करके मनुष्य ने प्रकृति पर नियन्त्रण स्थापित किया है। भाव मनुष्य के अधिकार में कार्यक्षम यन्त्र है। भाव तीनों अवस्थाओं में संस्कारों का वह समुच्चय है जिसके द्वारा परिस्थिति के विशेष लक्षणों से सम्पर्क होते ही प्राणी पूर्वप्रवृत्तियों के अनुसार प्रतिक्रिया-शील हो जाता है।

वैसे तो भाव तीनों अवस्थाओं में पुनरुत्पादक और उत्पादक होता है, परन्तु क्योंकि दूसरी और तीसरी अवस्थाओं में वाह्यगुणकों का जोर कम हो जाता है और आन्तरिक गुणकों का जोर बढ़ जाता है, और क्योंकि अन्तिम अवस्था में भाव के विभिन्न तत्त्व एकमेल हो जाते हैं,-दूसरी और तीसरी अवस्थाओं में भाव विशेष रूप से उत्पादक होता है और तीसरी अवस्था में दूसरी अवस्था से भी अधिक उत्पादक होता है । पुनरुत्पादन पहली अवस्थाओं में अधिक होता है। पुनरुत्पादक और उत्पादक भाव अहेतुवादविषयक (एटैलियो-लौजीकल) और हेतुवादविषयक (टैलियोलौजीकल) संज्ञाओं में परिभाषित हो सकते हैं। जो मनोवैज्ञानिक अहेतुवाद की रीति से भाव को समझते हैं वे सेन्द्रिय-क्रियावाही यन्त्ररचना (सैन्सरी मोटर मिकैनिज़म) की उन असङ्कल्पित चेष्टाओं की ओर ध्यान देते हैं जो

उत्तेजनाओं के अनुभव में परिवेष्टित होती है। यदि भाव अपनी तीनों अवस्थाओं में इस प्रकार समझा जाय तो वह केवल उन आवृत्यात्मक क्रियाओं का द्योतक होगा जिनका स्पष्टीकरण या तो शरीरविज्ञान सम्बन्धी या स्नायुविज्ञान सम्बन्धी संज्ञाओं में कर सकते हैं। भाव के जीवन का विशदीकरण बिना किसी ऐसे हेतु की सहायता के होगा जो हेतुवाद के अनुसार आवृत्यात्मक क्रियाओं में पाया जाता है या यान्त्रिक प्रतिक्रियाओं में पाया जाता है। इसके विपरीत हेतुवाद भाव का विशदीकरण उस साधन-साध्य सम्बन्ध की संज्ञाओं में होगा जो क्रिया और उसके उद्देश्य में होता है। हेतुवाद से परिभाषित भाव उद्देश्यपूर्ति की ओर ही निर्दिष्ट होता है, और इस निर्देश से उसका कोई प्रयोजन नहीं कि क्रिया किस प्रकार की है। परन्तु न तो भाव विस्तार और न उसका पूर्वगृहीतपक्ष, कलासम्बन्धी अनुभव, ही पूरी तरह से समझ में आ सकता है यदि अहेतुवादसम्बन्धी और हेतुवादसम्बन्धी दोनों तरह की परिभाषाओं का सहारा न लिया जाय। भाव में अहेतुवादविषयक और हेतुवादविषयक दोनों गुणक उपस्थित होते हैं। भावसम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ हेतुरहित अथवा आवृत्यात्मक भी होती हैं और हेतुपूर्वक अथवा प्रादुर्भूतकार्यरूपी भी होती हैं।

भाव की निर्हेतु दशा में अतीत का पुनरुत्पादन और पुनर्नियोजन होता है। निर्हेतु भाव से उत्पादित क्रिया जातिगत और आवृत्यात्मक होती है। वह इस बात की द्योतक होती है कि शरीर जातिगत स्थितियों, घटनाओं, वस्तुओं और विचारों की प्रतिक्रिया में स्वभावतः आवृत्यात्मक रूप से व्यापार करता है। इसी करण कला के अनुभवी को कलावस्तु से पूर्वपरिचय होने का भान होता है और भाव की क्रियाशीलता में अन्तःकरण में ऐसी प्रतिमाएँ आती हैं जो बार-बार आविर्भूत होती हैं और जिनसे कलाकृति सुबोध होती है। भाव के जाति-गुणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला कलाकार के भावों की प्रतीक है और उसकी विशेषता सार्वजनीनता है। भाव के जातिगत गुण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यों कलाकार अपनी रचनात्मक शक्ति से चकित होकर भ्रम में पड़ जाता है और क्यों कलाग्राही कला के ओजस्वी प्रभाव का कोई सुगम कारण नहीं दे सकता। अन्त में, भाव के जातिगत गुण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कभी-कभी कला क्यों अनैतिक और तर्कहीन होती है और अपकृष्ट करती है।

भाव की हेतु दशा में कल्पना की विधायक शक्ति का पता चलता है। हेतु भाव की क्रियाशीलता से ही कलाकार की विधायकता उत्पन्न होती है और वही उसकी वैयक्तिकता का आधार है। कला की विचित्रता के स्रोत भी हेतुभाव की क्रियाशीलता में ही मिलते हैं। इसी में उस उत्साह और उत्कृष्टता का स्रोत मिलता है जिसका अनुभव अगाध कला के ग्रहण में सदा होता है और इसी में प्रयास की उस अन्तः स्फूर्ति का स्रोत मिलता है जो मनुष्य शक्ति की योजना करती है और जो रचयिता के अन्तर्द्वन्द्व को मिटाकर एक उच्चतर स्तर पर उसकी पुनर्रचना करती है। रचयिता को फिर से रचना और कलाग्राही का फिर

से व्यवस्थापन करना—कला के ये तात्विक उद्देश्य हेतुभाव की क्रियाशीलता से ही सिद्ध होते हैं।

कलात्मक रचना न तो निर्हेतु भाव का ही काम है और न हेतु भाव का, वरन् दोनों के उचित सम्मिश्रण का। निर्हेतु भाव से प्राणिशास्त्र सम्बन्धी संस्कार (बायलौजीकल एपर्सैप्शन्समास) और सांस्कृतिक संस्कार (कलचरल एपर्सैप्शन्समास) जागृत होते हैं और वे कलाकार को ऐसे जीवित प्रतीक प्रदान करते हैं जो स्थितियों, घटनाओं, और क्रियाओं के रूप में कलाकृति की वस्तु बनते हैं। इस विचार से यह निर्विवाद सिद्ध है कि तत्त्वतः कोई कलाकार बिल्कुल नई वस्तु का निर्माण नहीं करता। उसे प्रतीक निर्हेतु भाव से प्राप्त होते हैं और उन के सङ्केतों की रचना और उनका संयोजन ही वह करता है। उदाहरणार्थ, निकट सम्बन्धी का शीत घातक एक जातिगत प्रतीक है जो 'औरेस्टिया' और 'हैम्लैट' के रूप में अलग-अलग आविभूर्त होता है। जाति नेता, शीत घातक भयावह यात्राएँ, प्रिया की खोज और उसकी प्राप्ति, कृतघ्नता का क्लेश, वीरों की लड़ाई, तूफान और नाश का भय, दरिद्रता का व्यग्र क्षोभ—ये सब प्रतीक जो कलाकृतियों में सुरक्षित हैं निर्हेतु भाव की क्रियाशीलता ही से मिले हैं और इन को कलाङ्ग देने में ही कलाकार का कौशल ह। जितने शक्तिशाली प्राणिशास्त्र सम्बन्धी संस्कार होते हैं उतने ही शक्तिशाली सांस्कृतिक संस्कार भी होते हैं। आत्मा का निरूपण और उसका परमात्मा से ऐक्य अथवा पार्थक्य, अनश्वरता, धन अथवा ज्ञान प्राप्ति के लिये शैतान को आत्मा का बेचना, जीवन क्लेश से मुक्ति की भावना, स्वतन्त्र धारणा और अटल भवितव्यता की समस्या, निश्चित कर्मगति—ये प्रतीक सांस्कृतिक हैं और नये-नये उपयुक्त सङ्केतों द्वारा कविता, काव्य और कला में निरन्तर प्रकट होते रहते हैं। वस्तु को व्यवस्थित करना और उसकी अभिव्यक्ति के लिये उपकरणों का संयोजन करना ये हेतु भाव के काम हैं। निर्हेतु भाव और हेतु भाव दोनों क्रियाशील हो कर कलाकार को ऐसी कृति सृजन करने के लिये समर्थ करते हैं जो कलानुरागी को चिर-परिचित होती हुई प्रतीत होती है और उसे कलाकार की तरह उच्चतर स्तर पर सुव्यवस्थित करती है। जैसे विज्ञान तर्क का सहारा लेकर मनुष्य जाति को जीवन व्यापार में गलतियों से बचाता है वैसे ही कला भाव का सहारा लेकर मनुष्य जाति को जीवन व्यवस्था में अपूर्णता से सम्पूर्णता की ओर ले जाती है। भाव की शक्ति चुम्बक शक्ति के अनुरूप है। इस शक्ति को कलाकार अपने सम्पर्क से कलाकृति को देता है। कलाकृति चुम्बक का गुण पाकर इसी शक्ति को कलानुरागी को देती है। इस प्रकार कला अपनी शक्ति का प्रयोग करके कलानुरागी को सत्य, शिव और सुन्दर की ओर आकर्षित करती है।

निर्हेतु और हेतु तत्त्वों के सम्मिश्रण से ही उस विरोध का समाधान हो जाता है जिसका भान कलानुभव में होता है। शेक्सपिअर के पात्रों के विषय में यह मत साधारण है कि वे व्यापक भी हैं और वैयक्तिक भी। व्यापकता निर्हेतु भाव द्वारा आई और वैयक्तिता हेतु भाव द्वारा। निर्हेतु भाव द्वारा प्राप्त जातिगत प्रतीक को कलाकार हेतु भाव के निर्देश में विशिष्ट सङ्केतों से व्यक्त करके एक बिल्कुल नई रचना कर देता है। कला अपकर्षता का

भान देती है और उत्कर्षता का भी। अपकर्षता का भान गर्वहर अतीत के पुनर्नियोजन से होता है और उत्कर्षता का भाव हेतु भाव द्वारा जीवन के सुव्यवस्थापन से। कला में खेल और उच्छृङ्खलता का भान होता है और गाम्भीर्य और शृङ्खलता का भी। खेल और उच्छृङ्खलता का भान निर्हेतु भाव की मुक्त क्रियाशीलता से होता है और गाम्भीर्य और शृङ्खलता का भान हेतु भाव के उपयुक्त अनुशासन से।

भाव का यह विस्तृत विवरण इस कारण दिया है कि कला की रचनात्मक प्रक्रिया और उसकी प्रभावोत्पादकता स्पष्ट हो जायें। इस विस्तार की आवश्यकता यों भी हुई कि प्रस्तुत विषय पर भारतीय आलोचनात्मक विचार की तुलना पाश्चात्य आलोचनात्मक विचार से भलीभाँति हो जाय।

जीवन के सच्चे भावों और काव्य के भावों में साधारणतः तो कोई अन्तर नहीं वरन् असाधारणतः अन्तर है। काव्य में उन भावों का प्रवेश होता है जो कलाकार के कल्पनात्मक ध्यान के विषय रह चुके हैं और इस कारण अपनी तीव्रता शान्त कर चुके हैं। ऐसे भाव स्पष्टतया रुचिकर होते हैं। कैसे रुचिकर होते हैं इसकी व्याख्या यह है। परिस्थिति की किसी विशेष वस्तु से उत्तेजित हो कर मनुष्य की मानसिक क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। यदि मनोवृत्ति के क्रियात्मक पहलू को रोक दिया जाय तो बजाय उस वस्तु से व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने के मनुष्य उस वस्तु पर ध्यानशील हो जाता है। मन की स्थिति अन्तर्वेगीय हो जाती है। अन्तर्वेग एक ओर तो चेतना की समग्र भूमि पर और दूसरी ओर उत्तेजना देने वाली वस्तु और उसकी परिस्थिति पर फैल जाता है। इस फैलाव से अन्तर्वेग की तीव्रता कम हो जाती है पर उसका विस्तार और उसकी व्यापकता बढ़ जाती है और मन पर आच्छादित होने के बजाय स्वयं उस के नियन्त्रण में आ जाता है। इस दशा में मन को ऐसा प्रतीत होता है कि उस वस्तु और परिस्थिति का अन्तर्वेगीय मूल्य केवल कल्पित है। इसी दशा में अन्तर्वेग अपनी तीव्रता छोड़ देता है और भोक्ता को अपना रस अथवा अमृत प्रदान करता है। भाव का रस में परिणत होना भाव सम्बन्धी इच्छा की क्रियात्मक प्रेरणा को रोकने और भाव का मन की ज्ञानात्मक प्रेरणा का विषय बन जाने पर आधारित है, क्योंकि इसी दशा में मनुष्य ध्यानशील और कल्पनामय होता है। रस और भाव के सम्बन्ध के विषय में श्यामसुन्दरदास यह लिखते हैं। "स्थायीभाव और रस में कोई बड़ा भेद नहीं है। स्थायीभाव का परिपाक ही रस है। कुछ विद्वानों का मत है कि घड़े अथवा घड़े में विद्यमान् आकाश में जो भेद है, वही भेद स्थायीभाव तथा रस में है। दूसरे लोग कहते हैं कि सीपी में रजत विषयक भ्रान्तिमव ज्ञान में और सत्य रजत विषयक ज्ञान में जो भेद है, वही भेद रस तथा स्थायीभाव में भी है। कुछ विद्वान् दोनों में उतना ही भेद मानते हैं जितना कि विषय तथा विषय-ज्ञान में हैं।" इन व्यक्त मतों में हमें अन्तिम मत ही माननीय है क्योंकि अन्तर्वेग का ज्ञानात्मक नियन्त्रण ही अन्तर्वेग को रसमय करता है।

रस उस लोकोत्तर आनन्द को कहते हैं जो काव्य से सहृदय पाठक को और अभिनय से सहृदय दर्शक को प्राप्त होता है। परन्तु रस को काव्य और अभिनय ही से सीमित करना समीचीन नहीं। रस समस्त ललित कलाओं की जान है। रस का आस्वादन पहले कलाकार स्वयं करता है और फिर अपनी प्रतिभा द्वारा उपकरणों के संयोजित सन्दर्भ में वह उसका ऐसा प्रवाह करता है कि कलानुरागी कला के अनुभव से प्रायः वही आनन्द पाता है जो कलाकार को मिला था। भारतीय साहित्यशास्त्रकारों ने काव्य सम्बन्धी रस का बड़ा सर्वाङ्गी विवेचन दिया है। रस को काव्य की आत्मा कहा है। वह काव्य सौन्दर्य का पहला सिद्धान्त हैं। अर्थ स्पष्ट हो, छन्द उत्तम हो, योजना सुन्दर हो, अनुप्रास और अन्य सुस्वर युक्तियाँ कर्णप्रिय हों, पर रस न हो, तो ऐसी रचना को हम काव्य नहीं कह सकते, केवल पद्य कहेंगे। काव्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें ये सब तत्व रससञ्चार के निमित्त संयोजित हों। काव्य के इसी लक्षण में काव्य रचना और रचनात्मक प्रक्रिया का रहस्य निहित है।

रस का स्वयं आस्वादन करना और उसका दर्शक अथवा पाठक को आस्वादन कराना, यही काव्य रचयिता का मुख्य कर्तव्य है। यह विवाद सर्वथा निरर्थक है कि दर्शक अथवा पाठक तो 'पत्थर के निर्जीव पदार्थ' सदृश हैं। उनके साथ रस का कोई सम्बन्ध नहीं है। रस की अभिव्यक्ति तो उन्हीं लोगों में होती है जिनके कार्यों का काव्य में वर्णन होता है अथवा जिनके कार्यों का अभिनय किया जाता है। गौण रूप से रस की अभिव्यक्ति अभिनेताओं में होती है। परन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि भाव में रस तब ही निकलता है जब वह चिन्तन का विषय हो जाता है। इस प्रकार राम-कृष्णादि जीवित काव्य विषयों में तब ही रस की अभिव्यक्ति मान सकते हैं जब वे अपने भावों का चिन्तन करने लगते हैं और उनकी ओर वे अपनी वैसी ही मनोवृति बनाने में समर्थ होते हैं जैसी रचनात्मक कलाकार की होती है। सार यह है कि रस की अभिव्यक्ति काव्य रचयिता में ही होती है और कला द्वारा पाठक अथवा दर्शक में होती है। कव्य रचयिता आन्तरिक अथवा वाह्य भावों के चिन्तन से रस निकालता है और पाठक अथवा दर्शक काव्य वर्णित भावों से। यह स्वयंसिद्ध है कि पाठक अथवा दर्शक काव्य रचयिता की तरह सहृदय मनुष्य है और स्वयं सदृश भावों का अनुभव कर चुका है अथवा उनका अनुभव करने में समर्थ है। इसी से तो वह काव्य अथवा अभिनय के भावों का सुस्पष्ट अनुभव कर उनके रस का आस्वादन करता है। कला प्रेमी में भावोत्पादकता की क्षमता अनिवार्य है। यह क्षमता उसे चाहे जीवन के विस्तीर्ण अनुभव से प्राप्त हुई हो, चाहे कलानुराग से। यह निश्चय हो जाने के पश्चात् यह दिखाना है कि किस प्रकार काव्य रचयिता अपनी रचना को रस से अनुप्राणित करता है।

कव्य के आधार नौ रस हैं। वे शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स अद्भुत और शान्त हैं। इनकी उत्पत्ति क्रमशः रति, हास, शोक, क्रोध, उसात्ह, भय, ग्लानि, आश्चर्य, और निर्वेद इन नौ स्थायी भावों से होती है। इन भावों को स्थायीभाव इस कारण कहते है कि ये काव्य अथवा अभिनय में आदि से अन्त तक स्थिर रहते हैं। दूसरे

भाव तो क्षण में आते हैं और स्थायीभाव की पुष्टि करके क्षण में चले जाते हैं। उनमें विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भावों को लीन करने की शक्ति नहीं होती। स्थायीभावों की संख्या स्थिर कर देना यह भारतीय मस्तिष्क की विशेषता है। जब तब इस संख्या पर साहित्य-शास्त्रियों ने आघात किया है। कुछ साहित्यशास्त्रियों का मत है कि पहले आठ भाव प्रवृत्तिमय हैं और नवां निर्वेद भाव निवृतिमय है। नाटक अथवा दर्शक का इस भाव से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये लोग आठ स्थायी भाव ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ साहित्यशास्त्री भावों की संख्या और बढ़ाने के मत में हैं। वे कहते हैं कि प्रेम चार प्रकार का होता है, अनुयोगी, प्रतियोगी, समयोगी, और भिन्नलिङ्ग। भिन्नलिङ्ग प्रेम से शृङ्गार रस की उत्पत्ति होती है, परन्तु पहले तीन प्रेम भी स्थायीभाव हैं और उन से क्रमशः भक्ति, वात्सल्य, और प्रेयान अथवा सौहार्द रसों की उत्पत्ति होती है। नौ की संख्या के पोषक निर्वेद भाव के वहिष्कार के विषय में कहते हैं कि निवृत्ति की भावना जीवन व्यापार में उतनी ही प्रबल है जितनी कि प्रवृत्ति की भावना और काव्य जीवन का प्रतिरूप होने के कारण उससे पराडमुख नहीं हो सकता। और प्रेम के तीन और भावों के आधार पर तीन और अधिक रस बढ़ाने के विषय में उनका मत है कि ये और तीन प्रकार के प्रेम पहले प्रकार के प्रेम की तरह रति ही में सम्मिलित हैं। इसका समान उदाहरण पाश्चात्य मनोविश्लेषण में मिलता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक सब प्रकार के प्रेम और साहचर्य को लिङ्ग का शोध कहते हैं। यह विचार फिर नौ की संख्या को स्थिर करता है। जुगुप्सा, शोक आदि को स्थायीभाव न मानने में कोई सार नहीं। परन्तु हम इस संख्या को नहीं मान सकते। मार्लो के 'डॉक्टर फौस्टस' का स्थायीभाव अपार शक्ति की तृष्णा और शेक्सपिअर के 'ऑथेलो' का स्थायीभाव प्रेमशंका हैं। ये भाव और दूसरे बहुत से जिन पर आधुनिक नाटक, उपन्यास और काव्य आधारित हैं नवों स्थायीभावों के अतिरिक्त हैं। भाव जीवन और प्राकृति की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होते हैं और भाव जातिगत और आवृत्यात्मक होते हुए भी अनेक प्रकार के होते हैं। संस्कृति की प्रगति तो सब कोई मानते ही हैं। नई संस्कृति नये स्थायी भाव देती है। आदर्शवाद और जीवन समस्या विषयक नाटक और उपन्यास सब के सब इन नौ स्थायी भावों के अन्तर्गत नहीं आते। अन्याय और अनम्यता के भावों पर गॉल्सवर्दी के नाटक 'सिल्वर बॉक्स' और स्ट्राइफ़' आधारित हैं। आदि से अन्त तक अन्याय का भाव 'सिल्वर बॉक्स' में और अनम्यता का भाव 'स्ट्राइफ़' के दोनों पक्षों में स्थिर है और ये भाव दूसरे नाटकों को भी बदले हुए सङ्केतों द्वारा अनुप्राणित कर सकते हैं। यदि खींच तान कर इन भावों को उन्हीं नौ भावों में मिला दिया जाय तो सन्तुष्टि नहीं हो सकती।

रस की उत्पत्ति के लिए स्थानीयभाव अकेला पर्याप्त नहीं माना गया। उसके साथ विभाव, अनुभाव, और सञ्चारीभावों का रहना आवश्यक है। विभाव उस वस्तु को कहते हैं जिसके अवलम्ब से स्थायीभावों की उत्पत्ति होती है या जो उनको उद्दीप्त करती हैं। इसी से विभाव के दो भेद हैं, आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन उस विभाव को कहते हैं

जिसके अवलम्ब से रस की उत्पत्ति होती है । भिन्न-भिन्न रसों में भिन्न-भिन्न आलम्बन होते हैं; जैसे शृङ्गार रस में नायक और नायिका, रौद्र रस में शत्रु, हास्य रस में विलक्षण रूप या शब्द, करुण रस में शोचनीय व्यक्ति या वस्तु, वीर रस में शत्रु या शत्रु की प्रिय वस्तु, भयानक रस में भयङ्कर रूप, वीभत्स में घृणित पदार्थ, अद्भुत रस में अलौकिक वस्तु और शान्त रस में अनित्य वस्तु । उद्दीपन वे विभाव हैं जो रस को उत्तेजित करते हैं, जैसे शृङ्गार रस के उद्दीपन करने वाले सखा, सखी, दूती,उपवन, चाँदनी इत्यादि । अनुभाव उन गुणों और कार्यों को कहते हैं जो चित्त के भाव को प्रकाश करते हैं, जैसे मधुर सम्भाषण और स्नेहयुक्त दृष्टिनिक्षेप । अनुभाव के चार भेद माने गये हैं : सात्विक, जिसका व्यवहार अद्भुत, वीर, शृङ्गार, और शान्त रसों में होता है, कायिक, शारीरिक क्रिया जिससे भाव का बोध हो, मानसिक, जो मन की कल्पना से उत्पन्न हो और आहार्य्य, भिन्न वेश धारण करने से उत्पन्न हुआ अनुभाव, जैसे नायक नायिका का और नायिका-नायक का वेश धारण करके स्थायीभाव का बोध कराएँ । हाव, अथवा वे स्वाभाविक चेष्टाएँ जिनसे संयोग के समय नायिका नायक को अकर्षित करती है, भी अनुभाव के अन्तर्गत आता है । सञ्चारीभाव वे भाव हैं जो रस के उपयोगी होकर, जल की तरङ्गों की भाँति, उसमें सञ्चरण करते हैं । ऐसे भाव मुख्य भावों की पुष्टि करते हैं और समय-समय पर मुख्य भावों का रूप धारण कर लेते हैं । स्थायीभावों की भाँति ये रस-सिद्ध तक स्थिर नहीं रहते, बल्कि अत्यन्त चञ्चलतापूर्वक सब रसों में सञ्चरित होते रहते हैं । इन्हीं को व्यभिचारी-भाव भी कहते हैं । साहित्य में नीचे लिखे तैंतीस सञ्चारी भाव गिनाए गये हैं, निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, विवाद, मति, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, स्मृति, अमष, गर्व, उत्सुकता, अवहित्थ, दीनता, हर्ष, व्रीड़ा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जड़ता, चपलता, और वितर्क । रस विभावों से उद्बुद्ध अनुभावों से परिवृद्ध, और सञ्चारी भावों से परिपुष्ट होते हैं ।

रस की उत्पत्ति के लिये गुण भी उतना ही आवश्यक है जितना स्थायीभाव के साथ विभाव, अनुभाव, और सञ्चारीभावों का सहयोग । गुण तीन तरह के होते हैं : माधुर्य, ओज, और प्रसाद । अनुस्वारयुक्त वर्णों के अधिक प्रयोग, टवर्ग के अभाव, और समास की न्यूनता से कविता में माधुर्य गुण आता है । टवर्ग, संयुक्त अक्षरों और दीर्घ समासों के अधिक प्रयोग से कविता में ओज गुण आता है । शब्द और अर्थ के उपयुक्त सहयोग और मनोहर शब्द योजना और समासों से कविता में प्रसाद गुण आता है । प्रसाद तो सब रसों की उत्पत्ति में सहायक होता हैं, ओज अद्भुत, वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों में सहायक होता है और माधुर्य, शृङ्गार, करुण, हास्य, और शान्त रसों में सहायक होता है। अलङ्कार और छन्द से भी रस की वृद्धि होती है परन्तु वे रस के लिए उतने आवश्यक नहीं जितने गुण । रसों के आपस में भिन्न और शत्रु मित्र होते हैं और रसोत्पादन में प्रतिभाशाली कवि इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं । रसों का आपस में ऐसा सम्बन्ध है । शृङ्गार रस के हास्य और अद्भुत मित्र हैं और करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और

भयानक शत्रु हैं। हास्य रस के शृङ्गार और अद्भुत मित्र हैं और भयानक, करुण, और वीर शत्रु हैं। अद्भुत रस का भयानक मित्र है और रौद्र शत्रु। शान्त रस का करुण मित्र है और वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य, और भयानक शत्रु। रौद्र रस का भयानक मित्र है और हास्य, शृङ्गार, अद्भुत शत्रु। वीर रस का रौद्र मित्र हैं और शान्त और शृङ्गार शत्रु। करुण रस का शान्त मित्र है और हास्य और शृङ्गार शत्रु। भयानक रस के अद्भुत रौद्र, और वीर मित्र हैं और शृङ्गार, हास्य और शान्त शत्रु। वीभत्स रस का कोई मित्र नहीं, उसका शत्रु शृङ्गार है। रस की वृद्धि मित्र रसों को एकत्रित करने से और शत्रु रसों के निष्कासन से होती है। यह सिद्धान्त शेक्सपिअर के अभ्यास से विपरीत है। शेक्सपिअर हास्य को अद्भुत, करुण, और भयानक रसों से अनिर्बंधेन मिला देता था। उसकी धारणा थी कि विरुद्ध रस एक दूसरे को सुस्पष्ट करते हैं, एक दूसरे को निष्फलीकृत करते, जैसे यदि किसी विल्कुल सफ़ेद समतल पर कोई काला चित्र हो तो दोनों के संन्निकर्ष से दोनों अधिक सुस्पष्ट हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार कविता नियमवद्ध हो जाती है। रसोत्पादन, लक्ष्य, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, और सञ्चारी भाव, उपकरण, उपयुक्त गुण का साहचर्य, शब्दयोजना, छन्द और अलङ्कार की मनोहरता, रससन्धि और रस-शान्ति का ध्यान—यही काव्य रचना है और इसी से रचनात्मक प्रक्रिया निर्दिष्ट होती है। कविता के ऐसे ही बहुत से निर्देश पाश्चात्य आलोचना में अरिस्टॉटल, लॉन्जायनस, होरेस, डाण्टे, बोयलो, पोप, जॉनसन, कॉलरिज, गटे, पो, हॉप्किन्स, ब्रिजैज और दूसरे बहुत से आलोचकों से मिलते हैं। उल्लेखनीय इस प्रसङ्ग में कॉलरिज और गटे हैं। कॉलरिज अपनी 'बायग्रेफ़िया लिटरेरिया के एक अध्याय में अभ्यासात्मक आलोचना का प्रतिपादन करते हुए उन गुणों को निर्दिष्ट करता है जिनसे विमल काव्यात्मक शक्ति का पता चलता है। पहला गुण पदयोजन का पूर्ण माधुर्य है। दूसरा गुण ऐसी वस्तुओं की छाँट जो कवि के निजी हितों और परिस्थितियों से बहुत दूर हों। गटे उससे सहमत है। उसका कहना है कि सर्वोत्कृष्ट कविता पूर्णतया अनात्मिक होती है। अनात्मिकता वस्तु की व्यञ्जना में भी आवश्यक है। जैसा अनुभव हो उसे ज्यों का त्यों, वैसा ही वर्णित किया जाय। तीसरा गुण विचारों का गाम्भीर्य और उनकी शक्ति है। गटे का भी यही कहना है कि यदि किसी कवि की वस्तु विचारपूर्ण न हो तो वह कवि असफल माना जायगा। पेटर, ब्रेडले, एलेग्ज़ेण्डर सब ही इसमें सहमत हैं। एलेग्ज़ेण्डर तो कहता है कि दो प्रकार की कविता होती है, सुन्दर और महान्। महान् कविता का सृजन विषय की महानता से होता है। चौथा गुण प्रबल भाव है। भाषा और प्रतिमाओं पर भाव का पूरा अधिकार स्थापित हो और वही विचारों को क्रम और ऐक्य प्रदान करै। गटे भी कहता है कि किसी कविता की असली शक्ति उसकी घटना अथवा उसकी प्रेरणा में होती है। कॉलिरिज इस गुण को तीसरा और तीसरे को चौथा गुण कह कर लिखता है। परन्तु महत्त्व में चौथा ही सब गुणों से अधिक है। स्थायीभाव की तुलना इसी से की जा सकती है। स्थायीभाव हमारे साहित्यशास्त्रियों ने काव्य रचना के लिए

प्रथम महत्त्व का माना है–रस तो चित्रित भाव का प्रभाव है–और इसी को पाश्चात्य आलोचकों ने प्रथम महत्त्व का माना है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिभाशाली कवि नियमों के नियन्त्रण में उत्कृष्ट कविता का सृजन कर सकता है। ड्राइडन का कहना है कि नियन्त्रण से कल्पना उत्तेजित होती है और कवि की प्रशंसा इसी में है कि कठिनाइयों का इतनी सुगमता से सामना करे कि कहीं उसकी कविता में कठिनाई का सामना करने का भान न दृष्ट हो। कवि का अन्तःकरण, इसकी वस्तु, इसका आधार तीनों एक दूसरे में घुल मिल जायें। जैसे क्रिकिट का प्रवीण खिलाड़ी क्रिकिट के नियमों को अचेतना में रखता है और गेंद में बल्ला लगाते समय मानों मूल प्रवृत्ति से प्रेरित होता है और स्वयं खेल के हाथों यन्त्रवत् हो जाता है, वैसे ही कलाकार कला के नियमों को अचेतन मन से पालन करता है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व कोई नहीं रहता और वह कलाकृति में ही लीन हो जाता है। यदि कलाकार इस गति को प्राप्त न हो तो कोरा शिल्पकार है। शिल्प चेतन सुप्रयोज्य क्रियाशीलता है और क्योंकि शिल्पकार सौन्दर्य के स्वप्नों से प्रभावित होता है, शिल्प प्रतिक्षण कला की ओर अग्रसर होती है। कला का विकास शिल्प से ही है। प्रत्येक कलाकार कलाकार भी होता है और शिल्पकार भी। शिल्पकार शिल्पकार ही होता है, यद्यपि उसमें कलाकार होने की क्षमता हो सकती है। जैसे ही शिल्पकार कल्पनामय भावना से अपनी सामग्री पर सामग्रीहेतु क्रियाशील होता है और उसमें अपने सौन्दर्य-स्वप्न की जागृत अनुभूति करता है वैसे ही वह कलाकार हो जाता है। कला के लिये आधार में आत्मसम्मिश्रण द्वारा ऐसे गुण निर्मित वस्तु में आरोप कर देना जो उसके आधार में नहीं हैं, आवश्यक है। कोरे नियमों को लेकर चतुरता से आधार पर क्रियाशील होना और वस्तु निर्माण करना तो शिल्प ही है, जो उपयोगी हो सकती है परन्तु सौन्दर्यविहीन रहेगी। भारतीय रसशास्त्र पद्धति से काव्य की रचना में प्रतिभाहीन चतुर कवियों की ओर से यही भय बना रहेगा। उत्कृष्ट प्रतिभा तो निर्भीक और अबद्ध क्रियाशीलता में अपने रचना नियम अपने आप निकाल लेती है।

रचनात्मक प्रक्रिया का यह विस्तृत वर्णन इस कारण अनिवार्य हुआ कि रचनात्मक आलोचना के विवेचन में कृति की रचनात्मक प्रक्रिया की आवृति होती है।

४

रचनात्मक आलोचक कलाकार होता है। कलाकृति की ओर उसकी प्रवृत्ति कल्पनामय होती है। जब वह किसी कृति को हाथ में लेता है तो वह उसे न तो किसी उपयोगिता का साधन मानता है और न उसे किसी प्रज्ञात्मक गवेषणा का आधार। वह कृति का निरीक्षण यही जानने के लिए करता है कि कलाकार ने इसका आधान कैसे किया। यह जान कर और फिर कृति का चित्त में पुनरुत्पादन करके वह उस पुनरुत्पादन को कुछ समय के लिये अपने चित्त ही में रोकता है। इस प्रकार उसके सम्मुख एक आकृति उपस्थित हो

जाती है जिसका विस्तार और जिसकी विशेषताएँ ही उसे पूरी तरह तद्वत् कर देती हैं। इस आकृति की रागरहित उपस्थिति को कलामीमांसा विषयक सादृश्य का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ एस्थैटिक सैम्बलैंस) कहते हैं। जब इस चित्तविमूर्त्त आकृति पर आलोचनात्मक दृष्टि पड़ती है तो रचनात्मक आलोचक को सूझ होती है कि यदि वह उस आकृति से यह बात हटा दे अथवा इसमें यह बात परिवर्तित कर दे अथवा कोई नई बात उसमें बढ़ा दे, तो कृति का रूप अधिक सन्तोषजनक होगा। कृति का ऐसा पुनरुत्पादित अनुभव रचनात्मक आलोचक में कलामीमांसा विषयक भावना उत्पन्न कर देता है। इस भावना से प्रेरित हो कर वह कृति के पुनरुत्पादन को एक नई रचना सशरीर करता है। यह नई रचना मौलिक रचना की बातों की काट-छाँट और कुछ नई सङ्गत बातों के जोड़ से निर्मित होती है। किसी कृति का ऐसा पुर्ननिर्माण रचनात्मक आलोचना कहलाता है। आन्तरिक पुनरुत्पादन में रचयिता के देश और काल से कृति का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और कृति का उस मन से भी सम्बन्ध स्थापित किथा जा सकता है, जिसने उसका सृजन किया था। फलतः वाह्य पुर्ननिर्माण में काट-छाँट द्वारा रचनात्मक आलोचक ऐसी त्रुटियों का सङ्केत कर सकता है जो देश और काल के पूर्वचिन्तन के कारण कृति में आ गईं अथवा मन के अप्रौढ़ विकास से उसमें आ गईं। ऐसी रचनात्मक आलोचना के उदाहरण हमें ब्रेडले की 'शेक्सपीरियन ट्रैजैडी' और चार्लटन की 'शेक्सपीरियन कौमेडी' में मिलते हैं। कृति की तरह कृतिकार भी रचनात्मक आलोचना का आधार बन सकता है। जैसे कृति के पुनरुत्पादन में अन्तर्दृष्टि की क्रियाशीलता आवश्यक होती है वैसे ही कृतिकार के पुनरुत्पादन में भी अन्तर्दृष्टि की क्रियाशीलता से रचनात्माक आलोचक सहज ही यह देख लेता है कि कृतिकार की किस निष्पत्ति की ओर भावना थी और क्या निष्पन्न कर सका, वह क्या करना चाहता था परन्तु क्या न कर सका, वह क्या कर डालता यदि उसे उचित अवसर प्राप्त होता। कीट्स एण्ड शेक्सपिअर' नामक पुस्तक में मिडिल्टन मरे ने कीट्स की ऐसी ही समीक्षा की है। रचनात्मक आलोचनाओं में यह कृति अतुलनीय है और इसका अध्ययन रचनात्मक आलोचकों को बड़ा शिक्षाप्रद होगा। फ्रैंक हैरिस ने 'द मैन शेक्सपिअर' में शेक्सपिअर का रचनात्मक पुर्ननिर्माण किया है, परन्तु फ्रैंक हैरिस का मैरी फिटन घटना से मास्तिष्काविष्ट हो जाना इस आलोचना में दोष ले आता है।

रचनात्मक आलोचक रचनात्मक कलाकार से केवल वस्तु चयन में भिन्न होता है। कलाकार जीवन और प्रकृति के दृश्यों और रूपों का कल्पनात्मक चिन्तन करता है और आलोचक कलाकारों और उनकी कृतियों का कल्पनात्मक चिन्तन करता है। साहित्यकारों की अलग-अलग रुचियाँ होती हैं और वे उसका उपयोग उन्हीं क्षेत्रों में करते हैं, जो उनके जन्म और उनकी वाह्य परिस्थितियों से निर्दिष्ट होते हैं। किसी साहित्यकार की रुचि वीरों के जीवन की ओर होती है और वह उनके शौर्य की प्रशंसा कथनात्मक पद्य में करता है; दूसरे साहित्यकार की ऐसे महान् पुरुषों की भाग्यदशा में अनुरति होती है, जिनका समृद्धि, के उच्चतम शिखर से आपत्ति के निम्नतम गर्त में अधोपतन होता है और जिन का अन्त

क्लेशकारी होता है, तीसरा साहित्यकार जीवन के उन वृहद् और सर्वतोव्यापिदृश्यों की ओर आकर्षित होता है, जो साधारण मनुष्यों के भाग्यों और प्रयासों के मनरोञ्जक चित्र हमारे सम्मुख लाते हैं। एक उपन्यासकार लन्दन के जीवनदृश्य चित्रित करता है; दूसरा उपन्यासकार अंग्रजी प्रान्तीय नगरों के मनुष्यों की झक, सनक और उत्केन्द्रता का प्रदर्शन करता है; तीसरा उपन्यासकार वैसैक्स के कृषकवर्ग, मध्यवर्ग, और छोटे रईसों के जीवन पर अपने विचारों से हमारा दिलबहलाव करता है। प्रत्येक कलाकार का कोई विचार-क्षेत्र होता है जहाँ वह हमें ले जाता है। रचनात्मक आलोचक हमें पुस्तकों के संसार में ले जाता है। उसकी कथावस्तु साहित्य होती है। स्वयं जीवन ने शेक्सपिअर को यह भावना दी कि महाभय की घटना में अश्लील परिहास का प्रभाव कितना भयानक होता है, और इसी भावना से प्रभावित होकर उसने अपने दुखान्त 'मैक्बैथ' में पोर्टर का दृश्य खींचा। इसी दृश्य से अनुप्रेरित होकर डेक्विन्सी अपने 'द नौकिङ्ग एट द गेट इन मैक्बैथ' नामक प्रशंसनीय निबन्ध में अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया का वर्णन करता है। यूनान से इटली को और इटली से इङ्गलैण्ड को कविता की कौतुकात्मक प्रगति ग्रे के पिण्डारिक स्तोत्र 'द प्रौग्रैस ऑफ पोइज़ी' का विषय है। होरेस, विडा, और बौयलो ने काव्यकला पर दीप्यमान कविताएँ रची हैं। स्वयं आलोचना ने पोप के 'ऐसे ऑन क्रिटीसिज्म' में रचनात्मक चमत्कार दिखाया है, जिससे चकित होकर सेण्ट ब्यूव अपने उद्गार इस प्रकार प्रलापता है: "जैसे ही मैं इस निबन्ध को पढ़ता हूँ, निरन्तर उसमें पोप के अन्तर्ज्ञ और सूक्ष्मबुद्धि होने के प्रमाण पाता हूँ। उसके चरणद्वय अमर सत्यों से परिपूर्ण हैं और ये सत्य अपने अन्तिम रूप में बड़े संक्षेप और बड़ी चारुता से व्यक्त हैं।"

रचनात्मक आलोचक कलाकृति का वैसे ही मूल्य करता है जैसे कलाकार जीवन का यदि कृति पूर्णतया कलात्मक है, तो रचनात्मक आलोचक अपनी रुचि और कृतिकार की प्रतिभा में अनन्यता का अनुभव करता है। परन्तु ब्रह्मजगत के सदृश कलाजगत अपूर्ण है और आदर्शीकरण के लिए अवकाश देता है। पूर्ण जगत में कला अवश्यमेव अस्तित्वहीन होगी। एक पुरानी कहावत है कि जब निर्दोषता ने संसार छोड़ा तो उसे दरवाजे पर कविता संसार में प्रवेश करती हुई मिली। यह कहावत बिल्कुल सत्य है। जैसे कलाकार वास्तविकता के संसार से ऊपर आरोहण कर जाता है वैसे ही रचनात्मक आलोचक कला के संसार से ऊपर आरोहण कर जाता है। कलाकृति आलोचक के मन को क्रियाशील कर देती है और मन रचनात्मक प्रक्रिया को दोहरा कर एक नई रचना की सृष्टि कर देता है। इस प्रकार रचनात्मक आलोचना एक कृति को दूसरी कृति के स्थान में कायम कर देती है और इस कृति का मूल्य कला के नाते आँका जाता है, निर्णयात्मक आलोचना के नाते नहीं। निर्णयात्मक आलोचक के पास कला के मूल्याङ्कन के लिए मानदण्ड होते हैं। वह रचनाओं का वर्गीकरण करता है और अपने नेतृत्व के लिये उन नियमों को ग्रहण कर लेता है, जिनसे प्रत्येक साहित्य वर्ग का निर्माण नियन्त्रित होता है। वह कृति की चीरफाड़ करता है और

उसकी वस्तु को उसके रचनाकौशल से अलग करके दोनों की निकट परीक्षा करता है। परीक्षा के अन्त में वह बता देता है कि वस्तु और रचनाकौशल दोनों में कलाग्राही को प्रभावित करने की कहाँ तक क्षमता है। वह एक कलाकृति की दूसरी कलाकृति से तुलना भी करता है और यह स्पष्ट कर देता है कि कृति ने किस परिमाण में कलात्मक पूर्णता पाई है। रचनात्मक आलोचक को रचनाओं के वर्गीकरण, उनकी चीरफाड़ और उनकी तुलना से कोई प्रयोजन नहीं। उसके लिये तो प्रत्येक कलाकृति व्यक्तिगत उत्पादन है जो पूर्णतया नवीन और स्वतन्त्र होती है और अपने ही नियमों से शासित होती है। रचनात्मक आलोचक कृति का स्वतन्त्र अवलोकन करता है और इस अवलोकन की व्यञ्जना ही आलोचक की हैसियत से उसका मुख्य कर्तव्य है। उसकी आलोचना कृति की ओर से अनुराग केन्द्र को हटा कर उसके पुनरुत्पादन की ओर अवश्य ले जाती है, परन्तु उसका उद्देश्य भी इसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं। प्रसङ्गतः बिना किसी निर्दिष्ट उद्देश्य के वह अपने पुनःसृजन में इतनी आलोचना दे देता है, जितनी कि कलाकार जीवन के पुनःसृजन में दे देता है।

५

जो रूप रचनात्मक आलोचना बहुशः लेती है अङ्कप्राधान्यवाद विषयक (इम्प्रैशनिस्टिक) है। रचनात्मक आलोचना से अङ्कप्राधान्यवाद विषयक आलोचना की ओर आना ऐसे है जैसे संश्लेषणात्मक सहजज्ञान से विश्लेषणात्मक सहजज्ञान की ओर आना। रचनात्मक आलोचना किसी कलाकृति से जितने अङ्क मन पर पड़ सकते हैं उतने लेकर उन्हें ऐक्य में सम्बद्ध कर देती है, और अङ्कप्राधान्यवाद विषयक आलोचना केवल एक अङ्क से ही सन्तुष्ट हो जाती है। शेक्सपिअर विषयक आलोचना इस भेद को स्पष्ट करती है। ब्रैडले का प्रयास रचनात्मक है। हैम्लैट की अकर्मण्यता के विषय में हैम्लैट और दूसरे पात्रों से जितने भिन्न चिह्न ब्रैडले के मन पर पड़ते हैं, वह उन सब की उलझन को भरसक सफलता से सुलझा देता है। श्लैजल और कॉलरिज अङ्कप्राधान्यवादी हैं। वे हैम्लैट के चरित्र से पड़े हुए एक ही अङ्क को लेकर उसकी अकर्मण्यता का कारण उसकी विचारशीलता, अथवा उसके चिन्तनशील मानसिक स्वभाव का अतिरेक, बताते हैं। गटे अङ्कप्राधान्यवादी है। वह हैम्लैट के विलम्ब का कारण उसकी सदसद्विवेक बुद्धि की अधिक संवेदनशीलता बताता है। इसी प्रकार वर्डर अङ्कप्राधान्यवादी है। वह हैम्लैट की कठिनाई उसकी वाह्य बाधाओं में निश्चित करता है। कलटन ब्रोक भी अङ्कप्राधान्यवादी है। वह हैम्लैट की कठिनाई उसके स्नायुव्यति क्रमात्मक दौर्बल्य, जो मानसिक धक्के से उत्पन्न हुआ, में पाता है। अन्त में एर्नैस्ट जोन्ज़ भी अङ्कप्राधान्यवादी है। उसके मतानुसार हैम्लैट की कठिनाई उसकी एडीपस-सम्बन्धी मानसिक ग्रन्थि (एडीपस कॉम्प्लैक्स) में स्थित है; हैम्लैट की अपनी मां के प्रति काम-चेष्टा है और यही उसे क्लॉडिअस का बध करने से रोकती है।

अङ्कप्राधान्यवाद संज्ञा चित्रकलाओं से सम्बन्धित है। उपन्यास और आख्यायिकाओं में जिसे यथार्थवाद कहते हैं, नाटक में जिसे प्रकृतिवाद कहते हैं, चित्रकलाओं में उसी को अङ्कप्राधान्यवाद कहते हैं। किसी वस्तु ने जो चिह्न कलाकार के मन पर छोड़ा है, उसी को शणपट पर उपस्थित करने का ढङ्ग अङ्कप्राधान्याद है। हॉलब्रॉक जैक्सन उसे तथ्यान्वेष कहता हैं। बर्नडशा उसे तथ्य का विवेक कहता है। उसके मत से अङ्कप्राधान्यवाद स्पष्ट व्यक्तिगत निश्चय के अनुसार जीवन के अनुभव करने का स्वभाव है और जीवन के अनुभव करने क रूढ़िगत अथवा परम्परागत ढङ्ग की प्रतिक्रिया है। अङ्कप्राधान्यवाद प्रकृति की उपस्थिति में क्षण-क्षण क सुख और आनन्द का आदर करता है। वह क्षणिक अनुभव को बहुमूल्य समझता है। उसका सम्बन्ध उन विषयों से है जो मनुष्य के लिये विशेष रूप से संवेदनात्मक होते हैं। पेटर का कहना है, "प्रति क्षण हाथ या चेहरे का रूप सम्पूर्णता की ओर प्रगतिशील होता है। पहाड़ी अथवा समुद्र की कोई विशेष झलक हमें और सब झलकों से अधिक प्रिय लगती है। कोई भावगति अथबा अन्तर्दृष्टि अथवा बौद्धिक उत्तेजना असाधारण रूप से वास्तविक और आकर्षक होती है—उसी क्षण के लिये जब वह उत्पन्न होती है।" अङ्कप्राधान्यवादी क्षणिक मोहन का अपनी पूर्ण आत्मा से उत्तर देता है और उस उत्तर को बिना किसी बौद्धिक विस्तार के उपयुक्त प्रतीकों में व्यक्त करता है। रौज़ैटी के शब्दों में अङ्कप्राधान्यवादी-विषयक कला एक क्षण की स्मारक है। ऑस्कर वाइल्ड का कहना है कि चाहे क्षण मनुष्य का भाग्य न निश्चित करे पर इसमें सन्देह नहीं कि क्षण से अङ्कप्राधान्यवादी का भाग्य अवश्य निश्चित होता है। कारण यह है कि किसी क्षण का जीवन अथवा प्रकृति सौन्दर्य जब वह कला में व्यक्त हो जाता है तो कलाकार की प्रतिष्ठा सदा के लिये बना देता है। क्षण और अपनी क्षणिक प्रतिक्रिया, ये ही अङ्कप्राधान्यवादी के लिये सब कुछ हैं। प्रत्यक्ष है कि अङ्कप्राधान्यवादी अपनी अनुभव रीति में यथार्थवादी होता है। यह मानना पड़ेगा कि उस का यथार्थवाद बुद्धि के ऊपर नहीं वरन् सङ्कल्प-प्रवृत्ति पर आधार-भूत है। अङ्कप्राधान्यवादी का यह उद्देश्य होता है कि उसका प्रकृतिपुनश्चित्रण यथाभूत है। इसीलिये बह अपने वर्णन से सब प्रकार के प्राज्ञ और पुस्तक-सम्बन्धी निर्देशों का वहिष्कार करता है। वह पूर्णतया व्यक्तित्वमय हो जाता है और अपने व्यक्तित्व के व्यक्तीकरणार्थ ही प्रकृति का उपयोग करता है। आत्मसंस्कृति ही उस के लिये जीवनसार है। तत्वतः, अङ्क-प्राधान्यवाद व्यक्तिगत मनाङ्क का शुद्धतम रूप है और मनुष्य की आत्मा को बहुमूल्य आध्यात्मिक अनुभवों से समृद्ध कर उसे उत्कृष्ट करता है।

साहित्य में अङ्कप्राधान्यवाद वैसे-वैसे ही बढ़ता गया, जैसे-जैसे मनुष्य की अपने वैशिष्ट्य की चेतना बढ़ती गयी। मध्यकाल में बहुत समय तक मनुष्य सामूहिक रूप से सोचते और भावपूर्ण होते थे। यह स्वभाव पुनरुत्थान काल के आदि तक बना रहा जब कि विज्ञान, तर्कप्राधान्यवाद, और प्रजातन्त्रवाद ने मनुष्य के विचारशीलन और भावुकता में क्रान्ति फैलाई। मनुष्य धीरे-धीरे रूढ़िशृङ्खलाओं से मुक्त हुआ। मुक्त होने की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ सब साहित्य में सुरक्षित हैं, वे विशेषतया कवि के प्रकृतिप्रेमभाव में दीख पड़ती

हैं। मिल्टन प्रकृति निरीक्षण किताबी दृष्टि से करता है और प्रकृति के वर्णन में व्यञ्जना के उन्हीं साधनों का प्रयोग करता है जो परम्परा से चले आये हैं। आगे चलकर जब हम टॉमसन के 'सीज़न्स' की जाँच करते हैं तो ज्ञात होता है कि चाहे उसके वर्णन आजकल के पढ़ने वालों को बड़े रोचक हों, वह प्रकृति के विशिष्ट दृश्यों से घनिष्टता नहीं स्थापित करता। ऋतुओं का जातिगत वर्णन करता है और उनसे जातिगत भावों का ही अनुभव करता है। उसके छोटे-छोटे वर्णनात्मक गीतों में अवश्य वैशिष्ट्यानुराग मिलता है। कूपर ने प्रकृति के विशिष्ट सुन्दर दृश्यों का वर्णन सत्यता से बड़ी मनोहर शैली में किया है। परन्तु उसके वर्णनों में प्रकृति-सौन्दर्य से उत्पन्न क्षणिक भावगतियों का कोई उल्लेख नहीं। वर्ड्सवर्थ और दूसरे रोमान्सवादी कवियों में प्रकृति से उत्पन्न क्षणिक मनाङ्क बाहुल्य में मिलते हैं। वर्ड्सवर्थ प्राकृतिक विषयों में अपने इष्ट-मित्र रखता था और इन से सहस्रों मनाङ्क स्मृति में एकत्रित किये था। शेली अपनी कविता में प्रत्येक तारे का, ओस की बूँद का, और उतरती हुई लहर का रङ्ग और वातावरण प्रदर्शित करता है। कीट्स जो सदा विचारों के जीवन की अपेक्षा विशुद्ध संवेदनाओं के जीवन के लिये चिल्लाता था, अङ्कप्राधान्यवाद का सार व्यक्त करता है। धीरे-धीरे मनुष्य ने उस विस्तृत सम्पत्ति पर अधिकार जमाया है जो उसके भोगार्थ प्रकृति के रङ्ग और रूप में सञ्चित थी और जिसे भोगने में रूढ़िवश असमर्थ था। सौन्दर्य क्षेत्र में मानव स्वातन्त्र्य उतनी ही कठिनाई से प्राप्त हुआ है जितनी कठिनाई से सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में।

अङ्कप्राधान्यवादी का स्वभाव किसी क़दर असाधारण होता है। जीवन के रङ्ग-विरङ्गे दृश्य में वस्तुएँ और क्रियाएँ नवीनतर और नवीनतर रूप धारण करती रहती हैं। अङ्कप्राधान्यवादी उस रूप को तुरन्त ग्रहण कर लेता है, जो उसे किसी क्षण प्रिय लगता है। उसे विरोध का भान ही नहीं और अनुभव के समय अपने अन्तःकरण को सब बन्धनों से मुक्त कर देता है। रूपों से उस के विचार, उसके आवेग और उसकी भावगतियाँ जागृत होती हैं। अङ्कप्राधान्यवादी की भावगतियों में कोई स्थिरता नहीं होती। 'ट्वेल्फ़्थ नाइट' के ड्यूक की तरह वह क्षण-क्षण बदलता रहता है। अन्तर केवल इतना है कि जब कि ड्यूक अपनी एक प्रिया के लिये स्थिर रहता है, अङ्कप्रधान्यवादी किसी प्रिया के लिये स्थिर नहीं रहता और न उस का मन ऊबता है। वह जानता है कि परिवर्तन जीवन का नियम है और एक ही रूप और रङ्ग के थोड़े-थोड़े बदलते हुए बहुत से भेद हैं। उसमें मानसिक चैतन्यता इतनी होती है कि वह सूक्ष्म परिवर्तनों को फ़ौरन पहचान जाता है और अपनी भावगति उनके अनुसार कर लेता है। वह उसी वस्तु का उसी भावगति में दोबारा अनुभव करने से चिढ़ता है। सूक्ष्म परिवर्तनों का अनुभव करना ही वह अपना परम धर्म समझता है। अन्तिम विशेषता अङ्कप्राधान्यवादी की यह है कि उसका मन इतना उर्वर होता है कि व्यञ्जनार्थ वह तुरन्त ही उपयुक्त प्रतिमा और शब्द उत्पन्न कर देता है।

साहित्य में अङ्कप्राधान्यवाद का फैलाव आलोचना में प्रतिबिम्बित है। जिस प्रकार

धीरे-धीरे वह साहित्य में फैला है, उसी प्रकार धीरे-धीरे वह आलोचना में फैला है। एलीजैबैथ के काल में जब कोई आलोचक किसी कृति की जाँच करता था तो उसमें यही देखता था कि कृति की भाषा कैसी है, वह आलङ्कारिक है या नहीं, उसका छन्द नियामानुकूल है या नहीं। जब नवशास्त्रीय काल का कोई आलोचक किसी कृति की जाँच करता था तो वह उसे मानदण्डों का सहारा लेता था, जैसे अनुकरण, वैदग्ध्य और रुचि। ये तीनों मानदण्ड कारण-विकृत होते थे और उनमें व्यक्तिगत अनुराग के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता था। साधारणतया साहित्यकृति एक वाह्य वस्तु समझी जाती है। रोमान्सवाद के पुनरुत्थान ने आलोचनात्मक विचारदृष्टि बदल दी। आलोचक ने कृति में रचना-कौशल सम्बन्धी गुणों का देखना छोड़ दिया, और न उसे कृति का सामान्य आकर्षण ही सन्तुष्ट करता था। वह कृति से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने लगा और इसी सम्पर्क के आनन्द को अपनी आलोचना में व्यक्त करने लगा। उसके अभ्यास में यह परिवर्त्तन भावना और कल्पना के सहयोग से हुआ। जैसे -जैसे आलोचक सूक्ष्मविवेकी होता गया, वैसे-वैसे ही वह साहित्यकृतियों से उद्भूत आध्यात्मिक अनुभवों की सूक्ष्म विभिन्नताओं के लिए संवेदनशील होता गया। परिवर्तन की यह प्रक्रिया आलोचनात्मक शब्दभण्डार के विकास में देखी जा सकती है। जहाँ कि पुराना आलोचक थोड़ी सी संज्ञाओं का प्रयोग करता था जैसे उपयुक्त, सुन्दर, दोषपूर्ण, शब्दबाहुल्य, भावबाहुल्य, अप्राकृतिक, आजकल का आलोचक अपने भावों की व्यञ्जना के लिए सारे जीवन और अध्ययन को छान मारता है।

अङ्कप्राधान्यवादी आलोचक उन अङ्कों को व्यक्त करता है जो साहित्य के संवेदनशील अध्ययन से उसके ऊपर पड़ते हैं। वह साहित्य को केवल आनन्द-स्रोतमात्र समझता है। साहित्य का अस्तित्त्व उसके लिये उसकी चेतना को विस्तृत करने के लिये और उसकी ग्राह्यता को तीव्र करने के लिये है। अङ्कप्राधान्यवादी मनाङ्कों का मूल्य मनाङ्कों ही से सीमित करता है। वह इन्हें किसी भूत अथवा भविष्य अनुभव से सम्बन्धित नहीं करता। उनकी एक क्षण के लिये आत्मा को उत्तेजित करने की क्षमता ही काफ़ी है। इसीसे अङ्कप्राधान्यवादी आलोचना की आत्मसम्बन्धी होने की प्रवृत्ति है। एनातोल फ़ान्स दृढ़ता से कहता है कि केवल वस्तु-सम्बन्धी आलोचना कहीं है ही नहीं। परम्परा और विश्वव्यापी सम्मति अस्तित्त्वहीन है। साधारण मत केवल व्यवस्थित पक्षपात है। सब आलोचना आत्मसम्बन्धी है। जो कृतिकार समझते हैं कि वे अपनी कृति में अपने आप के अतिरिक्त कुछ और समाविष्ट करते हैं, वे अपने को प्रवञ्चित करते हैं। तथ्य यह है कि हम अपने आप से बाहर कभी जा ही नहीं सकते। जब हम बोलते हैं, अपने विषय में बोलते हैं। समस्त आलोचना तत्त्वतः आत्मकथात्मक है। एनातोल फ्रान्स का कहना है, "अच्छा आलोचक वही है जो उत्कृष्ट रचनाओं में अपनी आत्मा का भ्रमण वर्णित करता है।" जब वह कोई व्याख्यान देने जाता है तो घोषित करता है, "भद्र पुरुषों, मैं आपसे शेक्सपिअर, अथवा रैसीन, अथवा पैस्कल, अथवा गटे के विषयों द्वारा अपने पर आप से कुछ कहूँगा। ये विषय ऐसे हैं जो आत्मव्यञ्जना के लिए मुझे सुन्दर अवकाश देते हैं।" अङ्कप्राधान्यवादी

आलोचक को वस्तुएँ वहीं तक आकृष्ट करती हैं जहाँ तक वह उनके द्वारा आत्माभिव्यञ्जन में सफल हो। वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर भागता है और उनसे सुख के क्षण सहसा ग्रहण करता है। उसका विश्वास है कि प्रकृतिव्यापार स्थायी नहीं है वरन् गतिशील है। सब वस्तुएँ आपेक्षिक हैं। जूल्ज लैमेटर का कथन है, "आलोचना दूसरे साहित्यिक वर्गों की तरह संसार के पुनर्चित्रण को उतना ही वैयक्तिक और आपेक्षिक मानती है जितना कि वे। वह आलोचना का विकास यों चिह्नित करता है—पहले वह स्वमतासक्त थी, फिर ऐतिहासिक और वैज्ञानिक हुई और अब वह पुस्तकों से आनन्द प्राप्त करने और उनके द्वारा अपने मनाङ्कों को सम्पन्न करने की केवल साधन मात्र है। अपने अभ्यास का वर्णन करते हुए वह लिखता है—"मैं फ़ैसला नहीं देता मैं तो अपनी अनुमति व्यक्त करता हूँ।" जैसा ऑस्कर वाइल्ड का कथन है, अङ्कप्राधान्यवादी आलोचक तो हमें अपने अस्तित्व के तथ्य से अवगत करता है, और फलतः हम उससे आत्मसंस्कृति के अतिरिक्त किसी दूसरे उद्देश्य की पूर्ति की माँग नहीं कर सकते। अङ्कप्राधान्यवाद सम्बन्धी आलोचना हम जैसे व्यक्तियों के आनन्दमय क्षणों की हमें अनुभूति देती है। अमेरिकन आलोचक स्पिनगार्न अपने 'द न्यू क्रिटीसिज्म' नामक लेक्चर में आलोचना की व्याख्या इस प्रकार करता है—"किसी कलाकृति की उपस्थिति में संवेदनाएँ अनुभव करना और उन्हें उपयुक्त साधनों से व्यक्त करना, यही अङ्कप्राधान्यवादी आलोचक का कर्त्तव्य है।" कृति के प्रति आलोचक का यह भाव होगा, "सम्मुख एक सुन्दर कविता है, मान लो कि शैली का 'प्रौमीथ्यूस अनवाउण्ड'।" मेरे लिये इसका पढ़ना इससे रोमाञ्चित होना है। मेरा रोमाञ्चित होना ही कविता पर मेरा फैसला है और इससे अधिक सन्तोषजनक फ़ैसला देना मेरे लिये असम्भव है। जो कुछ मैं इस कविता के विषय में कह सकता हूँ वह यही है कि वह मुझे इस तरह प्रभावित करती है और मुझे ऐसी-ऐसी संवेदनाएँ देती है। दूसरे पाठक इस कविता से दूसरे तरह की संवेदनाएँ पायेंगे और उन्हें दूसरी तरह व्यक्त करेंगे; उन्हें भी वैसा ही अधिकार है जैसा मुझे। हम में से हर कोई यदि वह वाह्य और अन्तर्जगत् से प्रभावित होता है और प्रभावाभिव्यञ्जक क्षमता रखता है तो एक नई रचना की सृष्टि करेगा जो उस पुरानी रचना की जगह ले सकती है जिससे वह प्रभावित हुआ था। यही आलोचना कला है और इससे परे आलोचना जा ही नहीं सकती।

अङ्कप्राधान्यवादी आलोचना की मनोविज्ञान भी पुष्टि करता है। जब कि विज्ञान हमें असन्दिग्ध सन्देश देता है कला हमें उतने सन्देश देती है जितने पाठक, श्रोता, अथवा दर्शक होते हैं। जब हम बहुत से पाठक रेखागणित के किसी प्रमेयोपपाद्य अथवा वस्तूपपाद्य को पढ़ते हैं तो हम सब को एक सा ही ज्ञान होता है, परन्तु जब हम कोई सङ्गीत प्रणयन सुनते हैं तो हम सब उसके अलग-अलग अर्थ करते हैं। कला का लक्षण अनेक विकारत्व और अनेकानुकूलता है। अङ्कप्राधान्यवादी आलोचना इसी तथ्य की मान्यता है। आलोचना के नाते निस्सन्देह वह अधिक मूल्य की नहीं है। उसमें न तो साहित्य का ही मूल्याङ्कन है और

न उन सिद्धान्तों का जिनके ऊपर साहित्य आधारित है। जैसे रचनात्मक आलोचना हमारा अनुराग एक कृति से दूसरी कृति की ओर ले जाती है वैसे ही अङ्कप्राधान्यवादी आलाचना हमारा अनुराग एक कृति से दूसरी कृति की ओर ले जाती है। परन्तु जबकि रचनात्मक आलोचना में साहित्य का कुछ अचेतन मूल्याङ्कन होता है, अङ्कप्राधान्यवादी आलोचना में मूल्याङ्कन तनिक भी नहीं होता। अङ्कप्राधान्यवादी आलोचना में तो हमें साहित्य से प्राप्त मनाङ्कों द्वारा उत्तेजित भावगति का वृतान्त मिलता है। इसलिये वह आलोचना छायावत है, और यदि साहित्य भी जिसकी वह आलोचना है अङ्कप्राधान्यवादी हो तो, वह छाया की भी छाया है।

६

जूल्ज़ लैमेटर अपने 'लेज़ कण्टैम्पोरेन्स' में एक नये प्रकार की रचनात्मक आलोचना की सूचना देता है। उसका उदाहरण एम० पौल बर्गेट में मिलता है। एम० पौल बर्गेट के हाथों में आलोचना अपने पास और नैतिक विकास की कहानी हो जाती है। यह आलोचना अहङ्कारवादी आलोचना कही जा सकती है। एम० पौल बर्गेट का मानसिक विकास आधुनिक साहित्य के आधार पर हुआ है, पुराने साहित्य से वह बहुत कम अवगत है। फलत: उसकी आलोचनात्मक क्रियाशीलता पिछले तीस वर्षों के ऐसे लेखकों तक सीमित है जिनके विचार और जिनकी भावनाएँ उसके अनुकूल हैं। न वह उन लेखकों के चरित्र का चित्रण करता है, न वह उनका जीवन वृत्तान्त देता है, न वह उनकी रचनाओं का विश्लेषण करता है, न वह उनकी लेखन शैली का अध्ययन करता है, न वह उन अङ्कों को जो उनकी रचनाओं से उसके मन पर पड़ते हैं स्पष्ट करता है; वह तो केवल उन भावों और मानसिक अवस्थाओं का वर्णन करता जिन्हें उसने अनुकरण अथवा सहानुभूति द्वारा अपना लिया है। इस प्रकार वास्तव में चाहे वह अपने मानसिक विकास का इतिहास ही देता है, तो भी साथ-साथ अपने समय की मौलिक भावनाओं का भी विवरण देता है और एक तरह से अपने काल के नैतिक इतिहास का एक खण्ड तैयार करता है।

रचनात्मक आलोचना कोई नई वस्तु नहीं है। उसका अभ्यास सदा से चला आता है। एक काल ऐसा होता है जिसमें रचनात्मक क्रिया अपनी पराकाष्ठा पर होती है। इसके पीछे अनुकरण काल आता है। यह काल पूर्ववर्ती प्रतिभाशाली कलाकारों की रचनाओं से नियम निकालता हैं और उन्हें कठोरता से लागू करता है। पुन: सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों से एक नये काल की सृष्टि होती है जिसमें सौन्दर्य के नये रूप प्रकट होते हैं। इन नये रूपों से चकित होकर आलोचक पुराने नियमों का अविश्वास करने लगते हैं और अपनी रसज्ञ मूल प्रवृत्ति और अपने सुखानुभव के आश्वासन पर भरोसा करने लगते हैं। इस प्रकार जब प्राचीन यूनान में बहुत समय तक अलङ्कारशास्त्र सम्बन्धी नियमों का

परिपालन रहा तब लॉञ्जायनस आया जिसने चित्तोत्सेक के सर्वोच्च मानदण्ड का पक्ष पोषित किया। इसी तरह जब सोलहवीं शताब्दी में अरिस्टॉटल का प्रभुत्व व्याप्त था तब सिन्थियों जैराल्डी उठ खड़ा हुआ जिसने अरिस्टॉटल के नियमों के विरुद्ध रोमांस की स्वच्छन्दता को न्यायसङ्गत बताया, और पैट्रिजी उठ खड़ा हुआ जिसने इस बात पर जोर दिया कि काव्य के लिये विषय-वस्तु की विशेषता निरर्थक है। उसने सुझाया कि प्रत्येक बिषय-वस्तु उपयुक्त है यदि उसका निरूपण काव्यमय शैली में हो। इसी तरह अठारहवीं शताब्दी में ग्रै, जोज़फ वार्टन, और हर्ड ने उन नवशास्त्रीय नियमों की अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह घोषित किया जिनके परिपालन से उस शताब्दी में काव्यप्रणयन होता था। शास्त्रीयता के विरोध में रोमान्सवादित्व, वास्तविकता के विरोध में आत्मीयता, और उपयोगिता के विरोध में सौन्दर्यनिरूपण—ये विधिविरोध इतने पुरातन हैं जितनी स्वयम् आलोचना। पेटर, स्विनवर्न, और साइमन्स हाल के ऐसे उदाहरण हैं जिनकी रचना पिछली उन्नीसवीं शताब्दी की रूढ़िबद्ध रचना की प्रतिक्रिया है।

———

३

व्याख्यात्मक आलोचना (इन्टरप्रेटेटिव क्रिटीसिज़्म)

बहुत वर्षों तक आलोचना में रूढ़िवाद की ध्वनि ही प्रबल थी। अरिस्टॉटल, हौरेस, और इन्हीं के आधार पर पुनरुत्थानकालीन इटली और फ़्रान्स के आलोचकों के बनाये हुए नियम कठोरता से साहित्य समीक्षा में प्रयुक्त होते थे। फलत: एक लेखक के पश्चात् दूसरा लेखक आलोचक द्वारा दूषित और अपवादित होता था। रायमर जिसे पोप इङ्गलैण्ड का उच्चतम आलोचक कहता है, शेक्सपिअर के विषय में यह लिखता है—"दुखान्त में वह अपने मूलद्रव्य से बाहर है। उसका मस्तिष्क फिरा हुआ है, वह पागलों की तरह चिल्लाता है और असङ्गत बातें बकता है, न उसमें बुद्धि है और न उसे स्वच्छन्दता से रोकने के लिये उसके ऊपर नियमों का नियन्त्रण है।" आँथेलो के विषय में लिखता है—"इस दु:खान्त में वस्तु का कुछ लेश है परन्तु यह बड़ा दूषित लेश है। डैस्डैमोना का हब्शी को प्रेम करना उपहास्य है, इससे अधिक उपहास्य उसका आँथेलो की साहसिक कथाओं से आकर्षित होना, और इससे भी अधिक उपहास्य यह बात है कि एक हब्शी को वैनिस में सेनापति बनाया जाय। पात्रों में तनिक भी सत्याभास नहीं। इआगो सैनिक वर्ग से बिल्कुल हटा हुआ है। सैनिक स्पष्टहृदय, निष्कपट, ओर शुद्धाचरण होता है। इआगो गोपनप्रिय, कपटी, और अशुद्धाचरणी है।" कट्टर रुढ़िवादी आलोचकों की आलोचनाएँ इसी ढङ्ग की हैं। लॉर्ड लैन्सडाउन ने 'अननैचरल फ्लाइट्स इन पोइट्री' में सेक्सपिअर के आत्मगत भाषणों पर कोई ध्यान ही न दिया क्योंकि उसके मतानुसार सब अस्वाभाविक और तर्कहीन हैं। यही ध्वनि

वॉल्टेअर की है। वह शेक्सपिअर के दु:खान्तों को वीभत्स प्रहसन कहता है। उसका मत है कि प्रकृति ने शेक्सपिअर को महान् और उत्कृष्ट गुणों के साथ-साथ अधम और अपकृष्ट गुण दिये थे, उसमें वे सब बातें थी जो प्रतिभाहीन असभ्य पुरुष में होती हैं, उसकी कविता उन्मद जाङ्गल की कल्पना का फल है। वॉल्टेअर के विचार से एडीसन का 'केटो' उत्कृष्ट दु:खान्त का उदाहरण है। ड्राइडन को अफ़सोस होता है कि स्पेन्सर ने इतनी बुरी नवपदी क्यों ग्रहण की और 'फेअरी क्वीन' के ढाँचे का अनुमोदन करता है। जब ड्राइडन मिल्टन के 'पैरैडाइज लॉस्ट' की ओर दृष्टि डालता है तो इस निर्णय पर पहुँचता है कि, क्योंकि स्वर्ग में एडम को हार मिलती है, तो डैविल ही वास्तव में मिल्टन का नायक है। इस आलोचना में ड्राइडन अरिस्टॉटल से प्रभावित है जो महाकाव्य के लिये नैतिक वस्तु को अधिक उपयुक्त समझता था। एडम, क्योंकि वह निष्पाप था कलङ्कित नहीं होना चाहिये था। एडीसन की 'पैरैडाइज़ लॉस्ट' की आलोचना का आधार भी अरिस्टॉटल है। पहला दोष जो एडीसन मिल्टन के महाकाव्य में पाता है वह है कि उसका अन्त दु:खमय है। अरिस्टॉटल ने कहा था कि महाकाव्य का अन्त सुखमय होना अधिक उपयुक्त है। यह रुढ़िगत स्वमतासक्त ध्वनि जॉनसन के निर्णयों में भी कम स्पष्ट नहीं है। स्पैन्सर के विषय में कहता है कि उसकी नवपदी एकदम कठिन और अप्रिय है, उसकी एकरूपता कानों को थकाती है और उसकी लम्बाई ध्यान को अस्थिर करती है। शेक्सपिअर के विषय में कहता है कि वह अपने दु:खान्तों के लिये शब्दयोजना में बहुत तुच्छता तक उतर जाता है और भाषा को हर प्रकार से भ्रष्ट करने पर उद्यत रहता है। मिल्टन के विषय में कहता है कि उसकी कविता 'लिसीडाज़' कर्णकटु है, उसके 'कोमस' के गीत लक्षण नियम में सङ्गीतानुकूल नहीं हैं, और उसके सबसे बढ़िया सौनेटों के बारे में यही कहा जा सकता है कि वे बुरे नहीं हैं।

परन्तु जैसे-जैसे साहित्य की वृद्धि हुई और पाठकों की रुचि साहित्य के इतिहास की ओर गई, यह सब को स्पष्ट हो गया कि शास्त्रीय नियम सर्वाङ्गी और सुघटित नहीं हैं। ड्राइडन, एडीसन, और जॉनसन जिन्होंने इन्हें ग्रहण किया था, जगह-जगह पर इनसे असहमत हैं। ऐलीजैबैथ के काल के दु:खान्त नाटकों पर रायमर की आलोचना के विषय में ड्राइडन कहता है,"यह कह देना कि अरिस्टॉटल का यह निर्देश है, काफ़ी नहीं है। अरिस्टॉटल ने दु:खान्त के वे आदर्श जिन पर उसके नियम आधारित थे, सोफोक्लीज़ और यूरीपीडीज़ में पाये थे। यदि वह हमारे नाटक देख लेता, तो अपने नियम बदल देता।" पैरैडाइज़ लॉस्ट में मिल्टन के पात्रों पर विचार करते हुए, एडीसन भी अरिस्टॉटल से अपनी असम्मति ऐसे ही शब्दों में प्रकट करता है—"इस विषय में और थोड़े से कुछ और विषयों में अरिस्टॉटल के महाकाव्य सम्बन्धी नियम उन वीररस प्रधान काव्यों पर ठीक-ठीक लागू नही होते जो उसके काल के पश्चात् लिखे गये हैं। यह स्पष्ट है कि उसके नियम और भी पूर्ण होते यदि वह 'एनीड' को और पढ़ लेता जो उसकी मृत्यु के सौ-बर्ष पश्चात् लिखी गई थी।" जॉनसन मानता है कि शेक्सपिअर का अपने नाटकों में करुण और हास्य रसों का मिलना शास्त्रीय प्रथा के विपरीत है परन्तु उसका कहना है कि आलोचना के नियमों से परे प्राकृतिक

सौन्दर्य का आदर्श सदा अधिक ग्रहणीय है। क्या वास्तविक जीवन में हास और शोक एक दूसरे के निकट नहीं मिलते ? यदि किसी घर में विवाहोत्सव मनाया जा रहा है तो दूसरे निकटस्थित घर में श्मशानयात्रा की तैयारी हो रही है। यदि हास और शोक के सम्मिश्रण में सौन्दर्य का भान होता है तो वह पूर्णतया समर्थनीय है।

प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर झुकाव इतना बढ़ता गया कि धीरे-धीरे शास्त्रीय नियमों से श्रद्धा उठने लगी। ग्रे अपनी 'एपौलैजी फॉर लिडगेट' में लिखता है कि लिडगेट के समय के साहित्य को आजकल के मानदण्डों से जाँचना अनुचित है। उस समय के पाठक दीर्घ और अप्रासङ्गिक कथाओं में आनन्द लेते थे और इसी कारण हमें लिडगेट के ऐसे दोषों की ओर ध्यान न देना चाहिये। नवशास्त्रीय काल पोप की पूजा करता था परन्तु जॉज़फ वार्टन ने उसे कवियों में प्रथम श्रेणी का मानने से इन्कार किया। उसने 'एसे ऑन पोप' में कवियों के चार वर्ग किये। पहले वर्ग में स्पैन्सर, शेक्सपिअर और मिल्टन जैसे कवि आते हैं जिनका विवेचन उत्कृष्ट-करुणात्मक-कल्पनात्मक मानदण्डों से ही किया जा सकता है। दूसरे वर्ग में ड्राइडन जैसे कवि आते हैं जिनमें काव्यात्मक शक्ति तो कम है परन्तु वाग्मिता और नैतिकता के धनी हैं। तीसरे वर्ग में डन, स्विफ़्ट और बटलर जैसे कवि आते हैं जिनमें काव्यात्मकता की मात्रा बहुत कम है परन्तु जिनमें बुद्धि-विभव की कमी नहीं। चौथे वर्ग में सैण्ड्स और फ़ेअर फ़ैक्स जैसे कवि आते हैं जो केवल पद्यकार हैं। पोप दूसरे और तीसरे वर्गों के मध्य में स्थित है। हर्ड कहता है कि फ़ेअरी क्वीन' के गुण उसको बतौर गौथिक काव्य के पढ़ने और समझने ही से मालूम हो सकते हैं, बतौर शास्त्रीय काव्य के पढ़ने और समझने ही से नहीं। लैसिङ्ग-प्रसिद्ध जर्मन आलोचक की शास्त्रीय नियमों की बेड़ियों को बिल्कुल चूर्ण कर डालता है। जब पुकार लगाकर वह यह कहता है, "प्रतिभा सब नियमों के ऊपर है। जो कुछ प्रतिभा कर डालती है वही नियम बन जाता है।······प्रतिभाशाली लेखक सदा कला का आलोचक होता है। उसके अन्तस्थल में सब नियमों का साक्ष्य होता है जोकि उन नियमों में उन्हीं को वह पकड़ता, याद रखता, और मानता है जो उसको अपने भाव व्यक्त करने में उपयोगी होते हैं।" वर्ड्सवर्थ अपने 'पोप्यूलर जजमैण्ट' नामक निबन्ध के आदि ही में कॉलरिज के इस कथन को उद्धृत करता है कि प्रत्येक लेखक जिस कदर वह महान् और साथ ही साथ मौलिक है उसी कदर उसके ऊपर यह भार पड़ता है कि वह उस रुचि का परिचय दे जिससे उसके काव्यरसों का आस्वादन किया जाय। इस प्रकार आलोचना जॉनसन के समय से ही अपने को नियमों के अत्याचारों से मुक्त करने में प्रयत्नशील रही है और साहित्यिक कृतियों की मुक्त और बन्धनरहित व्याख्या देने में प्रवृत रही है।

१

आलोचना का व्याख्या की ओर झुकाव जर्मनी के तत्ववेताओं के प्रभाव से हुआ। उन्हीं ने पहले कला की परिभाषा बतौर व्यञ्जना बड़ी सूक्ष्मता से की। इङ्गलैण्ड में इस

परिभाषा को फैलाने और कला का सम्बन्ध आलोचना से स्थापित करने का काम कारलाइल ने किया। वह अपनी 'स्टेट ऑफ़ जर्मन लिट्रेचर' में नई आलोचना का लक्ष्य यह बताता है, "आलोचना प्रेरित और अप्रेरित के बीच में व्याख्याता का काम करती है जो उसके शब्दों की सुस्वरता सराहते हैं और उन के वास्तविक अर्थ की कुछ झलक पा जाते हैं परन्तु उनके गहनतर अभिप्राय नही समझ पाते।" दोष निकालने वाली आलोचना को कारलाइल शङ्का की दृष्टि से देखता है। दोष को दोष ठहराने के लिये हमें दो बातें अच्छी तरह जान लेनी चाहिये। पहले तो हम अच्छी तरह समझ लें कि कवि का सचमुच क्या उद्देश्य था, उसका कार्यभार किस प्रकार उसके सम्मुख उपस्थित था, और कहाँ तक वह उपलब्ध साधनों से उसे पूरा कर पाया। दूसरे हम यह निश्चित कर लें कि कहाँ तक उसका कार्यभार हमारी व्यक्तिगत स्वैरभावनाओं से सम्मत नहीं, न उनकी स्वैरभावनाओं से सम्मत जो हमारे सहवर्गी हैं और जिनसे हम अपने नियम लेते अथवा जिन्हें हम नियम देते हैं, वरन् मानवी स्वभाव से और साधारणतः सब वस्तुओं के स्वभाव से सम्मत था, काव्यमय सौन्दर्य के उन सिद्धान्तों से सम्मत था जो हमारी अपनी पुस्तकों में नहीं वरन् सब मनुष्यों के हृदय में लिखे हैं। यदि इन दोनों बातों पर हमें कवि सन्तुष्ट करता है तो उसकी कविता में कोई दोष नहीं। व्याख्यात्मक आलोचना का उद्देश्य इन दोनों बातों में कारलाइल ने पूरी तरह से स्पष्ट कर दिया है। कारलाइल के बाद आर्नल्ड ने व्याख्यात्मक आलोचना को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। उसने अपने समय की अँग्रेजी आलोचना से क्षुब्ध होकर अँग्रेजी आलोचकों का ध्यान जर्मनी और फ्रान्स की आलोचना की ओर आकर्षित किया। उसने बताया कि ज्ञान की सब शाखाओं में जर्मनी और फ्रान्स का यही प्रयत्न रहा है कि जिस किसी वस्तु को आलोचक देखे उसे यथाभूत देखे, अङ्ग्रेजी आलोचक ऐसा नहीं करता। आलोचना की व्याख्यात्मक पद्धति का पेटर ने आवेशयम अनुमोदन किया है। "कवि अथवा चित्रकार के गुण की अनुभूति, उसका पृथक्करण, उसकी शब्दों में अभिव्यञ्जना—आलोचक के कर्त्तव्य की यही तीन अवस्थाएँ हैं। सेण्ट्सबैरी जो अङ्गीकार करता है कि उसका आलोचनात्मक अभ्यास ऐसा ही रहा है पेटर के इस कथन की इस प्रकार व्याख्या करता है, "प्रथम अवस्था सुखानुभव की है जो आगे बढ़ कर जिज्ञासा में परिणत हो जाती है; दूसरी अवस्था जिज्ञासा का फलीभूत होना है; और तीसरी अवस्था फल का संसार को देना है।"

प्रत्येक कलात्मक रचना में तीन बातें होती हैं—पहले तो वह वस्तु जिसे अन्तर्जगत अथवा वाह्यजगत प्रदान करता है; दूसरे कलाकार द्वारा इस वस्तु का मूल्याङ्कन, और तीसरे उपलब्ध साधनों द्वारा वस्तु और उसके मूल्याङ्कन पर आधारित समस्त अनुभव की अभिव्यञ्जना। इस विचार से व्याख्याता का कार्य यही निश्चित होता है कि वह कलाकृति सम्बन्धी मूर्त्त सृष्टि का पुनरुत्पादन करे और फिर उस पुनरुत्पादन को तार्किक बुद्धि से शब्दों में व्यक्त करे। । कृति को अच्छी तरह समझने के लिये व्याख्याता को चाहिये कि वह

कृति को उसके वास्तविक रूप में देखे और ऐसी मानसिक दशा उत्पन्न करे जो कृति के अनूकूल हो। यह काफ़ी कठिनाई का काम है। आई० ए० रिचार्ड्ज़ ने इसी हेतु एक विस्तृत क्रिया निश्चित की है। किसी लेख अथवा वक्तव्य के सम्पूर्ण अर्थ में भिन्न प्रकार की कई धाराएँ होती हैं। कार्यार्थ उन में से चार उल्लेखनीय हैं—आशय, भाव, ध्वनि और उद्देश्य। आशय वही है जो कृति अथवा वक्तव्य में कहा जाता है। हम शब्द इसीलिये इस्तेमाल करते है कि सुनने वालों का ध्यान किसी वस्तुस्थिति की ओर आकर्षित किया जाय, कुछ बातें उनके मनन करने के लिये कही जायें और इन बातों के सम्बन्ध में कुछ विचार उत्तेजित किये जायें। वैज्ञानिक लेखों में आशय प्रथम महत्त्व का होता है और कविता में द्वितीय महत्त्व का। कभी-कभी तो कविता इतनी भावमय हो जाती है कि आशय उसमें लेशमात्र भी नहीं रहता। बच्चों के बहलाने के लिये निरर्थक गीतों की रचना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। आशय के लिये शब्दकोष का सावधान प्रयोग, तार्किक तीव्रता, वाक्यरचना पर पूर्ण अधिकार और प्रसङ्ग की चेतना सहायक होते हैं। जिस वस्तुस्थिति का हम बोध कराना चाहते हैं उसके सम्बन्ध में हमारे कुछ भाव होते हैं। निर्दिष्ट वस्तुस्थिति की ओर हमारी कोई प्रवृत्ति होती है, कोई झुकाव होता है, किसी अनुराग का प्राबल्य होता है, भावों का कोई वैयक्तिक रङ्ग अथवा स्वाद होता है; और इन भावों की अभिव्यञ्जना के लिये भी भाषा का उपयोग करते हैं; जब हम ऐसे शब्द पढ़ते अथवा सुनते हैं तो निहित भावों को ग्रहण कर लेते हैं। भाव कविता में प्रथम महत्त्व का होता है और विज्ञान में द्वितीय महत्त्व का, गणित में तो भाव का अभाव हो ही जाता है। भाव की अभिव्यञ्जना के लिये लेखक व्युत्पन्न विशेषण, क्रिया, और क्रियाविशेषण का प्रयोग करते हैं, उनकी भाषा सालङ्कार होती है। भाव को ग्रहण करने के लिये संवेदनशीलता और कल्पनात्मकता की आवश्यकता होती है। इससे परे, वक्ता अथवा लेखक अपने श्रोता अथवा पाठक की ओर कोई ध्वनि दिखाता है। जिस प्रकार के उसके श्रोता अथवा पाठक होते हैं अनजाने या जान बूझकर उसी प्रकार की उसकी भाषा हो जाती है। उसकी अभिव्यञ्जना ध्वनि में उसका अपने श्रोताओं अथवा पाठकों से जैसा सम्बन्ध होता है उसकी चेतना होती है। लैम्ब और स्टैवैन्सन के निबन्धों में उनकी पाठक से घनिष्ठ परिचय की ध्वनि फौरन मालूम हो जाती है। ग्रे और ड्राइडन की कविताओं का यही आकर्षण है। ध्वनि बातचीत में प्रधान होती है और अङ्ग विक्षेपों और लहजों से व्यक्त होती है। कविता में उसे ठीक-ठीक पहिचानने के लिये सहिष्णुता और सूक्ष्म विवेक बुद्धि की आवश्यकता होती है। आशय, भाव, और ध्वनि से आगे वक्ता अथवा लेखक का उद्देश्य होता है, उसका चेतन अथवा अचेतन लक्ष्य, वह प्रभाव जो शब्दों द्वारा वह अपने श्रोताओं अथवा पाठकों पर डालना चाहता है। उद्देश्य सुभाषणकला में प्रधान होता है और साहित्य और कविता में गौण। वह भाषा को परिवर्तित कर देता है और उसका समझ लेना अर्थग्रहण की समस्त क्रिया का एक आवश्यक अङ्ग है। श्रेष्ठ कला की कृति में शारीरिक ऐक्य होता है, उसके अङ्गों में जीवनमूलक सम्बन्ध होता है जैसा पौधे अथवा जीवित प्राणियों के अङ्गों में, यान्त्रिक नहीं होता जैसा घड़ी के

पुरजों में। यदि घड़ी का कोई पुरज़ा खराब हो जाय तो उसकी जगह दूसरा पुरजा लगा सकते हैं और और घड़ी फिर पहले की तरह काम करने लगती है। प्राणियों के एक अङ्ग को काट कर दूसरा वैसा ही नहीं लगा सकते, बस वही पहला अङ्ग ही ठीक काम कर सकता था। कलाकृति के अङ्गों में ऐसा ही सम्बन्ध होता है। कारलाइल ने अपते गटे पर आलोचनात्मक निबन्ध में इस सत्य को व्यक्त किया है, "प्रत्येक कविता अविभाज्य ऐक्य की दृष्टि उपस्थित करती है। उसके अर्थ का विकास विचारों और भावों की उर्वरा भूमि से स्वाभाविक रूप से इस प्रकार स्थिर हो जाता है जैसे अशोक का हजार वर्षीय वृक्ष जिसमें न कोई शाखा और न कोई पत्ती उद्रिक्त होती है।" कलाकृति में बुद्धिग्राह्य अर्थ के अतिरिक्त इन्द्रियग्राह्य अर्थ भी होता है। केवल शब्द ही विचारों और भावों के द्योतक नहीं होते, उनके स्वरों और गति में भी द्योतकता होती है। फ़िर कवि और अन्तर्वेगपूर्ण गद्य के लेखक अपनी व्यञ्जनाशैली में अन्तर्दर्शी होते हैं वास्तविक सम्बन्ध देख लेने की उनमें विशेष क्षमता होती है, और जटिल अमूर्त विचारी का सहसा मूर्त्त पर्याय देने में वे प्रवीण होते हैं। अतः शब्दों के नाद और लय से व्यक्त अर्थ और प्रतिमाओं से प्रकाशित आशय इन दोनों की समस्त व्यञ्जना से सङ्गीतता की व्याख्या करना यह व्याख्याता का अन्तिम धर्म है।

व्याख्या की आदर्श गति, रुचि और प्रतिभा का ऐक्य है। व्याख्याता व्याख्या करते समय कृतिकार की प्रतिभा में सम्पूर्णता से लीन हो जाय। वह कृतिकार के उस अनुभव का ज्यों का त्यों पुनरुत्पादन करे जिससे कलाकृति का सृजन हुआ था। इस पुनरुत्पादक अवस्था में व्याख्याता के मन की प्रवृत्ति ग्रहणशील होनी चाहिये। इस प्रवृत्ति का विनाश करने वाली बहुत सी शक्तियाँ हैं। आई० ए० रिचर्ड्ज़ ने इनका विस्तृत वर्णन दिया है। पहले, असङ्गत स्मृतियाँ हैं। पाठक ने अपने जीवन में अन्तर्वेगीय उत्थान अथबा पतन का अनुभव किया है, वह किन्हीं साहसिक घटनाओं का साक्षी रहा हो किसी स्वानुभूत विचार शृङ्खला का उसके ऊपर दृढ़ाग्रह हो किसी मिलती-जुलती पहले पढ़ी हुई कृति की स्मृति साहसा जागृत हो जाय—इन अनुभवों और दृढ़ाग्रहों को अपने पठन में कृति से सयोजित कर देना एक साधारण सी बाता है और अर्थ भङ्ग होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। दूसरे, सन्नद्ध प्रप्रिक्रियाएँ हैं। ये अर्थग्रहण में तब बाधा डालती हैं जब कि कृति में ऐसे अन्तर्वेगों और विचारों का समावेश होता है जो पाठक के मन में पहले ही से पूरी तरह तैयार होते हैं। कला का कार्य जीवन को पुनर्व्यवस्थित करना है। रूढ़िगत सोचने की प्रणाली का उसे सहन नहीं। ग्रे की 'एलैजी' पढ़ने में सन्नद्ध प्रतिक्रियाएँ आधिक्य में अवश्य उठती हैं परन्तु उसमें भी ऐसे भाव हैं जो सत्र के हृदयों को एकरूपता से प्रभावित नहीं करते। हार्डी की कविताओं के समझने के लिये सन्नद्ध प्रतिक्रियाओं को बड़े वेग से रोकने की आवश्यकता है। भावों और विचारों की मौलिकता उनमें एक दम दृष्टव्य है। कोई रूढ़िनियन्त्रित पाटक हार्डी को अच्छी तरह नहीं समझ सकता। इस विषय में कुछ जटिलता है। वास्तव में कला में रूढ़ता और मौलिकता दोनों होती हैं। मौलिकता को

समझने के लिये रूढ़ता से मुक्त होना पड़ता हैं । यह ऐसी बात है जिसे बहुत से पाठक नहीं कर सकते और न कर सकने के कारण ही वह कला के उचित ग्रहण में असमर्थ रहते हैं । तीसरे, अति भावुकता अथवा भावों का सहज में अधिक सञ्चार है । भावुकता का प्रदर्शन कई तरह से माना जाता है । यदि किसी वस्तु से उठा हुआ भाव उचित न हो तो भावप्रदर्शक भावुक कहा जायगा । उस मनुष्य को भी भावुक कहेंगे जिसके भावों का सञ्चार असाधारण तेजी से होता है । भाव की अपरिपक्वता अथवा असंस्कृतता भी भावुकता कही जाती है । एक सी बातों से सदा एक सी तरह प्रभावित होना अथवा प्रवृत्तियों की व्यवस्थित प्रसक्ति भी भावुकता कही जाती है । परन्तु अधिकतया वही मानसिक प्रतिक्रिया भावुक कही जाती है जिसमें चाहे प्रवृत्तियों की प्रसक्ति से चाहे भावों के एक दूसरे में प्रवेशन से प्रदर्शित भाव उस उचित मात्रा से अधिक हो जिस मात्रा में कोई वस्तु अथवा घटना उसे उत्तेजित करे । भावुकता अर्थग्रहण में बाधक होती है । बाबर्टन ने शेक्सपिअर की कृतियों की व्याख्या बहुत से स्थलों में ऐसी ही की है । चौथे निरोध (इनहिबीशन) आता है । इसके कारण हम बहुत से ऐसे अनुभवों को ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं जिनसे हमें किसी दुःखमय घटना अथवा वीभत्स दृश्य की याद आ जाती है । वैसे तो मानसिक जीवन के लिये निरोध अनिवार्यतः आवश्यक है । यदि निरोध की शक्ति न हो तो मन में सब बातें एक साथ उपस्थित हों, जिसके माने यह है कि मन पूर्णतया भग्नक्रम होने से निष्फल हो जाय । मन की ज्ञानात्मकता निरोध ही से सम्भव है । परन्तु जब किसी पुस्तक को पढ़ते समय बहुत से विचारों को अप्रिय होने कारण उन्हें हम मन में जगह ही नहीं देते; तो निरोध भावुकता की तरह अर्थग्रहण में बाधक होता है । पाँचवें सैद्धान्तिक आसक्ति है । बहुत सी धार्मिक कविताओं में संसार के विषय में झूठे अथवा सच्चे मत और विचार व्यक्त किये जाते हैं । अँग्रेजी के आदि के नाटक सब धार्मिक थे, प्रोटैस्टैण्ट, प्योरीटन, डीस्ट और इवैञ्जलीकल पद्य रचना चलती रही, और पिछली शताब्दी में न्यूमैन और कीब्ल की धार्मिक पद्य-रचना बड़ी चमत्कार युक्त थी । हिन्दी में भी धर्म आदि से ही पद्य का विषय रहा है । सूरदास और तुलसीदास ने तो वैष्णव धर्म को अपनी कविता द्वारा अजर-अमर बना दिया । उनके पीछे जितने कवि हुए सब राम और कृष्ण के कीर्तन गाते रहे । मुसलमान कवि रसखान और रहीम भी अपनी रचना द्वारा वैष्णव धर्म का प्रचार करने लगे । रसखान तो वैष्णव ही हो गये । ठकुरसी और बनारसीदास ने जैन धर्म विषयक कविता लिखी, और गुरु गोविन्द सिंह और ज्ञानी ज्ञानसिंह ने सिक्ख-सम्प्रदायविषयक कविता लिखी । धार्मिक साहित्य का अर्थ ग्रहण करने के लिये जिस धर्म पर उसका अवलम्बन है उसमें विश्वास होना आवश्यक है । अविश्वास से उनकी मोहनशक्ति कम हो जाती है । दो तरह के विश्वास होते हैं—प्राज्ञ और अन्तर्वेगीय । जब विश्वास ऐसे प्रत्यय से उत्पन्न होता है जो प्रत्ययों की व्यवस्थित राशि में तार्किक सङ्गतता रखता है तो उसे प्राज्ञविश्वास कहते हैं । जब विश्वास ऐसी वासना से उत्पन्न होता है जो अन्तर्वेग के लिये निर्गमद्वार खोल देता है

तो विश्वास अन्तर्वेगीय है। पहला अर्थ ग्रहण में तब बाधा लाता है जब पढ़ने वाले का उसमें विश्वास नहीं होता और अन्तर्वेगीय विश्वास तब अर्थ ग्रहण में बाधा लाता है जब वह प्राज्ञ व्यवस्था में प्रविष्ट हो जाता है। यदि वह अपनी सत्ता स्वतन्त्र रखने में समर्थ हो तो अर्थ ग्रहण में बाधक नहीं होता। कवि की प्रतिभा का चमत्कार इसी में है कि वह दोनों तरह के विश्वासों को स्वतन्त्रता की प्रतीति दे। शेक्सपिअर ने अपने नाटकों में ऐसा ही किया है। जब प्रेतों अथवा अलौकिक घटनाओं का अपने नाटकों में वह प्रवेश करता है तो दर्शक अथवा पाठक उनकी प्राज्ञपरीक्षा नहीं करता। वे हमारे अन्तर्वेग ही से सम्बद्ध रहते हैं। छठे, रचना-कौशल-सम्बन्धी पूर्वकल्पनाएँ आती हैं जब कभी कोई काम किसी विशेष ढङ्ग से अच्छा हो जाता है तो भविष्य में यही आशा की जाती है कि वह काम सदा उसी ढङ्ग से किया जाय और यदि वह काम उसी ढङ्ग से नहीं होता तो हम निराश होते हैं। इसी प्रकार जब कोई काम किसी ढङ्ग से अच्छा नहीं होता तो उस ढङ्ग का हम उस काम के लिये अविश्वास करने लगते हैं। दोनों दशाओं में हम साधन को साध्य से अधिक महत्त्व देते हैं। मानदण्ड साध्य की प्राप्ति है, साध्य की विशेषता नहीं। इस बात पर ध्यान न देने से आलोचकों ने कविता पर बड़े कुठाराघात किये हैं। तुक शुद्ध होना चाहिये, पद के अन्त में अर्थ समाप्त हो, महाकाव्य में पद्य षड्गणात्मक हो, सौनेट अष्टपदो और षट्पदी में विभक्त हो, दुखान्त से हास्य का बहिष्कार हो—ऐसी पूर्व कल्पनाओं से पाठक सुन्दर कृतियों से भी उदासीन हो जाते हैं। भारतीय कविता में रचना-कौशल पर बड़ा जोर दिया है। श्री जगन्नाथप्रसाद अपनी 'छन्दः प्रभाकर' में लिखते हैं, "जैसे भौतिक सृष्टि में बिना पाँव के मनुष्य पङ्गु हैं, वैसे ही काव्यरूपी सृष्टि में बिना छन्दःशास्त्र के ज्ञान के मनुष्य पङ्गुवत हैं। बिना छन्दःशास्त्र के ज्ञान के न तो कोई काव्य की यथार्थगति समझ सकता है न उसे शुद्ध रीत से रच ही सकता है।" छन्दःशास्त्र सम्बन्धी पूर्ण कल्पनाओं से काव्य की व्याख्या सदा उचित नहीं। सातवें और अन्त में साधारण आलोचनात्मक पूर्व धारणाएँ आती हैं। कविता के उद्देश्य और स्वभाव के विषय में हमारा अपना मत होता है; जैसे, कविता में गाम्भीर्य हो, कविता कोई सदेन्श दे, कविता में उत्तेजना देने वाले विचार हों, कविता सुख दे, कविता जीवन को पुनर्व्यवस्थित करे । ऐसी किसी एक पूर्व-धारणा से सब प्रकार की कविताओं की व्याख्या करना न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता। व्याख्याता को उपर्युक्त सातों बाधाओं से दूर रहना चाहिये। व्यक्तित्त्व पूर्ण होने से ही व्याख्याता में उचित व्याख्या की क्षमता आती है। व्यक्तित्त्व निष्कपटता (सिन्सियरिटी) से पूर्ण होता है। कन्फ्यूशस ने आत्मसम्पूर्णता और निष्कपटता को एक माना है। निष्कपटता में अनुभवी उस गति को पहुँचता है जिसमें वह अपने अनुभव के विषय से ऐक्य स्थापित करता। है और ऐसे ऐक्य से ही प्रबोध सम्भव होता है। निष्कपटता और प्रबोध समविस्तृत हैं। कन्फ़्यूशस कहता है, "जब निष्कपटता से प्रबोध होता है, तो गति स्वभाव द्वारा प्राप्त मानी जाती है; जब प्रबोध से निष्कपटता आती है, तो गति शिक्षा द्वारा प्राप्त मानी जाती

है। परन्तु यह निश्चय है कि जिस व्यक्ति में निष्कपटता होगी, उस व्यक्ति में प्रबोध होगा; जिस व्यक्ति में प्रबोध होगा, उस व्यक्ति में निष्कपटता होगी।" जब तक निष्कपटता द्वारा प्रबोध अथवा प्रबोध द्वारा निष्कपटता व्याख्याता में न आई हो तब तक वह व्याख्या करने का पूरा अधिकारी नहीं है।

व्याख्या और आलोचना दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। व्याख्या आलोचना से पहले आती है। आलोचना कृति को पढ़ती है, फिर उसे ध्यान में रखती है और तब उसके गुणों और दोषों पर अपना निर्णय देती है। व्याख्या उस कृति में जिस की वह व्याख्या करती है; प्रवेश कर जाती है और कृति के प्रबुद्ध ग्रहण से परे नहीं जाती। व्याख्या कलाकार की चित्तसृष्टि का पुनर्निमाण करती है, आलोचना ऐसी चित्तसृष्टि पर निर्णय देती है। व्याख्या तुलना से दूर रहती है, और यदि वह तुलना का प्रयोग करती है तो उसे कृति के प्रबुद्ध ग्रहण का एक साधन मानती है; आलोचना का बराबर उपयोग करती है, उसका एक उद्देश्य यह होता है कि देखें कि प्रस्तुत कृति दूसरी सदृश कृति से ज़्यादा अच्छी है या बुरी है। व्याख्या ग्रहणशील होती है, वह नवीन अनुभव को स्वीकार करती है; आलोचना क्रियाशील होती है, वह पुराने और नवीन साहित्य को वर्तमान मानदण्डों से जाँचती है और भविष्य के मानदण्डों के लिए आधार अन्वेषण में सावधान रहती है और यह निश्चित करती है कि आगे साहित्य निर्माण कैसे होगा। निस्सन्देह आलोचना व्याख्या से अधिक अग्रग है परन्तु वह है परन्तु वह संकुचित क्षेत्र में काम करती है। यदि आलोचना को किसी परम सुन्दर कृति का सामना करना पड़ता है तो उसकी क्रिया शान्त हो जाती है; इसके अतिरिक्त व्याख्या प्रत्येक कृति का इस प्रत्याशा से आलिङ्गन करती है कि उससे ऐक्य प्राप्त कर अत्यानन्द का अनुभव करे।

व्याख्या की भारतीय पद्धति भी विचारणीय है। जैमिनि कृत दर्शन में जिसे पूर्व मीमांसा कहते हैं, वाक्य, प्रकरण, प्रसङ्ग या ग्रन्थ का तात्पर्य निकालने के बहुत सूक्ष्म नियम और युक्तियाँ दी गई हैं। मीमांसकों का यह श्लोक सामान्यतः तात्पर्य निर्णय के लिये प्रसिद्ध है:—

उपक्रमोपसंहारो अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

अर्थात् तात्पर्य-निर्णय के लिये सात बातें साधन स्वरूप हैं:—उपक्रम अर्थात् आरम्भ; उपसंहार अर्थात् अन्तः अभ्यास अर्थात् बार-बार कहना, अपूर्वता अर्थात् नवीनता, फल अर्थात् ग्रन्थ का बताया गया हुआ परिमाण या लाभ; अर्थवाद नवीनता, किसी बात को चित्त में दृढ़ कर देने के लिये दृष्टान्त, उपमा, इत्यादि के रूप में जो कहा जाय और जो मुख्य बात के रूप में न हो और उपपत्ति अर्थात् साधक प्रमाणों द्वारा सिद्धि। किसी ग्रन्थ का निर्माण, निर्माता अपने मन में कोई हेतु रखकर करता है। जब उस हेतु की सिद्धि हो

जाती है तो ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। ग्रन्थ के सब तत्त्व हेतु से निर्णीत होते हैं। इसी से आदि में अन्त और अन्त में आदि की झलक स्पष्ट होनी चाहिये। सम्बन्धतत्त्वों की तार्किक शृङ्खला होनी चाहिये। एरिस्टॉटल ने करुण के निर्माण के विषय में कहा है कि उसमें आदि, मध्य और अन्त होने चाहिये। इन तीनों की परिभाषा उनमें इस प्रकार की है। आदि वह है जिसके पहले कुछ न हो पर पीछे कुछ हो, मध्य वह है जिसके पहले कुछ हो और जिसके पीछे भी कुछ हो और अन्त वह है जिसके पहले कुछ हो और जिसके पीछे कुछ न हो, तीनों में और तीनों के संहत तत्त्वों में अनुक्रम अनिवार्य हो। बस इसी प्रकार का निर्माण प्रत्येक श्रेष्ठ ग्रन्थ का होता है और उसकी व्याख्या के लिए उपक्रम और उपसंहार पर भलीभाँति विचार करना चाहिये। इनके पश्चात् अभ्यास अथवा पुनरुक्ति-स्वरूप पर विचार करना चाहिये। अच्छा लेखक प्रतिपादित विषय को बार-बार पाठक के सम्मुख लाता है जैसे सिनेमा स्टार को खेल में चित्रपट पर बार-बार दिखाया जाता है। पुनरुक्ति एक शब्द द्वारा हो सकती है या वाक्यांश या वाक्य द्वारा हो सकती है जिससे भी ग्रन्थकार के मन की मुख्य बात स्पष्ट हो। इस पुनरुक्त शब्द अथवा वाक्यांश अथवा वाक्य को पकड़ लेना तात्पर्य-निर्णय में बहुत सहायक होता है। चौथा विचार अपूर्वता का है। कोई ग्रन्थकार कुछ न कुछ नई बात कहना चाहता है। पुरानी बातों को दोहराना और उनसे एक पुस्तक निर्मित कर देना तो बहुत ही निम्न श्रेणी के लेखकों का काम है। अतः ग्रन्थ का सार समझने के लिये उसकी विशेषता अथवा नवीनता पर भी ध्यान देना चाहिये। पाँचवा विचार फल का है। जिस परिमाण अथवा लाभ के लिए ग्रन्थ लिखा है उससे भी ग्रन्थ का आशय व्यक्त होता है। एरिस्टॉटल कहता है कि सब वस्तुओं के, चाहे वे प्रकृति द्वारा बनी हों, चाहे कला द्वारा, भौतिक (मैटीरियल) कारण प्रत्ययनिष्ठ (फौरमल) कारण, कार्यक्षम (एफीशैंपट कारण और अन्तिम (फायनल) कारण होते हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य का निर्माण पहले वह वस्तु जिससे गर्भावस्थाविकास शुरू होता है, दूसरे प्रत्यय अथवा विशिष्ट प्रतिरूप जिसके अनुरूप भ्रूण अर्थात् गर्भस्थ बच्चा विकसित होता है, तीसरे जनन क्रिया, और चौथे इस क्रिया का फल अर्थात् एक नये मनुष्य का उत्पादन। गोकि दार्शनिक विचार वस्तुओं के यह चार कारण निश्चित करता है, साधारणतः पिछले दो को दूसरे में समावेश कर देते हैं। और वस्तु निर्माण के दो ही कारण सिद्ध होते हैं—भौतिक और प्रत्ययनिष्ठा। भारतीय व्याख्या का साधन स्वरूप फल एरिस्टॉटल का चौथा कारण है। प्रतिपादित वस्तु को बताकर भी ग्रन्थकार "प्रतिपादन के प्रवाह में दृष्टान्त देने के लिये, तुलना करके एकवाक्यता करने के लिये, समानता और भेद दिखलाने के लिये, प्रतिपक्षियों के दोष बतला कर स्वपक्ष का मण्डल करने के लिये अलङ्कार और अतिशयोक्ति के लिये और युक्तिवाद के पोषक किसी विषय का पूर्व इतिहास बतलाने के लिये और कुछ वर्णन भी कर देते हैं।" यह सब आगन्तुक अविषयान्तर बातें केवल गौरव के लिये या स्पष्टीकरण के लिये होती हैं। इनका सिद्धान्त पक्ष के साथ कोई घना सम्बन्ध नहीं होता। ग्रन्थकार इनके विषय में इस बात की

भी परवाह नहीं करता कि यह सत्य हैं या असत्य । इन सब बातों को ही अर्थवाद कहते हैं और तात्पर्य निर्णय करने में इन्हें छोड़ देते हैं । अर्थवाद के पश्चात् उपपत्ति की ओर ध्यान दिया जाता है । किसी विशेष बात को सिद्ध करने के लिये बाधक प्रमाणों का खण्डन करना और साधक प्रमाणों का तर्कशास्त्रानुसार मण्डन करना उपपत्ति कहा जाता है । अर्थवाद से आनुषङ्गिक और अप्रधान विषयों का निश्चय हो जाता है, और उपपत्ति से हेतु द्वारा प्रस्तुत विषयों का निश्चय हो जाता है । इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार दोनों के बीच का मार्ग अर्थवाद और उपपत्ति परिष्कृत कर देते हैं और तात्पर्य का निर्णय हो जाता है ।

इन सिद्धान्तों की व्यापकता असन्दिग्ध है । पाश्चात्य वाग्मिता और साहित्यशास्त्रों में प्राचीनकाल से ही निर्माण और व्याख्या के नियम बड़े विस्तार से दिये गये हैं । उल्लेखनीय एरिस्टॉटल की 'रेट्रिक' और क्विण्टीलियन की 'इन्स्टीटयूट्स रयटम ऑफ ऑरेटरी' हैं ।

२

जब किसी कृति की व्याख्या के लिये व्याख्याता लेखक के समय के इतिहास का तथा उससे पहले के इतिहास का सहारा लेता है तो उसकी व्याख्या-पद्धति ऐतिहासिक कहलाती है ।

साहित्य, सामाजिक उत्पादन है । वह उस काल के जीवन को प्रतिविम्बित करता है जहाँ से उसका उद्गम होता है; काल की सूक्ष्मतर आत्मा को प्रतिविम्बित करता है, उसके स्थूल भौतिक वातावरण को नहीं । ऐसे प्रेरक हेतु जो काल की आर्थिक, राजनैतिक, और दार्शनिक पूर्वधारणाओं से निश्चित होते हैं साहित्य में नग्न प्रदर्शित किये जाते हैं । उदाहरणार्थ, एडवर्ड तृतीय के दरबार की रोमांसवादी आदर्शवादिता तत्कालीन गिर्जाघरों के दुराचार, और संस्कृत प्राधान्यवाद (ह्यमैनिज़म) के वे प्रभाव जो प्रकृति और गृहस्थ जीवन सौन्दर्य की वर्धित चेतना में दीख पड़ते हैं, चॉसर की कविता में स्पष्टतया अनुपादित हैं, एलीजैवेथ काल के साहित्य में अंग्रेजों की घनीभूत देशभक्ति भावना ही की छाया नहीं मिलती वरन् उनकी आत्मा के उस विस्तार की भी जो पुनरुत्थान काल के धार्मिक सुधार, आविष्कृत छापेखाने द्वारा ज्ञान के प्रचार और प्रदेशख्यापन के प्रभावों से हुआ; पुनरानयन (रैस्टोरेशन) काल के साहित्य की गिरी हुई नैतिक ध्वनि चार्ल्स द्वितीय के दरबारियों की वास्तविकता और उनके व्यभिचार की द्योतक है और उसकी नीरसता इस बात की कि प्रजा गम्भीर उद्देश्यों से पूर्णतया उदासीन थी; रूसो के क्रान्तिकारी प्रकृतिवाद, जर्मनी के बोधातिरिक्त तत्त्वज्ञान और भूत के पुनःप्रवर्तन के प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांसिक (रोमाण्टिक) साहित्य में भली प्रकार देखे जा सकते हैं, विक्टोरिया के काल का साहित्य प्रजातन्त्रवाद की वृद्धि, मानवहित प्राधान्यवादी (ह्यूमैनीटेरियनिज़्म) उत्साह विज्ञान की

प्रगति और उसका धर्म से सङ्घर्ष जीवन की वर्धमान जटिलताएँ और उनको सुलझाने की योजनाएँ और कला के पुनर्जन्म से अनुप्राणित है; और स्वमतासक्ति और विश्वास के विनाश से आई बेचैनी और घबराहट, विभिन्न प्रिय मतों की निष्फलता और प्रतियोगी सत्यों के दावे आज कल के साहित्य में प्रदर्शित हैं।

प्राचीन संसार में साहित्य को तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक दशाओं से सम्बद्ध करने के प्रयास हुए थे। होमर कहता है, "दासता का दिन हमारे आधे गुण हमसे छीन लेता है। स्वामी, दास के प्रति चाहे जितनी उदारता से व्यवहार करे, दासता आत्मा की सङ्कीर्णता और उसकी निष्क्रियता का कारण होती है।" कोई दास न तो सुलेखक हो सकता है, न सुवक्ता, प्रजातन्त्रवाद सब महान् गुणों की खान है, शक्तिशाली साहित्यकार स्वतन्त्र शासन में ही अपना यौवन प्राप्त करते हैं और उसके समाप्त होते ही अन्त हो जाते हैं—यह प्राचीन जगत् की जनता की आम पुकारें थीं। टैसीटस साहित्य कला को स्वातन्त्र्य की पोष्यपुत्री कहता है। लॉञ्जायनस भी अपने समय में महान् साहित्य के अभाव पर दृष्टि डालता हुआ मानता है कि इसका कारण प्रजातन्त्रवाद से जो उत्तेजना मिलती है उसका अभाव हो सकता है, परन्तु वह जातिगत सांसारिक धन्धों में लिप्तता को अधिक बलवान कारण समझता है। आधुनिक संसार में भी उस प्रभाव का अच्छा अध्ययन हुआ है जो ऐतिहासिक परिस्थितियों के साहित्य पर पड़ता है। बेकन के साहित्यिक इतिहास के विषय में बड़े ऊँचे विचार है। साहित्यिक इतिहासकार उसके मतानुसार, साहित्य रचना को उसके उद्गम राजनीतिक और धार्मिक जीवन से सम्बन्धित करता है, और साहित्य के विकास में प्रत्येक काल की प्रतिभा को चित्रित करता है। मिल्टन शास्त्रीय विचार को फिर से दृढ़ करता है कि राजनीतिक स्वातन्त्र्य महान साहित्य के उत्पादन के लिये अति आवश्यक है। ड्राइडन का कथन है कि प्रत्येक जाति अथवा काल की अपनी प्रतिभा होती है, जलवायु का भी मनुष्य स्वभाव पर प्रभाव पडता है और मनुष्यों की मानसिक वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न कालों और स्थानों में भिन्न-भिन्न होती हैं तथा इसी विभिन्नता से रुचि और कला में विभिन्नता आती है। हॉब्स साहित्यिक रूपों का ऐतिहासिक विवरण देता है। वे वाह्य जगत् के विभागों से निर्दिष्ट होते हैं—महाकाव्य और दुःखान्त राजदरबारी जीवन से, सुखान्त और भी व्यंग्यपूर्ण कविताएँ नागरिक जीवन से, और जान-पदकाव्य (पैस्टोरल) ग्राम्य जीवन से। उसका यह भी तर्क है कि शैली के तत्व मानवाचार के परिचय से आते हैं—मनुष्य स्वभाव के विशद, स्पष्ट और घनिष्ट ज्ञान से शैली में उपयुक्तता और वैशद्य आते हैं और चरित्र-चित्रण में औचित्य आता है; मनुष्य स्वभाव के विस्तृत ज्ञान से अभिव्यञ्जना में अपूर्वता और वैचित्र्य आते हैं। कारलायल की साहित्यालोचना का प्रधान रस ऐतिहासिक है; कविता जीवित इतिहास है और कवि की निष्पत्ति उसके अपने इतिहास और जाति के इतिहास से होती है। मैथ्यू आर्नल्ड कहता है कि उत्कृष्ट साहित्य के उत्पादन के लिये मनुष्य की शक्ति अथवा प्रतिभा ही पर्याप्त नहीं है वरन् साथ ही साथ शक्तिवान् अथवा प्रतिभाशाली

लेखक का जीवन ऐसे काल में हो जिसमें उत्कृष्ट भावों और विचारों का असामान्य मात्रा में सञ्चार हो। सञ्चारित भावों और विचारों की शक्ति को वह कालशक्ति कहता है। अपने पक्ष की पुष्टि में वह यूनान के पिण्डार और सौफ़ोक्लीज़ और इङ्गलैण्ड के शेक्सपिअर के उदाहरण देता है। तीनों के महान् कवि होने का कारण यही है कि उनके समय के यूनान और इङ्गलैण्ड में ऐसे भावों और विचारों का सञ्चार था जो रचनात्मक शक्ति के लिये उच्चतम परिमाण में पोषक और जीवनप्रद होते हैं। इसके विपरीत वह जर्मनी के हीन और इङ्गलैण्ड के बायरन की ओर सङ्केत करता है जो महान् पद पाने में निष्फल रहे, क्योंकि पहले कवि के सम्बन्ध में मानुषिक शक्ति और दूसरे कवि के सम्बन्ध में कालशक्ति का अभाव था। फ्रिरैड्रिक श्लैजिल उन चार शक्तियों का जिक्र करता है जो मनुष्यों को सम्बद्ध करती हैं और उनको और उनकी प्रकृतियों को निर्दिष्ट करती हैं—धन और व्यापार की शक्ति, राष्ट्रशक्ति, धर्मशक्ति, और प्राज्ञशक्ति। सबसे पिछली शक्ति को वह साहित्य मानता है। साहित्य उसकी राय में किसी जाति के प्रज्ञा जीवन का सर्वाङ्गी सार है। फलतः उसका निर्णय यही है कि साहित्यालोचन मनुष्य के प्राज्ञ जीवन के अध्ययन के अतिरिक्त कोई दूसरी बात नहीं है। टी० एस० इलियट का विचार है कि किसी काल की आलोचनात्मक शैली उस काल की सांस्कृतिक दशा से निश्चित होती है और इसी कारण से प्रत्येक नया काल अपनी आलोचना आप लिखता है और लेखकों और उनकी कृतियों के मूल्याङ्कन के लिये नये निर्देश देता है।

इस विषय में अंग्रेजी साहित्य के फ्रेञ्च इतिहासकार टेन का महत्व इतना भारी है कि हम उसका अलग से जिक्र करते हैं। वह ऐतिहासिक पद्धति का उचित स्पष्टीकरण ही नहीं करता वरन् उसका विस्तृत प्रयोग भी करता है। प्रत्येक कृति में उसके लेखक की भावात्मक और विचारात्मक रूढ़ि सुरक्षित रहती है। यदि हम लेखक के जीवन को भली-भाँति समझ लें तो उसकी कृति में सुरक्षित उसके भाव और विचार भलीभाँति समझ में आ जायें। बस, लेखकों का ऐतिहासिक अध्ययन व्याख्याता का परम कर्तव्य है। इतिहास को प्राणिशास्त्र की तरह शरीरव्यवच्छेद विद्या प्राप्त हो गई है। पुनश्चित्रण(रैजोल्यूशन) से धारणा अथवा सङ्कल्प रैजोल्यूशन की ओर जाना ही मानसिक विकास का नियम है और पुनश्चित्रण से धारणा अथवा सङ्कल्प की ओर जाने की क्रिया की विभिन्नता से ही मनुष्य स्वभाव की विभिन्नता निर्दिष्ट होती है। पुनश्चित्रण से धारणा अथवा सङ्कल्प की ओर जाने की क्रिया की विभिन्नता तीन शक्तिओं से निश्चित होती हैं--जाति, परिस्थिति और विशिष्ट काल। जाति से तात्पर्य उन जन्मजात और पैतृक प्रवृत्तियों से है जिन्हें लेकर मनुष्य इस जगत् में पैदा होता है और जो शारीरिक निर्माण और मानसिक स्वभाव की विभिन्नता में निहित रहती हैं। यह प्रवृत्तियाँ जाति-जाति में भिन्न होती हैं। आर्यजाति की प्रवृत्तियाँ मुगल जाति की प्रवृत्तियों से और मुगल जाति की प्रवृत्तियाँ आर्यजाति अथवा सैमाइट जाति की प्रवृत्तियों से भिन्न मिलेंगी यद्यपि यह जातियाँ पृथ्वी के विस्तृत क्षेत्रों में फैली हुई

हैं और अनेक उपजातियों में विभक्त हो गई हैं। आर्य जाति गङ्गा नदी से लेकर हैम्ब्रीडीज़ द्वीपों तक फैली हुई है और उसकी उपजातियाँ विभिन्न देशों की जलवायु से और हजारों वर्षों की क्रान्तियों से एक-दूसरी से भिन्न हो गई हैं, किन्तु तो भी वह अपनी भाषाओं, धर्मों, साहित्यों, और दर्शनों में रक्त और बुद्धि की समानता प्रदर्शित करती है। आद्य प्रवृत्तियाँ भौतिक और सामाजिक दशाओं से प्रभावित होती हैं। इन्हें टेन परिस्थिति कहता है। परिस्थिति और स्वभाव दोनों बहुत काल तक साथ-साथ क्रियाशील होकर ऐसे विचार, भावगतियाँ और स्फूर्तियाँ उत्पन्न करते हैं जो उस उपजाति की विशेषताएँ हो जाती हैं जिसमें वे विकसित होती हैं। आर्य जाति के स्वभाव की विभिन्नता जैसे-जैसे वह भिन्न दशाओं में निर्णीत हुई उदाहरणीय है। जर्मन उपजाति में, जिस का निवास ठण्डे, आर्द्र देश में, ऊबड़-खाबड़ दलदले जङ्गलों में, अथवा एक प्रचण्ड महासागर के तट पर हुआ, हिंसा, अतिभक्षण और मदिरापान, लड़ने और खून बहाने की प्रवृत्तियाँ आ गई हैं, यूनानी उपजाति ने जो रम्य प्रदेश में और चमकीले मनोहर समुद्रतट पर रहती आई है और जो सदा शान्तिमय उद्यम में संलग्न रही है, कलात्मक और वैज्ञानिक स्वभाव की वृद्धि की है; जिस राष्ट्रनीति ने इटली की एक सभ्यता को लोलुप बनाया उसी ने दूसरी सभ्यता को विलासप्रिय बनाया; चिरकालीन अविरत आक्रमणों से निष्पन्न सामाजिक दशाओं ने हिन्दुओं के मस्तिष्क में त्याग, अहिंसा, और विश्वव्यापी असारता के भाव भर दिये हैं; आठ शताब्दियों के राजनीतिक संस्थापन ने अंग्रेजों को उच्छृत और आदरणीय, स्वतन्त्र और आज्ञाकारी तथा सार्वजनिक कल्याण के लिये सन्नद्ध बना दिया है। किसी जाति के लिये परिस्थिति वही काम करती है जो किसी व्यक्ति के लिये शिक्षा, जीवनवृत्ति और निवास-स्थान। परिस्थिति में इन सब वाह्य शक्तियों का समावेश है जो मानव पदार्थ को रूप देती हैं। जाति और परिस्थिति की शक्तियों के अतिरिक्त एक तीसरी शक्ति है जो मानव मात्र के लिये सहायक होती है। इसे टेन, युग (एपौक) कहता है। यह शक्ति पहली दोनों शक्तियों से प्राप्त दशा के परिणाम रूप में प्रकट होती है। किसी विशेष समय तक जो प्रगति हुई है, उनका प्रभाव राष्ट्रीय प्रतिभा और परिस्थिति के प्रभावों से मिल जाता है और यह सम्मिश्रित प्रभाव रचनात्मक मन को एक विशेष झुकाव और निर्देश दे देता है। कौर्निल के समय का फ्रांसीसी दुःखान्त वौल्टेअर के समय के दुःखान्त से भिन्न है; एसकीलस के समय का यूनानी नाटक यूरीपीडीज़ के समय के नाटक से भिन्न हैं; डॉ० विन्साई के समय की इटकी की चित्रकला गाइडो के समय की चित्रकला से भिन्न है। इसका कारण यहीं है कि यद्यपि दुःखान्त का मूल स्वभाव अपरिवर्तित रहा है, उत्तराधिकारी को अग्रगामी लेखक की कृति का लाभ मिला है। उलटी तरह से यों समझ सकते हैं कि शेक्सपिअर आर्यों की उसी उपजाति का व्यक्ति होता हुआ और उसी प्रदेश में निवास करता हुआ यदि बीसवीं शताब्दी में पैदा होता तो वह उस तरह का नाटक न लिखता जैसा कि उसने सोलहवीं शताब्दी के अन्त और सतरहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा; युग प्रभाव से उसकी प्रतिभा और तरह की हो जाती। यह

तीनों शक्तियाँ, जाति अथवा आन्तरिक शक्तिप्रभाव, परिस्थिति अथवा वाह्य बल, युग अथवा प्राप्त गतिवेग, सभी सम्भावित अथवा वास्तविक कारण हैं जिनसे मनुष्य की सांस्कृतिक प्रगति निश्चित होती है। टेन का मत है कि इनसे परे और चौथी कोई शक्ति नहीं जिससे मनुष्य प्रभावित होता हो।

इन सिद्धान्तों का विवरण टेन अपनी 'हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लिश लिटरेचर' की भूमिका में देता है। ये सिद्धान्त सर्वाङ्गी नहीं हैं। यह विस्तृत, व्यापक और निर्णायक शक्तियाँ जो मनुष्यों को आगे बढ़ाये लिये जाती हैं, पर्याप्त नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में एक ऐसा विशिष्ट गुण भी पाया जाता है जिसके कारण वह विचित्र और अनवगम्य होता है; और इसी विशिष्ट गुण से मनुष्य के व्यक्तित्व में वह अद्भुत विशेषता आ जाती है जिसका आविर्भाव ही साहित्य का प्रधान आकर्षण है। टेन ने इस पर ध्यान न देने से अपने अंग्रेजी-साहित्य के इतिहास को दोषपूर्ण बना लिया। टेन क्रम से प्रत्येक काल की प्रतिनिध्यात्मक कृतियों और लेखकों का अध्ययन करता है और उसकी सर्वोत्तम आलोचनाएँ अपने सिद्धान्तों की उपेक्षा में ही हैं।

व्याख्यात्मक आलोचक ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग साहित्य समझने के लिये करता है। वह इस पद्धति को वैज्ञानिक की तरह इस्तेमाल नहीं करता कि साहित्य को समाजशास्त्र विषयक तथ्य समझे और उन तथ्यों में निविष्ट हेतुओं की खोज करे। इस प्रकार की हेतुसिद्धि उसका मुख्य कर्तव्य नहीं है, यद्यपि अपने उद्देश्य की ओर बढ़ता हुआ वह यह भी कर सकता है। उसकी धारणा तो यह होती है कि समस्त साहित्य में जो पुराने समय से वर्तमान समय तक आता है, एक अनुभवी आत्मा दूसरी से समय की बृहत् खाड़ी पार करती हुई बोलती है। इस आत्मा के ठीक तात्पर्य को वह कल्पनात्मक सहानुभूति की सहायता से ही उसके समय के जीवन का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके समझ सकता है। अतः ऐसी दैविक सहानुभूति की वृद्धि से वह उन सर्वव्यापी शक्तियों का अध्ययन करता है जिनके खेल में पुरानी आत्माओं ने अपने मनों और कल्पनाओं में उस समय पृथ्वी और आकाश की एक विशिष्ट चित्तसृष्टि का निर्माण किया था।

३

साहित्य आगामी पाठकों के आनन्द के लिये प्रतिभाशाली लेखकों की भावनाओं का सञ्चय करता है। इन भावनाओं की विशेषता निश्चित करने के लिये सर्वव्यापी शक्तियों का मूल्याङ्कन ही पर्याप्त नहीं है। जाति, परिस्थिति, और युग—यह तीनों सर्वव्यापी शक्तियाँ कृति में साहित्यकार के व्यक्तित्व द्वारा पुञ्जीभूत होती हैं। व्यक्तित्व द्वारा ही रचनात्मक प्रयास में रचना की सिद्धि होती है और व्यक्तित्व का विकास जीवन द्वारा होता है, इसलिये साहित्यकार के जीवन का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। जीवनचरित सम्बन्धी व्याख्या पद्धति ऐतिहासिक व्याख्या को पूर्ण करती है।

साहित्य का जीवनचरित सम्बन्धी अध्ययन हाल ही में हुआ है। मध्यकालीन लेखक अधिकांश निम्नवर्ग के होते थे। और उनका कार्य प्राचीन सत्यों और परम्पराओं का सम्प्रेषण होता था। अतएव उनकी कृतियों और उनके जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं होता था। सोलहवीं शताब्दी में जब साहित्य का पुनरुत्थान हुआ, तब ऐसे लेखकों की संख्या बढ़ी जिन्होंने साहित्य में अपनी स्वतन्त्र जीवन-व्याख्या और जीवन-दृष्टि व्यक्त की। ऐसे लेखकों की संख्या को वृद्धि के साथ-साथ ही लेखकों के जीवनचरित में रुचि बढ़ी। फिर भी आदि के जीवनचरितकार, वाल्टन, फुलर, एडवर्ड फिलिप्स, ऑब्रे, वुड, ओल्ड्स और किवर, कवियों के जीवन की मनोरञ्जक सामग्री के रूप में ही प्रयोग करते हैं। कभी-कभी तो वे कवियों के विषय में बड़ी अमूल्य सूचना देते हैं, परन्तु ज्यादातर उल्लिखित बातें तुच्छ, ऊपरी और आकस्मिक होती हैं; ऐसी बहुत कम होती हैं जो गौरवपूर्ण, आभ्यन्तर और सारभूत हों और उनकी कृतियों पर प्रकाश डालती हों। आशानुसार ड्राईडन असाधारण हैं। उसके लिखे हुए लूशियन और प्लूटार्क के जीवनचरितों में जीवनचरित और आलोचना का वह अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है जो डाक्टर जॉनसन की आलोचना की विशेष देन है। अपने प्रस्तावनात्मक कथनों में भी पहले पहल वह ही उन प्रभावों का निरुपण करता है जिनसे साहित्यिक व्यक्तित्व बनता है। 'फ़ेब्ल्स' के प्राक्कथन में वह लिखता है, "मिल्टन स्पैंसर का सच्चा काव्यमय पुत्र था और मिस्टर वॉलर, फ़ेअर-फैक्स का, क्योंकि हम कवियों की भी जाति, परिवार और वंशपरम्परा वैसी ही होती हैं जैसी और लोगों की। स्पेन्सर अनेक बार सङ्केत देता है कि चॉसर की आत्मा उसके शरीर में निविष्ट थी और चॉसर ने अपनी मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद उसे जन्म दिया।" जैसा पहले सङ्केत कर चुके हैं, जॉनसन की लाइन्ज ऑफ द पोइट्स' में लेखक के जीवन का उसकी कृतियों से निकटतम सम्बन्ध दिखाया गया है। कवियों के जीवन के विषय में जब वह तथ्यों का वर्णन करता है तो वह प्रसङ्गानुकूल चाहे जितने उपाख्यान दे व्यर्थ के प्रलाप में नहीं पड़ता; उनके चरित्रों का विश्लेषण सारपूर्ण होता है और यदि जॉनसन के आलोचनात्मक सम्प्रदाय का ख्याल न करें, उनकी कृतियों की आलोचना न्यायपूर्ण होती है। जॉनसन हैज़लिट जैफ़्रे, हैलप, मैकोले, कार्लायल और अन्य ऐसे आलोचकों तथा लेखकों का पथप्रदर्शक है जिन्होंने लेखकों के जीवन को उनकी कृतियों की टीका-टिप्पणी माना है।

आलोचना की जीवनचरित सम्बन्धी पद्धति के प्रतिपादन में सेण्ट ब्यूव का वही स्थान है जो ऐतिहासिक पद्धति के प्रतिपादन में टेन का स्थान है। दोनों व्याख्यात्मक विवरण में एक सी उपयुक्तता और विद्वत्ता का प्रदर्शन करते हैं। सेण्ट ब्यूव को अपनी जीवनचरित सम्बन्धी पद्धति को वैज्ञानिक विस्तार देने की सूझ नवशास्त्रीय मत के विच्छेद से हुई, जब कि आलोचकों ने सब नियमों का परित्याग कर दिया था और आलोचनात्मक संसार में कोलाहल मच गया था। कलाकार ने बाह्य प्रमाण अथवा निर्देश का सहारा बिल्कुल छोड़ दिया और अपनी प्रतिभा ही अपनी काव्य रचना का नियम समझने लगा।

आलोचक ने भी अपने विचारों को कलाकार के अनुरूप कर लिया। आत्मीय रुचि और वैयक्तिक निर्णय में उसे पूर्ण आश्वासन मिला। यदि वह उचित समझे तो सार्वजनिक भावना के अनुकूल अपनी आलोचना करे और पठनशील जनता के मन्त्री की हैसियत से उसके मत का सम्पादन करे। यहाँ तक ही रुढ़िगत आलोचना के लिए सेण्ट ब्यूव की रियासत है। नहीं तो वह रुचि के ऐसे नये मन्दिर के निर्माण के पक्ष में है जहाँ किसी वस्तु का बलिदान न हो, जहाँ उचित गौरव का ह्रास न हो न सर्वमान्य अधिकार का वहिष्कार हो, जहाँ चाहे शेक्सपिअर हो चाहे पोप, चाहे मिल्टन हो चाहे शैली, सब को योग्यतानुसार स्थान मिले। आलोचक का तो कर्त्तव्य यही है कि वह कृति को पढ़े और जाने तथा अपने पठन और ज्ञान से दूसरे का पठन और ज्ञान सुगम करे। परन्तु कृति का पढ़ना और जानना कृतिकार के जीवन से सम्बद्ध है। कृति उसी प्रकार कृतिकार का जीवनमूलक विस्तार है जिस प्रकार फल पेड़ का जीवनमूलक विस्तार है। जैसे फल को जानने के लिये हमें पेड़ का जानना आवश्यक है उसी प्रकार कृति को जानने के लिये हमें कृतिकार को जानना आवश्यक है। कृतिकार के विकास का नियम एक ऐसा नियम है जिसे कृति माने बिना नहीं रह सकती। बस, विज्ञान की सहायता से सेण्टब्यूव ने ऐसी प्रणाली का अनुसन्धान किया जिसके द्वारा कृतिकार के जीवन विकास का ठीक-ठीक ज्ञान हो गया।

पहले, टेन की रीति के अनुसार, आलोचक लेखक की जाति और वाह्य परिस्थिति का अध्ययन करे। उसके पूर्वजों उसके माता-पिता, भाई–बहन, सम्बन्धी और मित्र, उसके गुरु और अध्यापक, तथा उस काल के महान् व्यक्ति जिनका प्रभाव सर्वव्यापी होता है—सब का ज्ञान प्राप्त करे। माता-पिता में आलोचक माता की ओर अधिक ध्यान दे क्योंकि प्रतिभाशाली पुरुष पिता की अपेक्षा माता से अधिक प्रभावित होता है। द्वितीयतः आलोचक उस मण्डली की ओर ध्यान दे जिसमें उसका विषय उठती जवानी में अपनी स्वतन्त्र इच्छा से बातचीत करता था। यह ऐसा समय है जिसमें होनहार लेखक की प्रतिभा खुलती है, जिसमें भावों के अंकुर जमते हैं और जिसमें मस्तिष्क, मस्तिष्क की ओर आकर्षित होता है। मित्र-मण्डली की काव्यगोष्ठी में भावों और विचारों का जल्दी-जल्दी आदान-प्रदान होता है और समान योग्यता के कारण मनों में प्रतिस्पर्धा जागृत होती है; प्रतिभाशाली युवक समझ लेता है कि उसकी रुचि किस प्रकार की है और उसके अनुरूप अपने आन्तरिक गुणों के विस्तार के लिये मार्ग ढूंढ़ निकालता है। मित्र-मण्डली कोस के प्रभाव को सेण्ट ब्यूब बडे महत्त्व का बताता है, वह वृन्द (ग्रूप) कहता है और उसकी परिभाषा इस प्रकार करता है, "मैं वृन्द से चतुर मनुष्यों के उस आकस्मिक और कृत्रिम समुदाय को नहीं समझना जो किसी उद्देश्य पर सहमत होते हैं। मेरा वृन्द से मतलब उस स्वाभाविक और स्वेच्छित साहचर्य का है जिसकी ओर ऐसे नये मस्तिष्कों और नये कौशलों की प्रवृत्ति होती है जो न तो एक-दूसरे के बिल्कुल सदृश्य होते हैं और न विल्कुल एक जाति के होते हैं, परन्तु एक ही नक्षत्र में पैदा होकर एक सी उछल और उड़ान

दिखाते हुये उद्यम और रुचि की विभिन्नता के साथ-साथ एक ही कार्य में संलग्न होते हैं। वृन्द का महत्त्व भारतीय काव्य मीमांसा में भी माना गया है। राजशेखर ने इसे काव्य की एक माता माना है। उपयोगी विद्याओं तथा उपविद्याओं के पठन और अनुशीलन के अतिरिक्त कवि की रुचि सत्सङ्ग, देशज्ञान, लोकव्यवहार, विदग्धवाद और विद्वानों की गोष्ठी की ओर होनी चाहिये। कवि की दिनचर्या में दोपहर के भोजन के बाद काव्यगोष्ठी के अधिवेशन में कवि को सम्मिलित होने की राय दी गई है। अंग्रेजी-साहित्य के इतिहास में ऐसे वृन्द विख्यात हैं जिन्होंने अपने समय के प्रतिभाशाली लेखकों को काव्य के सिद्धान्तों से विवाद द्वारा परिचित किया, पहला वृन्द सतरहवीं शताब्दी के आदि में मर्मेड टैवर्न का था और दूसरे वृन्द कॉफ़ीहाउज़ेज़ में एकत्रित विद्वानों के थे। पाश्चात्य टेब्लटॉक्स और सिम्पोजिया उपर्युक्त भारतीय काव्यगोष्ठी के प्रतिरूप हैं। तृतीयतः व्याख्यात्मक आलोचक को लेखक के प्रथम काव्यात्मक अथवा आलोचनात्मक केन्द्र का अध्ययन करना चाहिये। इस केन्द्र को सेन्टब्यूव वह गर्भाशय बताता है जिसमें लेखक अपना रूप धारण करता है। कोलरिज ने शेक्सपिअर के व्यक्तित्त्व को समझने के लिये उसकी पहली दोनों कृतियों—'वीनस एण्ड एडोनिस' और 'ल्यूक्रेसी' को उसका काव्यात्मक केन्द्र माना। इन दोनों में हमें शेक्सपिअर दौर्बल्य का साक्ष्य ही नहीं मिलता कि कहाँ किसकी स्वच्छन्द कल्पना की गति अवरुद्ध होती है, कहाँ वह केवल भरने के लिये अलङ्कार की अवाञ्छनीय प्रवृत्ति दिखाता है, कहाँ-कहाँ उसकी व्यञ्जना अनियन्त्रित हो जाती है, उसके रूपक कृत्रिम हो जाते हैं और वह स्वयं अतिशयोक्ति के हाथ में विवश हो जाता है; किन्तु इन्हीं में हमें उसकी शक्ति का भी साक्ष्य मिलता है कि उसकी प्रतिभाएँ कितनी सुस्पष्ट हैं, उसका आवेग कैसा व्याप्त है और उसके विचार गहरे और प्रबल हैं। इन्हीं दोनों कृतियों में हमें शेक्सपिअर के दुःखान्त भाव का अंकुर मिलता है कि अनिष्ट दृढ़ाग्रह से होता है—वीनस, बड़ी कामातुर स्त्री, सुन्दर और पवित्र युवक एडोनिस पर आसक्त होकर नाश को प्राप्त होती है; टार्क्विन ल्यूक्रेसी के सतीत्व भङ्ग करने पर उतारू होकर उसकी आत्महत्या और अपने निर्वासन का कारण हो जाता है। दोनों दशाओं में काम-चेष्टा का दृढ़ाग्रह ही दुःखमूलक है। शैली का आलोचनात्मक केन्द्र उसकी 'क्वीन, मैब' में मिलता है। इस काव्य में जैसा पीछे से 'प्रौमीथ्यूस अनबाउण्ड' से प्रकट है, अनिष्ट का कारण एक ऐसी स्वेच्छाचारी क्रिया माना गया है जिसके निर्मूलन से मनुष्य और प्रकृति दोनों पूर्णता प्राप्त करते है। चतुर्थतया, व्याख्यात्मक आलोचक को लेखक के जीवनचरित की प्रगति का अध्ययन करना चाहियै, कब-कब उसको सफलता प्राप्त हुई और कब-कब असफलता और उन सफलताओं और विफलताओं का उसकी विचारगति पर क्या प्रभाव पड़ा, इस अध्ययन में आलोचक को लेखक के धार्मिक विचारों पर उसकी मित्रताओं पर, तथा प्रकृति प्रेम, और द्रव्य की ओर उसकी भावनाओं पर पूरा ध्यान देना चाहिये। डाउडन ने शेक्सपिअर की रचनाओं का क्रम उसकी बदलती हुई विचारगतियों के अनुसार बड़ी आश्चर्यजनक स्पष्टता के साथ किया है। आदि के हास्य नाटक उल्लसित हास से परिपूर्ण हैं; अगले हास्यों और ऐतिहासिक नाटकों के अङ्कों में दुर्निग्रह हर्ष का

प्रदर्शन मिलता है, इनसे भी अगले करुण नाटक गाढ़ निराशावाद से भरे हुए हैं और अन्त के रोमान्सवादी हास्य जीवन समस्याओं पर स्वच्छ प्रकाश डालते हैं।

किसी लेखक का उपर्युक्त रीति से अध्ययन करने के लिये आलोचक में बहुत से विशेष गुणों की आवश्यकता है। उसमें वैज्ञानिक की जैसी पर्यवेक्षण शक्ति, कलाकार का जैसा अन्तरवबोध और ऋषि की जैसी विषयनिष्ठता होनी चाहिये। इन गुणों से सम्पन्न वह किसी ऐसे सूत्र को न छोड़े जिससे लेखक के व्यक्तित्त्व का स्पष्टीकरण हो। व्यक्ति की परिभाषा ही आलोचक का अन्तिम धर्म है। जैसे ही व्यक्ति की परिभाषा निश्चित हुई, उसकी कृति की परिभाषा निश्चित हो जाती है, क्योंकि परिभाषा से कृतिकार की उस व्यक्तिगत शक्ति का पता चल जाता है जो उसकी कृति में प्रवाहित होती है। आलोचक 'एक ऐसा विशेषज्ञ है जिसमें सब सङ्गत तथ्यों को खोजने और उनकी परीक्षा करने की योग्यता होती है और जो इस योग्यता से साहित्यिक वंशों और जातियों की परम्परा निश्चित कर देता है। सेण्ट ब्यूव ने अपना कर्तव्य इसी तरह समझा। शैतोब्रायां पर अपने निबन्ध में जहाँ उसकी रीति वर्णित है, वह साफ कहता है कि लेखक का व्यक्तित्त्व बिल्कुल सही परिभाषित हो सकता है। वह स्वयं शैतोब्रायां को विश्वजनीन कल्पना वाला भोगासक्त पुरुष कहता है। इसी प्रकार आर्नल्ड शैली को एक ऐसा सुन्दर परन्तु प्रभावहीन देवदूत कहता है जो अन्तरिक्ष में अपने परों को व्यर्थ में फड़फड़ाता है। इसी प्रकार मिडिल्टन मरे शेक्सपिअर की प्रतिभा को ऐसे गुण से सम्पन्न मानता है जिसके द्वारा उसे सुख-दुःख, भलाई-बुराई और सफलता-विफलता, सब एक से ग्राह्य थे। हिन्दी में, सूर वात्सल्य और सख्य भाव से शुद्धाद्वैत की भक्ति का चित्रण करता है, तुलसी में दासदैन्य भाव से विशिष्टाद्वैत की भक्ति प्रधान है और कबीर निर्गुणोपासक होते हुए भी माधुर्य या दाम्पत्य-भाव की भक्ति के साथ शुद्धप्रेमनिष्ठ एकेश्वरवादी हठ योगी हैं। काव्यरचनाओं की परिभाषाएँ पहले से ही बड़ी सही हो रही थीं—जैसे होमर के 'इलियड की मुख्य विचार धारा है कि लड़ई मनुष्य जीवन का अनिष्ट है, मिल्टन के 'पैरैडाइज़ लॉस्ट' की मुख्य विचारधारा निश्चित भाग्य या मुक्त इच्छाशक्ति की समस्या है जैसे 'उसके पैरैडाइज़ रिगेण्ड' की मुख्य विचारधारा सांसारिक लिप्तता पर आत्मा की विजय है; और गटे के 'फ़ौस्ट' की मुख्य विचारधारा है कि ज्ञान की प्रगति अनिष्टकारी है और उसकी तृष्णा दण्डनीय है। 'महाभारत' में ऐतिहासिककारों की उपासना प्रधान है, "गीता वह नीतिशास्त्र अथवा कर्त्तव्यधर्मशास्त्र है जो ब्रह्मविद्या से सिद्ध होता है," जैसा परमहंस श्रीकृष्णानन्द स्वामी के इन शब्दों से स्पष्ट है, "तस्मात् गीतानाम ब्रह्मविद्यामूलं नीतिशास्त्रम्।" और 'रामचरित-मानस' में सर्वांगपूर्ण सगुणोपासना का निरूपण है। लेखकों की इतनी सही परिभाषाएँ पहले नहीं होती थीं। आलोचना का इस ओर दृष्टि खींचना सेण्ट ब्यूव की विशेषता है।

सेण्ट ब्यूव ने टेन की आलोचना ठीक की है। वह कहता है कि टेन ने निस्सन्देह लेखक की उस शरीर-रचना की नस-नस और रग-रग तक बड़ी निकट परीक्षा की है जिसमें

आत्मा का प्रवेश हुआ, जहाँ उसने अपना खेल खेला और अपने व्यक्तित्व का विकास पाया परन्तु वह प्रतिभा के ज्योतिविन्दु तक पहुँचने में असमर्थ रहा। इस ज्योतिविन्दु को अपने प्रकाश में दिखाने का साहस सेण्ट ब्यूव ने किया। परन्तु सेण्ट ब्यूव की जीवनचरित सम्बन्धी पद्धति में कई स्वाभाविक कठिनाइयाँ निहित हैं। पहली कठिनाई यह है कि जीवनवस्तु पर इस प्रकार प्रयोग नहीं किया जा सकता जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रयोगशाला में प्रकृतिवस्तु पर किया जाता है, न उसके निरीक्षण की वैसी सुविधाएँ ही हैं। साधारण रूप से देखने में ऐसा भी मालूम होता है कि उक्त पद्धति के अङ्गों में दोष हैं। पैत्रिक प्रभाव को ही लीजिए। हम जानते हैं कि मार्लो एक मोची का लड़का था, स्पेन्सर का बाप एक जुलाहा था जो दिन प्रतिदिन कपड़ा बेचकर जीवन निर्वाह करता था, बैन जॉनसन एक राज के घर में पला था, मिल्टन एक मुन्शी का लड़का था, वर्ड्सवर्थ एक ग्रामीण परकार्यसाधक 'का पुत्र था, और कीट्स का बाप एक परिवेषधारी साईस था। कालिदास एक गरीब ब्राह्मण का लड़का था जिसे छः वर्ष की अवस्था से अनाथ रह जाने के कारण एक बैल हाँकने वाले ने पाला था, कबीरदास ने आदि ग्रन्थ में अपने को जुलाहा लिखा है, "तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा बूझहु मोर गियाना" और सूरदास, तुलसीदास, तथा मलिक मुहम्मद जायसी, सब बड़े दरिद्र घरों में पैदा हुए थे। गॉल्टन अपनी 'हैरैडिटैरी जीनियस' नामक पुस्तक में इस आशय का प्रस्ताव पेश करता है कि प्रतिभाशाली पुरुष के वंश में अवश्य कोई प्रतिभाशाली पुरुष रहा होगा। ऐसा होता है कि प्रतिभा के जीवाणु कई पुश्तों तक बिना विकसित हुए प्रवाहित रहें और प्रतिभाशाली पुरुष के माता-पिता में प्रतिभा का कोई अप्रच्छन्न चिह्न न दीख पड़े। किन्तु अकस्मात् प्रतिभावान् पुरुष में प्रतिभा के जीवाणु उचितस्थान पाकर विकसित हो जाते हैं और अपना चमत्कार दिखाने लगते हैं। परन्तु इसकी कोई वैज्ञानिक जाँच नहीं है। फिर आलोचनात्मक परीक्षा की जीवनचरित सम्बन्धी पद्धति ऐसे लेखकों के विषय में विफल होती है जो अपने को अपनी कृतियों में व्यक्त नहीं करते। शैली, ज्यॉर्ज इलियट और आर० एल० स्टैबैनसन जैसे लेखक अपने जीवन की कृतियों और घटनाओं से समझ में आ सकते हैं, परन्तु शेक्सपिअर और वर्ड्सवर्थ ऐसे भी लेखक हैं, जो अपनी काव्यकृतियों से अपने जीवन चरित्रों को बिल्कुल अलग रखते हैं। अन्त में जीवनचरित सम्बन्धी पद्धति ऐसे मृत लेखकों के विषय में तो असम्भव ही है जिनके बारे में उनकी काव्यकृतियों के अतिरिक्त हमारे पास कोई किसी प्रकार की सूचना ही नहीं है।

४

कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें मनोवैज्ञानिक अनुराग होता है। हैम्लैट के विषय में अनैस्टि जेम्स का मत है कि वह एडीपस ग्रन्थि की क्रियाशीलता के कारण किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुआ। उसके आरम्भिक मातृप्रेम में एक अव्यक्त कामवासना थी। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे यह देखना असह्य हुआ कि उसके चचा क्लॉडिअस ने उस स्थान को ले लिया जिस पर वह स्वयं होना चाहता था। उसके अचेतन ने अपने पिता की मृत्यु को अपनी

माता के पुनर्विवाह से सम्बन्धित कर रखा था। अतः वह अपने चचा को सफल प्रतियोगी पाकर घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। स्थिति यह हो जाती है कि वह अपने चचा की खुल्लम खुल्ला भर्त्सना इस डर से नहीं कर सकता कि कहीं अपनी माँ की ओर अपनी प्रच्छन्न कामवासना न खोल बैठे, और क्लॉडिअस की हत्या से इस विचार से हिचकने लगता है कि ऐसा करने से उसकी माँ को, जिसके प्रति उसका कोमल भाव वर्तमान है, क्लेश हो जायगा। इन वृत्तियों के निरोध का फल सङ्कल्पाघात हो जाता है। विण्डहम लैविस का दृढ़ विचार है कि शेक्सपिअर की दुःखान्त रचना में चित्तविक्षेप एक साधारण तत्त्व है, और हैम्लैट, लीअर, ऑथैलो, और टाइमन सब मतिभ्रष्ट हैं। डॉक्टर समरविल ने शेक्सपिअर के पात्रों का बड़ी सावधानी से मनोविश्लेषण किया है और प्रत्येक के विक्षेप को अपनी 'मैडनैस इन शेक्सपीरिअन ट्रैजैडी' नाम की पुस्तक में बड़ी सूक्ष्मता से वर्णित किया है—हैम्लैट ऐसी प्रकृति का समलिङ्गरत मनुष्य है जो कभी-कभी असामान्यतः भड़क जाता है और कभी-कभी असामान्यतः शान्त हो जाता है; मैक्बैथ शक्ति और महत्त्व के भ्रम से मदान्ध है और इसी से उत्ताप की दशा में भूत-प्रेत देखने लगता है; ऑथैलो हिजड़ा है और अपनी पेशियों और सैनिक प्रतियोगिता में प्राप्त पुरस्कारों से अधिक प्रेम करता है, डैस्डैमोना से कम, लीअर तीव्र एकचित्तता से रुग्ण है, टायमन को अहङ्कारोन्माद है और उपदंश रोग का बीमार है। प्रेमतत्त्व के आधिक्य के कारण उपन्यासों और आख्यायिकाओं में मनोविश्लेषण का समावेश अनिवार्य हैं, रिचार्डसन 'क्लैरिसा हार्लो' में स्त्री-चित्त की चञ्चलता अङ्कित करता है, एन्थनी ट्रौलोप 'द वार्डन' में एक वृद्ध अध्यक्ष की सद्विवेक बुद्धि का विश्लेषण करता है, मिसिज़ गैस्कल अपने 'रूथ' में वाह्य घटनाओं का आन्तरिक विचारों और भावनाओं से सम्बन्ध स्थापित करती है, ज्यॉर्ज इलियट डैनियल डिरोंडा के भद्र ज्यू मौर्डिकाई और उसकी मृदु पुत्री मीरा से आकर्षण में अचेतन पैत्रिक प्रभाव का बल दिखाती है; ज्यॉर्ज मैरिडिल अपने उपन्यासों में हमारे अदृश्य जीवन की घटनाओं को हमारी बोधशक्ति के सम्मुख तर्कपूर्ण स्पष्टता से रखता है; आर० एल० स्टीवैन्सन अपने 'मारखेम' और 'डॉक्टर जैकिल एण्ड मिस्टर हाइड' में मानव स्वभाव के द्वित्व का अध्ययन करता है कि कैसे मनुष्य कभी भलाई की ओर और कभी बुराई की ओर प्रवृत्त होता है; शारलौट यङ्ग अपनी पुस्तकों में बड़े घराने की कुमारियों की प्रेमवासना की उत्कृष्ट शोधि वर्णित करती है, और डी० एच० लॉरेन्स जो अपने नायकों के लिये सङ्कल्प सिद्धि का उद्देश्य निर्धारित करता है, जेम्सजॉयस की तरह, उनकी चेतन कल्पनाओं को ही नहीं वरन् उनकी अचेतन उन्मुक्त कल्पनाओं को भी चित्रपट पर लाता है। आज कल मनोविश्लेषण का प्रयोग गद्य कथाओं में बढ़ता ही जाता है और जो अतीत में वाह्य दृश्य का महत्त्व था, वह अब आन्तरिक दृश्य का महत्त्व होता जाता है। समकालीन उपन्यासकार अपने पात्रों के निर्णयावसरों में मानसिक गति के प्रदर्शन हेतु इतना परिश्रम करता है कि पुराने उपन्यासकार की तरह वह असङ्गत घटनाओं के चित्रण से कथा प्रवाह को रोक देता है।

ऐसी कृतियों की व्याख्या जो आन्तरिक यथार्थ पर आधारित हैं, मनोवैज्ञानिक ही होगी। परन्तु इस प्रसङ्ग में 'मनोवैज्ञानिक' संज्ञा का सङ्केत वस्तु की ओर है, व्याख्या-पद्धति की ओर नहीं। पिछले खण्डों में 'ऐतिहासिक' और 'जीवन-चरित्र सम्बन्धी' संज्ञाएँ पद्धति की सूचक थीं, वस्तु की नहीं। अतः मनोवैज्ञानिक कृतियों की आलोचना दूसरे अर्थ में मनोवैज्ञानिक समझनी चाहिये। जब सङ्केत पद्धति की ओर हो तो मनोवैज्ञानिक व्याख्या वह व्याख्या कही जायगी जिसमें कृति का सम्बन्ध कृतिकार के मस्तिष्क से स्थापित किया जाता है।

जब से मनोविश्लेषण में अनुराग की वृद्धि हुई तब से मनुष्य स्वभाव के अध्ययन को बड़ी उत्तेजना मिली है। फ्रायड ने तीन प्रकार के स्वभावों का वर्णन किया है—मौखिक, गुदासम्बन्धी और जननेन्द्रिय सम्बन्धी। इन तीनों संज्ञाओं की व्युत्पत्ति मुख, गुदा, और जनेन्द्रिय से है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी कामवासना तृप्त करता है। फ्रायड काम-प्रवृत्ति का उदय यौवनकाल नहीं मानता और उसकी समाप्ति परिवर्तन (क्लाइमक्टैरिक) नहीं मानता। उसकी धारणा है कि बच्चे का जीवन पैदा होने के कुछ दिन पीछे ही लिङ्गमूलक हो जाता है, क्योंकि वह माँ का दूध चूसने में आनन्द की अनुभूति करता है। फिर उसे गुदा से विष्टा निकालने की क्रिया में आनन्द आने लगता है। और फिर धीरे-धीरे उसका आनन्द जनेन्द्रिय में सङ्केन्द्रित हो जाता है, यह यौवनकाल में होता है। यदि बच्चे को दूध चूसने में विशेष आनन्द आया है तो बड़ा होकर भी वह यह प्रवृत्ति दिखायेगा, यदि उसे गुदा से विष्टा फेंकने की क्रिया में विशेष आनन्द आया है तो बड़े होने पर भी वह यह प्रवृत्ति दिखायेगा। बचपन की यह दोनों प्रवृत्तियाँ यौवनकाल में जनेन्द्रिय तृप्ति के साथ मिलकर लिङ्गमूलक जीवन को उत्तेजित करती हैं। यदि किसी व्यक्ति को बचपन में दूध चूसने में विशेष आनन्द आया है तो उसका स्वभाव मौखिक होगा। मौखिक स्वभाव के दो रूप है—यदि उसे चूसने में पूरी तृप्ति हुई है तो वह स्वभाव का मौजी और आशावादी होगा और यदि चूसने में उसे माता के स्वभाव से अथवा उसकी व्यस्तता से रुकावट हुई है तो वह स्वभाव का ग्रहिल और अवलम्बी होगा। आमतौर से मौखिक स्वभाव जल्दबाज, अश्रान्त और अधीर होता है और इन्हीं कारणों से उसकी नये विचारों तक पहुँच होती है। यदि किसी व्यक्ति को बचपन में निष्क्रमण क्रिया में विशेष आनन्द आया है, तो उसका स्वभाव गुदा सम्बन्धी होगा। गुदा-सम्बन्धी स्वभाव के प्रधान गुण सुव्यवस्थिति, कृपणता, और हठीलापन हैं। कभी-कभी इस स्वभाव के साथ निर्दयता भी मिला दी जाती है। यह मिश्रित स्वभाव कामाग्नि के उत्तेजित होने पर दूसरों पर सख्ती या ज्यादती करने में आनन्द लेता है। गुदासम्बन्धी स्वभाव मौखिक स्वभाव के विपरीत दीर्घोद्यमी और दृढ़ाग्रही होता है, और जैसे मौखिक स्वभाव नूतनप्रेमी होता है, गुदासम्बन्धी स्वभाव नूतनद्वेषी होता है। यौवनकाल में ये दोनों तृप्तियाँ साधारणतः जननेन्द्रिय सम्बन्धी तृप्ति के अधीन हो जाती हैं क्योंकि इस तृप्ति का सम्बन्ध मनुष्यजाति के उत्पादन और संरक्षण से सम्बन्धित है। जननेन्द्रिय सम्बन्धी स्वभाव यथादर्श होता है। यह स्वभाव पहले दोनों स्वभावों से वे तत्त्व ले लेता है जो व्यक्ति को सामाजिक व्यापारों में सहूलियत देते हैं, मौखिक स्वभाव से

उसे स्फूर्ति और आशायुक्तता मिलती है, और गुदासम्बन्धी स्वभाव से उसे सञ्चालन और सहिष्णुता मिलती हैं। मौखिक अथवा गुदासम्बन्धी स्वभाव का प्राबल्य सामाजिक अनुपयुक्तता का चिह्न है। कलाकार का स्वभाव जनेन्द्रिय स्वभाव से मौखिक और गुदासम्बन्धी स्वभाव की ओर विचलित होगा। यह रहा फ्रायड का वर्गीकरण। यूङ्ग का मानसिक स्वभावों का वर्गीकरण अधिक विस्तृत है। वह पहले मन की ज्ञानात्मक, भावात्मक, अन्तरवबोधात्मक, और संवेदनात्मक—चार क्रियाओं के अनुरूप चार प्रकार के स्वभाव निश्चित करता है। व्यक्ति में वाह्य जगत् से अपने को उपयुक्त करने में जिस मानसिक क्रिया का प्राधान्य होगा उसके अनुरूप उसका स्वभाव माना जायगा। ज्ञानात्मक और भावात्मक क्रियाएँ तर्कमूलक हैं और अन्तरवबोधात्मक क्रियाएँ अतर्कमूलक हैं। ज्ञानात्मक स्वभाव भावुकता में कमजोर होता है और हर एक स्थिति का बहुत सोच-समझ कर सामना करता है। भावात्मक स्वभाव वस्तुओं के प्रति अपनी रुचि अथवा अरुचि प्रकट करता है। और कभी-कभी तो केवल वस्तुजनित भावगति से ही संतुष्ट हो जाता है। संवेदनात्मक स्वभाव अन्तरवबोध में कमजोर होता है और तात्कालिक और तत्स्थानीय यथार्थ से सीमित रहता है। अन्तरवबोधात्मक स्वभाव संवेदना में कमजोर होता है और वस्तु के अस्तित्व से पराङ्मुख हो उसके सम्भाव्य की ओर देखता है, कोई घटना वास्तव में कैसी है इससे कोई मतलब नहीं, आगे कैसी हो सकती है इसकी ओर मानसिक दृष्टि प्रवृत्त होती है। इन चारों स्वभावों में से हर एक को अन्तर्मुखी या वहिर्मुखी होने के आधार पर फिर विभक्त किया जाता है। वहिर्मुखत्त्व में जीवनशक्ति बाहर की ओर वस्तु तक गतिशील होती है और अन्तर्मुखत्त्व में वस्तु से परे भीतर की ओर प्रवाहित होती है। इस प्रकार यूङ्ग के स्वभाव के प्रकार आठ हो जाते हैं। पहला वहिर्मुखी ज्ञानात्मक स्वभाव है। वह अपना जीवन ऐसे तार्किक निष्कर्षों से व्यवस्थित करता है जो वास्तविक अनुभवों के तथ्यों पर या मान्य सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं। उस का विचार अवैयक्तिक और निर्णायक होता है तथा जीवन के उन दृश्यों पर अपना अभिनय करता है जहाँ पदार्थनिष्ठ निर्णायक योग्यता की आवश्यकता होती है। इस स्वभाव का मनुष्य भौतिक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, धनाधिकारी, वकील अथवा एञ्जिनियर होता है। दूसरा अन्तर्मुखी ज्ञानात्मक स्वभाव है। जब विचार अन्तर्मुखी स्वभाव का निर्देश देता है तो विचार आत्मिक हो जाता है, अनात्मिक नहीं रहता। अन्तर्मुखी विचार मन में पड़ी हुई प्रतिमाओं के सम्पर्क में आता है और जब यह प्रतिमाएँ अचेतन से जागृत होकर चेतन मे आती हैं तो मन उन्हें अनात्मिक तथ्यों पर आरोप कर देता है। फलतः इस स्वभाव का मनुष्य कल्पनाशील, रचनात्मक, और रहस्यवादी होता है। इस वर्ग में आदर्शवादी, दार्शनिक और उन्मुक्त कल्पना को प्राधान्य देने वाले लेखक पड़ते हैं। तीसरा वहिर्मुखी भावात्मक स्वभाव है। इस स्वभाव का मनुष्य अनात्मिक होता है अर्थात् उसका भाव स्वयं पदार्थ पर या मूल्याङ्कन के परम्परागत मानदण्डों पर निर्भर होता है। वह उसी चीज़ को पसन्द या नापसन्द करता है जिसे सब पसन्द या नापसन्द करते हैं और उसे वही सत्य, शिव, और सुन्दर लगता है

जो सब को सत्य, शिव, और सुन्दर लगता है। उसका भाव उसके विचार के अधीन होता है और वहीं उत्तेजित होता है जहाँ उसके विचार से उत्तेजित होना चाहिये। इस स्वभाव का मनुष्य मिलनसार और सर्वप्रिय होता है। काव्य में अमौलिक शास्त्रीय रचयिता इस वर्ग में पड़ते हैं। चौथा अन्तर्मुखी भावात्मक स्वभाव है। इस स्वभाव के मनुष्य का भाव आत्मिक होता है और प्रायः वस्तु की उपेक्षा करता है। वह बड़ा संवेदनशील होता है परन्तु अपनी संवेदनाओं और भावों को व्यक्त नहीं कर पाता। इसीलिए दूसरे आदमी उसे ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। यदि काव्य में ऐसा पुरुष आत्माभिव्यञ्जना करे तो वह अद्भुत श्रेणी का स्वच्छन्दवादी लेखक होगा। पाँचवी वहिर्मुखी संवेदनात्मक स्वभाव है। यह दूसरे वहिर्मुखी स्वभावों की तरह अनात्मिक है। वास्तविक स्थूल पदार्थ ही उसके मूल तथ्य हैं और उनसे जो संवेदनाएँ उसे प्राप्त होती हैं, वे ही उसके लिये जीवन का मूल्य हैं। वस्तुएँ उसके भोग और सुख के लिये वर्तमान हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वह लम्पट और अशिष्ट हो। उसके भोग और सुख शुद्ध हो सकते हैं और सौन्दर्य का सच्चा अनुभव हो सकता है। फिर भी संवेदनाएँ ही उसके लिये जीवन सार हैं। कीट्स उठती जवानी में ऐसे ही स्वभाव का कवि था। वह संवेदनाओं के जीवन पर विचारों को न्योछावर करने के लिये उद्यत रहता था। छठा अन्तर्मुखी संवेदात्मक स्वभाव है। इस स्वभाव का मनुष्य अनात्मिक नहीं होता। वह वस्तु से अलग रहता है और अपने और उसके बीच में अपना आत्मिक अवबोध, अपना आत्मिक विचार ले आता है। वह वस्तु में ऐसे गुणों का समावेश कर देता है जो उसमें नहीं होते और वस्तु-जनित उसका सुख अनुपस्थित और परिवर्धित होता है। सातवाँ वहिर्मुखी अन्तरवबोधात्मक है। जबकि संवेदनात्मक स्वभाव का मनुष्य स्थूल वस्तु को जैसी है वैसी ही देखता है, अन्तरवबोधात्मक स्वभाव जैसी वस्तु उसके सामने है वैसी उसे नहीं देखता वरन् उसमें जसका भविष्य सम्भाव्य देखता है। संवेदना अन्धोटे लगे हुए घोड़े की तरह है जो सड़क को अगले पैरों के नीचे ही देख सकता है और उससे आगे नहीं, अन्तरवबोध उस घोड़े की तरह है जो अपनी टांगों के नीचे की सड़क नहीं देख सकता क्योंकि उसकी आँखें निरन्तर आगे लगी हुई हैं। इसीलिये बहिर्मुखी अन्तरवबोधात्मक स्वभाव के मनुष्य की लालसा वाह्य घटनाओं के सम्भाव्यों की ओर रहती है। वह वस्तु के वर्तमान मूल्य की उसके भविष्य के हेतु उपेक्षा करता है। भविष्य मूल्य के निदर्शन में उसका दिमाग यथाभूत तथ्य को नये संयोग में और नये रूपों में देखता रहता है। इस वर्ग में उच्चकोटि के कवि, आविष्कारक, और वैज्ञानिक पड़ते हैं। आठवीं अन्तर्मुखी अन्तरवबोधात्मक स्वभाव है। इस स्वभाब का मनुष्य वाह्य वस्तुओं से कोई प्रयोजन नहीं रखता। उसका अवबोध आत्मिक है और अचेतन की प्रतिमाओं पर निर्दिष्ट होता है। वे ही उसकी कल्पनाओं की उपकरण सामग्री बनती हैं। उसके लिये आन्तरिक प्रतिमाओं का वही मूल्य होता है जो बहिर्मुखी स्वभाव के मनुष्य के लिये वाह्य जगत् की प्रतिमाओं के लिये होता है। यदि इस स्वभाव का मनुष्य कलाकार हो तो उसकी कृतियाँ स्वच्छन्द, विलक्षण और तर्कहीन होंगी। फ्रायड और यूङ्ग दोनों के स्वभाव वर्गीकरण आलोचनात्मक मस्तिष्कों को अग्राह्य हैं। वास्तव में

स्वभावों का कोई स्थैर्य नहीं। स्वभाव बने भी रहते हैं और साथ ही साथ रूपान्तरित भी होते रहते हैं। उह उक्ति भले ही सत्य न हो कि प्रत्येक व्यक्ति भोजन के पहले डायोजैनीज़ और भोजन के पीछे एपीक्यूरस हो जाता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शारीरिक अवस्थाएँ संवेदना शक्ति ही में नहीं वरन् अन्तरवबोधात्मक ग्रहण, भावात्मक मूल्याङ्कन, और प्राज्ञ-निर्णय में भी अन्तर पैदा कर देती हैं। शरीर और मन वास्तव में एक हैं, अपनी निकृष्टतम दशा में मन शरीर हो जाता है और शरीर अपनी सर्वोत्कृष्ट दशा में मन हो जाता है। हमारी सब प्रतिक्रियाएँ शरीर—और—मनमय होती हैं। इस तरह वहिर्मुखत्व और अन्तर्मुखत्व एक-दूसरे के बहिष्कारी नहीं हैं। एक ही व्यक्ति की वृत्ति कभी बहिर्मुखी और कभी अन्तर्मुखी हो सकती है। यदि कोई मनुष्य बहुत समय तक इच्छित वस्तु से वञ्चित रहे तो वह अन्तर्मुखी हो जाता है, और वही मनुष्य यदि उसे इच्छितवस्तु प्राप्त हो जाय तो वहिर्मुखी हो जाता है। ऐसे वर्गीकरणों का उद्देश्य केवल यही है कि इनके द्वारा वह चेतन अवस्था परिभाषित हो जाती है जिसका प्राधान्य व्यक्ति की वृत्ति का जीवन और जीवन के व्यापारों में निश्चित करता है।

मनुष्य मन के स्वभाव का यह विस्तृत हाल इस कारण दिया है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना कृति का स्रोत कृतिकार के मन में देखती है जैसे कि जीवन-चरित-सम्बन्धी आलोचना कृति का स्रोत कृतिकार के जीवन में ढूँढ़ती है और ऐतिहासिक आलोचना कृति का स्रोत कृतिकार के समय के इतिहास में देखती है। जैसे जीवनचरितात्मक आलोचना ऐतिहासिक आलोचना को पूरा करती है, वैसे ही मनोवैज्ञानिक आलोचना जीवनचरितात्मक आलोचना को पूरा करती है। बस, बात यह है कि जीवनचरितात्मक आलोचना का निर्देश ऐतिहासिक आलोचना के निर्देश की अपेक्षा अधिक सीमित होता है जैसे मनोवैज्ञानिक आलोचना का निर्देश जीवनचरितात्मक आलोचना के निर्देश की अपेक्षा अधिक सीमित होता है।

आलोचक को जीवित लेखक के मन को समझने की सुविधाएँ प्राप्त हैं। परन्तु पुराने लेखक के मन का पुनर्निर्माण उतना ही कठिन है जितना कि उसके जीवन का पुनर्निर्माण। यहाँ भी आलोचक की सहायता विज्ञान ने की है। विज्ञान में विश्लेषण संश्लेषण से पहले आता है। पहले वैज्ञानिक किसी पदार्थ के घटनावयवों का विश्लेषण करता है और फिर उन्हें मिलाकर उसी पदार्थ का पुनर्निर्माण करता है। किस प्रकार पानी का विश्लेषण ऑक्सीजन और हाइड्रोजन में होता है और किस प्रकार आक्सीजन और हाइड्रोजन का मिलकर फिर पानी में संश्लेषण हो जाता है, विज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। जब तक वैज्ञानिक विश्लेषण और संश्लेषण में सफल नहीं होता तब तक वह पदार्थ के विषय में अपने ज्ञान को पूरा नहीं मानता। आलोचना ने भी वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग आरम्भ किया है। लेखक का व्यक्तित्व उसकी कृति में प्रविष्ट होता है और उसके स्पष्टतम चिह्न उन स्थानों में मिलते हैं जहाँ वह बार-बार एक ही बात कहता

है या जहाँ वह मानव स्वभाव के गहनतम स्तरों तक पहुँचता है, क्योंकि ऐसे स्थलों में वह अवश्य आत्मानुभूति से बोलता है। ऐसे चिह्नों को एकत्रित करके आलोचक अपने कार्यार्थ लेखक के उस मन का पुनःसृजन करता है जो बहुत सी धाराओं में कृति में प्रवाहित हुआ। पुनःसृजन की सफलता पुनःसृजित मन का दूसरे स्थलों में अथवा उसकी रचित दूसरी कृतियों में प्रयोग करने से जाँची जा सकती हैं। समस्त रीति का सत्यापन उन जीवित लेखकों पर प्रयोग करने से भी हो सकता है जिनके मन को हम अपने अनुभव से भी जानते हैं और उनकी रचनाओं से भी जान सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी से पहले मनोवैज्ञानिक आलोचना बहुत कम मिलती है। बैन जॉनसन अपनी 'डिस्कबरीज़' में कहता है कि शेक्सपिअर एक ऐसा व्यक्ति था जो अपनी प्रतिभा का नियन्त्रण करने में असमर्थ था। इसकी पुष्टि वह 'जूलियस सीज़र' में प्रयुक्त एक व्यंग्यार्थ से करता है। इस दोष के लिये बाद के और भी बहुत से आलोचकों ने शेक्सपिअर को अपराधी ठहराया है—विशेषतया डॉक्टर जॉनसन ने अनुचित श्लेषप्रियता के लिये। ड्राइडन भी कवियों की व्याख्या के लिये कभी-कभी मनोविज्ञान तक चल जाता है। शेक्सपिअर कल्पनासृष्टि और पात्रनिरूपण में प्रवीण था, इसका कारण यही है कि उसकी प्रतिभा बड़ी विशाल और सर्वाङ्गी थी। बैन जॉनसन के नाटकों में काट-छाँट और परिवर्तन के लिये बहुत कम गुन्जाइश है। वे इतने तुरुस्त हैं; इसका कारण यही है कि वह अपने अन्तःकरण का स्वयं बड़ा योग्य परीक्षक था। वह अपने दृश्यों में प्रेम को बहुत कम स्थान देता है और आवेगों का बहुत कम प्रदर्शन करता है, क्योंकि उसकी प्रतिभा बड़ी रुष्ट और निरुल्लास थी। मिल्टन के विषय में एडीसन का मत है कि वह महत्त्वाकांक्षी पुरुष था, और इसी कारण वह अपने महाकाव्य में पाण्डित्य प्रदर्शन करता है, यहाँ वहाँ प्रारब्ध अथवा युक्त सङ्कल्प की समस्या पर अपने विचार प्रकट करने लगता है, इतिहास, ज्यौतिष और भूगोल विद्याओं के विषयों में उन्मार्गगमन कर जाता है, और पारिभाषिक शब्दों तथा शास्त्रीय उल्लेखों की भरमार कर देता है। डॉक्टर जॉनसन का काउली के बारे में कथन है कि वह बड़े सङ्कीर्ण चित्त का मनुष्य था और बजाय इसके कि अपने आनन्द के स्रोत अपनी आत्मा में देखे वह अचिरकालिक भावनाओं में अनुरक्त रहता था; इसी कारण उसकी कविता में वे सब दोष विद्यमान हैं जो कृत्रिम कल्पना की कविता मे पाये जाते हैं, जैसे, पाण्डित्य प्रदर्शन, असहज ओर निसर्गविरुद्ध रूपक, घृणास्पद अतिशयोक्तियाँ, अविश्वसनीय कथाएँ, कोरी नवीनता की खोज, और सामयिक अभद्रता। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में काण्ट के आलोचनात्क दर्शन के प्रभाव से यूरोप के साहित्य में व्याख्या के लिये मनोविज्ञान का प्रयोग बढ़ने लगा। आलोचना का स्थान संवेदनात्मकतावाद और प्रज्ञात्मकतावाद के मध्य में है। जबकि संवेदनात्मकतावाद यह दृढ़ करता है कि हमारे सब बोध (आईडिया) इन्द्रियजनित हैं और बुद्धि उन्हें केवल ग्रहण करती है परन्तु उन्हें उत्पन्न नहीं करती, और जबकि प्रज्ञात्मकतावाद यह दृढ़ करता है कि हमारे सब बोध बुद्धिजनित

हैं, आलोचना यह दृढ़ करती है कि हमारे बोधों की वस्तु संवेदनाजन्य है और उनका रूप बुद्धिजन्य है। इस प्रकार प्रत्येक बोध में एक वास्तविक तत्त्व होता है जिसे इन्द्रियाँ प्रदान करती हैं और एक रूपात्मक तत्त्व होता है जिसे बुद्धि प्रदान करती है। कोलरिज अपनी 'बाइग्रफ़िया लिट्रेरिया' में यह स्वीकार करता है कि कोनिङ्गसवर्ग के प्रख्यात ऋषि काण्ट की आलोचनात्मक व्यवस्था ने उसकी बुद्धि को वाञ्छनीय बल और अनुशासन दिया। इस स्वीकृति का यही अभिप्राय है कि कोलरिज पहले ही से दार्शनिक प्रवृत्ति का था। उसे अपने जीवन के आरम्भ काल में कविता पढ़ने का बड़ा शौक़ था और सब प्रकार की कविता पढ़ने के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि समस्त कविता में भाव की अन्तर्धारा विद्यमान् है, कि सच्ची कविता हृदय और मस्तिष्क में संख्यभाव पैदा करती है। इस निश्चय की पुष्टि वर्ड्सवर्थ की कविता ने बलपूर्वक की। एक समय जब वर्ड्सवर्थ ने अपनी एक कविता स्वयं पढ़कर कोलरिज को सुनाई तो वह इतना प्रभावित हुआ कि वह उच्च स्वर से बोला कि वर्ड्सवर्थ को कल्पना शक्ति अपने उच्चतम और गूढ़तम अर्थ में प्राप्त थी, उस अर्थ में प्राप्त थी जिसमें वह विरोधी गुणों का एकीकरण करती है, परिचय और अपरिचय, अन्तर्वेग और व्यवस्था, अवधारणा और भाव का सख्यकरण करती है। कविता के ऐसे निजी अनुभव ने कोलरिज को कल्पना का एक नया सिद्धान्त बनाने की क्षमता दी और इस सिद्धान्त का जर्मनों के आलोचनात्मक दर्शन ने समर्थन किया। कार्लायिल को गटे का मस्तिष्क यूरोप भर में श्रेष्ठ प्रतीत होता था क्योंकि उसने द्वन्द्व द्वारा शान्ति प्राप्त की थी और ऐसा ही मस्तिष्क उसके 'फ़ौस्ट' में प्रतिबिम्बित है। आर्नल्ड की कीट्स की कविता की परीक्षा मनोवैज्ञानिक आधार पर है। कविता, जीवन को व्याख्या दो रूप में करती है—या तो उसकी नैसर्गिकावस्था में या उसकी नैतिकावस्था में। आर्नल्ड का निर्णय है कि कीट्स अनुभव की न्यूनता के कारण जीवन की पहले रूप में ही व्याख्या करने की योग्यता रखता था दूसरे रूप में नहीं। पेटर ने कोलरिज के लेखों का सम्बन्ध उसके मन से स्थापित किया है। कोलरिज ने अपना सारा जीवन अपेक्षावाद के प्रतिरोध में व्यतीत किया, वह अपनी दृष्टि सदा निरपेक्ष की ओर लगाये रहता था; इसीसे जो वर्ड्सवर्थ को स्थायीभाव अथवा मूलप्रवृति मालूम होती थी, वही कोलरिज को दार्शनिक बोध मालूम होता था। कोलरिज की एसी मनोवृत्ति ही उसे इस विश्वास की ओर ले गई कि कविता का मुख्य उद्देश्य आन्तरिक जीवन की प्रत्येक अवस्था को उसका मूल्य और उसका उचित स्थान निश्चित करना है। परन्तु, क्योंकि मन अपनी समस्त अवस्थाओं से ऊपर है, मन की अगणित अवस्थाओं में से किसी एक का एकान्तीकरण कलात्मक अनुराग को अशान्त करना ही नहीं है प्रत्युत् उसका नाश करना है। कलाकार को अपने भाव और बोध अनेकान्तिक वृति से ग्रहण करने चाहिये। कोलरिज के दार्शनिक स्वभाव ने उसके अधिकांश गद्य और पद्य को उस वशीकरण से वञ्चित कर दिया है, जो उनमें होता यदि वह संसार की सञ्चित ज्ञानराशि को हास्यप्रिय दृष्टि से देखता। वर्तमान शताब्दी में साहित्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या अधिक सुव्यवस्थित होती जा रही है। फ्रैंक हैरिस का 'द मैन शेक्सपिअर' निश्चित

मति से मनोवैज्ञानिक है। वह शेक्सपिअर की कृतियों की पूर्ण परीक्षा के बाद उसे मन्द-वैषयिक कवि दार्शनिक कहता है। अपनी युवावस्था में वह अशिष्ट था और उसके मनोवेग उसके शासन में नहीं थे। वह अपने तुच्छ साथियों के बहकावे में आकर एक पार्क में घुस गया और वहाँ एक हिरन के मारने का अपराधी ठहराया गया। वह बन्धनमुक्त था और सब तरह की शरारतें करता था। उसने एन हैथेवे की प्रेमोपासना की और उसे वश में करने के पश्चात् उसे उमसे विवशतः शादी करनी पड़ी। एन हैंथेवे बड़ी ईर्ष्यालु और कर्कशा स्त्री थी। शेक्सपिअर उससे घृणा करता था। १५८५ ई० के बाद एन हैंथेवे से उसके कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई और लन्दन में अपना निवास-स्थान बनाने के बाद आठ-नौ वर्ष तक वह घर नहीं लौटा। यहाँ १५९७ ई० के लगभग वह एलीजैवेथ की सखी मैरी फिटन के चक्कर में पड़ गया। मैरी फिटन पर उसका प्रतिपालक लॉर्ड हर्वर्ट भी आसक्त था। यह घटना शेक्सपिअर के घोर मानसिक क्लेश का कारण बनी, परन्तु अन्त में उसके सहनशील स्वभाव ने अपने प्रतिद्वन्द्वी को क्षमा प्रदान की। शेक्सपिअर की कामातुरता इस घटना से और विवाह सम्बन्धी व्यभिचार से ही पुष्ट नहीं हो जाती, वरन् और भी दो घटनाएँ हैं, जो इसे पुष्ट करती हैं। उसका डेवनैण्ट की दूसरी स्त्री, जो बड़ी सुन्दर और रुचिर वृति की थी, अवैध प्रेम था और एक समय उसने अपने मित्र रिचर्ड बर्बेज को एक दुराचारिणी स्त्री के विषय में हास्यास्पद बनाया था। शेक्सपिअर की शरीर-रचना कोमल थी। वह उन्निद्र होने के कारण बेचैन रहता था, शराब पीने से दुर्बल हो जाता था और कामासक्ति के आधिक्य से डरता था। उसकी भोगासक्ति और उसके शारीरिक दौर्बल्य ने और शायद उसके व्यवसाय की लज्जा ने उसे स्नायुव्यतिक्रमग्रस्त बना दिया था। इसमें शक नहीं कि उसमें कलात्मक और स्नायुव्यतिक्रमग्रस्त स्वभाव के बहुत से गुण और दोष थे। यदि उस समय के लन्दन के अशिष्ट और जोखिमी जीवन में उसका भाग्य उसे नाट्य-व्यवसाय हेतु वहाँ न ले जाता और उसे वहिर्मुखी न बनाता तो वह बिल्कुल अन्तर्मुखी हो जाता और स्नायुव्यतिक्रम के कारण चूर्ण हो जाता। लन्दन के जीवन में उसका प्रवेश करना ही संसार को हितकारी साबित हुआ, क्योंकि उसकी उत्कृष्ट कृतियाँ उसके मानसिक प्रतिरोधों की शोध हैं। हमें शेक्सपिअर का प्रतिरूप कुछ-कुछ रोमियों जैक्वीज़, मैक्बैथ, विन्सैन्शियो और प्रास्पैरो में मिलता है परन्तु उसका निकटतम सादृश्य हैम्लैट में मिलता है। ब्रैडले और फ्रेंक-हैरिस दोनों हैम्लट के विषय में कहते हैं कि शेक्सपिअर के सब पात्रों में हैम्लैट ही उसके सब नाटकों को लिख सकता था। यदि हम किसी दूसरे पात्र में शेक्सपिअर के व्यक्तित्व की छाया पाते हैं तो हमें फ़ौरन हैम्लैट की याद आ जाती है। हैम्लैट में शेक्सपिअर की प्रकृति के सभी गुण उपस्थित हैं; उसका मननशील स्वभाव, उसकी ऐसे आदमियों की प्रशंसा जिनमें आवेग और विवेक का समुचित सम्मिश्रण होता है, आकाश और पृथ्वी के ऐश्वर्य तथा मनुष्य के विस्मयकारक गुणों का उसका काव्यात्मक प्रत्युत्तर, उसकी पदार्थनिष्ठता, निष्पक्षता, हास्यरसपूर्णता, उदासीनता, और रहस्यात्मकता—शेक्सपिअर के इन गुणों में से किसी का अभाव हैम्लैट में नहीं है। मनोवैज्ञानिक

आलोचना का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हर्बर्टरीड है। अपनी आलोचना में वह सर्वत्र कृतिकार के मन को निश्चित करके कृति में उसकी क्रियाशीलता के ढङ्ग की व्याख्या करता है। स्विफ़्ट के विषय में वह अंशतः एलिस रोबर्ट्स के इस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेता है कि लेखक में स्नायु-दौर्बल्य के सभी पक्के चिह्न थे, परन्तु उसका स्वतन्त्र विश्लेषण उसे इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि लेखक एक ऐसा बुद्धिमत् आदर्शवादी था जिसने संसार को धीरे-धीरे प्रयत्न और भ्रान्ति द्वारा समझा था और जिसकी यह निष्पन्न समझ यश की तृष्णा और आशाओं के निरन्तर भङ्ग होने से निष्फल हो गई थी। स्मौलैट तत्त्वतः एक बहिर्मुखी था। गूढ़ विचार उसके मन में घुसते ही नहीं थे और स्थूल से सूक्ष्म की ओर आना उसके स्वभाव के विरुद्ध था। उसका मन ऐसी घटनाओं की चेतना से भरा था जो उसने देखी थीं या जो उससे बीती थीं। इसी कारण उसकी अभिव्यञ्जना का विशेष गुण हास्यकत्व है, श्लेष और वक्रोक्ति नहीं। हौथौर्न यद्यपि स्वयं रहस्यवादी न था फिर भी वह रहस्य और रहस्यपूर्ण विषयों में तल्लीन रहता था। उसके मन पर सदा यह दृढ़ाग्रह रहता था कि मनुष्य की शक्ति सीमित है और परमसत्ता असीमित है। इस प्रकार का मन अभिव्यञ्जना के लिए किसी सुसङ्गठित और विश्वव्यापी धर्म का सहारा लेता है; परन्तु क्योंकि हौथौर्न को कोई ऐसा धर्म सुलभ नहीं, तो उसे, उसकी जगह लक्षण-पद्धति का सहारा लेना पड़ा। वर्ड्सवर्थ में जो १७६८ ई० से आगे दस वर्ष तक काव्योद्गार हुआ, उसे हर्बर्टरीड उस अन्तर्वेगीय सङ्कट की प्राज्ञ प्रतिक्रिया समझता है जिसका निवारण ऐनैट से वाक़ायदा पृथक् होने में हुआ। हर्बर्टरीड की अधिकतम विस्तृत मनोवैज्ञानिक आलोचना, शैली का परिपोषण है। आर्नल्ड, शैली के विषय में कहता है कि उसमें सारपूर्ण वस्तु की पूर्ण कमी है और टी० एस० इलियट का कथन है कि शैली के विचार युवकों के से हैं। दोनों उस पर दुराचार का दोषारोपण करते हैं। साथ ही साथ दोनों उसकी प्रतिभा के चमत्कार से आकृष्ट होते हैं। शैली के व्यक्तित्व का निकटतम अध्ययन करने के पश्चात् हर्बर्टरीड का यह निर्णय है कि ये दोनों आलोचक बड़े ग्रहिल हैं। कोई कवि हमें वह सन्तुष्टि नहीं दे सकता जिसका देना उसकी प्रकृति के बाहर है। शैली समलिङ्गरत अवस्था में स्थिर हो गया था। ऐसी स्थिरता के उसमें सब चिह्न मिलते हैं। उसके जीवन और लेखों के यह तीन मुख्य लक्षण हैं—पहला लक्षण यह है कि जब तब वह रोगात्मक मतिविभ्रम का प्रदर्शन करता है; दूसरा लक्षण यह है कि उसकी रचनाओं में प्रगम्यगमन का प्रयोग मिलता है, उदाहरणार्थ 'द रिवोल्ट ऑफ़ इस्लाम' की पहली प्रति, 'रौज़लिएड एण्ड हैलन', और 'द सेन्साई' में; और तीसरा लक्षण यह है कि उसके आत्माभिव्यञ्जना के साधारण ढङ्ग में वास्तविकता का अभाव है जिसकी सिद्धि इस प्रकार होती है कि उसमें न तो मूर्तिकला और न वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरणों के सौन्दर्य की प्रशंसा करने की क्षमता थी। इन सब लक्षणों का सम्बन्ध समलिङ्गरति से है। समलिङ्गरति का प्रादुर्भाव बच्चे की आत्मरति की अवस्था में होता है जब वह अपनी माँ को देखते-देखते अचेतन रूप से अपने शरीर से प्रेम करने लगता है। अपने शरीर से प्रेम करना अपने लिङ्ग वाले व्यक्तियों से प्रेम करना है।

यही मनोविज्ञान में समलिङ्गरति कहलाती है। अचेतन समलिङ्गरति जब किसी बच्चे की प्रधान वृति हो जाती है तो उसमें मानसिक व्यक्तिक्रम अथवा परिवर्द्धित आत्मिकता आ जाती है, और आगे चल कर यह उसके स्वभाव को भ्रमात्मक बना देती है। आत्मरति की अवस्था के पश्चात् वह अवस्था आती है जिसमें बच्चा अपने आस-पास के व्यक्तियों में अपनी कामवासना सम्बन्धी मुक्त कल्पनाओं की सिद्धि चाहता है। क्योंकि बच्चे की माँ और बहिनें ही सदा उसके समीप रहती हैं उसमें अगम्यगमन की भावना वर्द्धमान हो जाती है। परन्तु समाज इस भावना की सिद्धि का निषेध करता है और बच्चा बार-बार रोके जाने के कारण उसका दमन करने लगता है। इस दमन से बाद में या तो बच्चे के हृदय में अगम्यगमन के प्रति घृणा पैदा हो जाती है या वह अगम्यगमन की कल्पनाओं से अपने दिल को बहलाने लगता है, विशेषतया जब बच्चा समलिङ्गरत रहा आता है। ऐसा बच्चा जो समलिङ्गरति की अवस्था में स्थिर हो जाता है, अपनी सांसारिक उपयुक्तता में अवास्तविकता का प्रदर्शन भी करता है। यदि वह जीवन में कवि हो जाता है, तो उसकी अवास्तविकता उसकी प्रतिमाओं और उसके शब्दविन्यास में साफ़ दीख पड़ती है। समलिङ्गरत व्यक्ति दूसरे लिङ्ग के व्यक्ति के साथ समागम नहीं चाहता, उसकी कामना एक ऐसे साधारणीकृत ऐक्य की होती है जिसमें व्यक्ति अपने को विस्तृत जगत् से पृथक् नहीं समझता। इससे शैली की परहितनिष्ठा भी स्पष्ट हो जाती है, जैसे इससे ऊपर के विवेचन से उसकी और तीनों विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। इस विवेचन में शैली को समलिङ्गरत कहा गया है। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि वह जीवन भर दूसरे लिङ्ग के ऐसे व्यक्तियों की खोज में रहा जो उसे पूरी तुष्टि दें। परन्तु उसके इन कई प्रेमव्यापारों को हम अनात्मिकता की अवस्थाएँ नहीं मान सकते, क्योंकि उसकी अभिलाषा प्रत्येक स्त्री में अपनी आदर्श आत्मा का प्रतिरूप देखने की रहती थी। और यह प्रतिरूप उतना ही दूर चला जाता था जितना निकट वह अपनी प्रिया के पास आता था। प्लैटो ठीक था जब उसने पार्थिव प्रेम को अपार्थिव प्रेम की प्राप्ति का साधन माना था। शैली मूर्ख था जब उसने अपनी आदर्श आत्मा की प्रतिमा 'स्त्री के शरीर और स्वभाव में देखने की कोशिश की और उसकी यही मूर्खता उम्रभर उसकी विपत्तियों का कारण बनी।

पं० रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि संस्कृत और हिन्दी में किसी कवि या पुस्तक के गुण-दोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिये एक दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल पहले थी ही नहीं। फिर उसकी मनोवैज्ञानिक परीक्षा में विस्तृत लेख लिखने की तो बात ही क्या। परन्तु ऐसी परीक्षा के लिये संस्कृत और हिन्दी में बड़ा क्षेत्र है क्योंकि इन भाषाओं के कवि बहुधा दार्शनिक अथवा साम्प्रदायिक मतों से सहानुभूति रखा करते थे। 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' की विचारधारा में गहन प्रवेश कर अश्वघोष के मस्तिष्क का पुनर्निर्माण करना और फिर उसे उनकी इन्हीं और दूसरी कविताओं में घटाना कितने आलोचनात्मक अनुराग का विषय होगा। कालिदास की सांख्य धार्मिक मनोवृत्ति और जीवन के प्रति उसकी शास्त्रसम्मत दृष्टि और शृङ्गार रस का सञ्चार करने

वाली उसकी अद्भुत प्रतिभा उसके 'रघुवंश,' 'कुमारसंभव' और 'शकुन्तला' में भली भाँति मिल सकती है जैसे भारवि की पौराणिक वीरोपासना उसके 'किरातार्जुनीय' में। सूरदास की सख्यभावपूर्ण कृष्णोपासना की मनोवृत्ति जैसे वह वल्लभाचार्य से प्रभावित हुई थी, उनके गीतकाव्य में देखी जा सकती है, जैसे तुलसीदास की रचनाओं में राम के प्रति उनकी दास्य-भावपूर्ण भक्ति प्रदर्शित है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में बहुत से लेखकों के मन को निश्चित करके उनकी कृतियों को उससे सम्बन्धित किया है। कबीर के मन का विकास कई तत्त्वों के संश्लेषण से हुआ था। साधारणतः कबीर को निर्गुण ब्रह्म का उपासक कहा जाता है, परन्तु उनके अन्तःकरण पर भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद, और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद इन सब का प्रभाव था। मलिक मुहम्मद जायसी के मन को शुक्ल जी ने बड़ा कोमल और प्रेम की पीर से भरा हुआ कहा है और इन्हीं विशेषताओं के कारण उन्हें उस हृदयसाम्य की प्राप्ति हुई जिसे कबीर पूरी तरह न पा सके। यदि कबीर को परोक्षसत्ता की एकता का आभास हुआ तो मलिक मुहम्मद जायसी को प्रत्यक्ष जीवन की एकता का आभास हुआ। इसी से हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का जो सफल भाव जायसी की रचनाओं के पढ़ने से उत्पन्न होता है, वह कबीर की रचनाओं से नहीं।

रचना-शक्ति और काव्य-सिद्धान्तों के प्रतिपादन में तो मनोवैज्ञानिक रीति का प्रयोग काफी रहा है। प० गंगानाथ झा अपने 'कवि-रहस्य' में प्राचीन मतों के आधार पर लिखते हैं कि "कवि की श्रेष्ठता उसकी प्रतिभा पर निर्भर है। प्रतिभा तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या, और औपदेशिक। सहजा प्रतिभा पूर्वजन्म के संस्कारों से उत्पन्न होती है और अपना चमत्कार सहज ही में दिखाती है, उद्भूत होने के लिये अधिक परिश्रम नहीं चाहती। आहार्या प्रतिभा इस जन्म के संस्कारों से प्राप्त होती है और उद्भूत होने के लिये अधिक परिश्रम चाहती है। औपदेशिक प्रतिभा मन्त्रों और शास्त्रज्ञान द्वारा प्राप्त होती है और बड़े परिश्रम से मामूली चमत्कार दिखाती है। इन तीन प्रतिभाओं के अनुसार तीन तरह के कवि होते हैं—सारस्वत, आभ्यासिक, और औपदेशिक। "जन्मान्तरीय संस्कार से जिसकी सरस्वती प्रवृत्त हुई है, वह बुद्धिमान् सारस्वत कवि है। इसी जन्म के अभ्यास से जिसकी सरस्वती उद्भासित हुई है, वह आहार्यबुद्धि आभ्यासिक कवि है। जिसकी वाक्य-रचना केवल उपदेश के सहारे होती है वह दुर्बुद्धि औपदेशिक कवि है।" स्पष्ट है कि इन तीनों प्रकार के कवियों में पहला दूसरे से और दूसरा तीसरे से अधिक प्रसिद्ध होता है। प्रतिभा के साथ-साथ यदि कवि में व्युत्पत्ति अथवा उचित अनुचित का विवेक कराने वाली शक्ति भी रहे तो वह अधिक उत्कृष्ट होता है।

हम पीछे रचनात्मक प्रक्रिया के प्रसङ्ग में इस सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक विवरण दे चुके हैं। यहाँ हम प० रामदहिन मिश्र के 'काव्य-दर्पण' से रस और मनोविज्ञान का यह सम्बन्ध उद्धृत करते हैं—"मानसशास्त्र की दृष्टि से एक काव्यपाठक के मानस-व्यापार का विचार किया जाय तो तीन मुख्य बातें हमारे सामने आती हैं। एक तो है उत्तेजक वस्तु

(स्टिमुलस)। यह है काव्य अर्थात् काव्य के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि। दूसरी है उस उत्तेजक वस्तु के सम्बन्ध में प्रत्युत्तरात्मक क्रिया का करने वाला सचेतन प्राणी। यह है सहृदय पाठक। और तीसरी उस प्रत्युत्तरात्मक क्रिया (रैस्पौन्स) का स्वरूप है उसकी सुखात्मक मनोऽवस्था। यह सुखात्मक मनोऽवस्था रसिकगत रस है जो पाठक के कम्प, नेत्रनिमीलन, आनन्दाश्रु से प्रकट होता है।" मिश्र जी का रस का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अच्छा है परन्तु जैसे वे कहते हैं रसिकगत ही है। हम उपर्युक्त प्रसङ्ग में रस का रचयितागत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दे चुके हैं।

५

वैज्ञानिक शब्द का प्रयोग आलोचना की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में हम पहले कर चुके हैं। इस शब्द का प्रयोग पद्धति के सम्बन्ध में भी हो सकता है। विज्ञान, व्यवस्थित ज्ञान है और ज्ञान को व्यवस्था देने के लिये आगमन अधिक से अधिक फलदायक रीति है। जब साहित्य के अध्ययन में आगमनात्क पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो फल होता है आगमनात्मक आलोचना अथवा व्याख्या।

आगमनात्मक पद्धति क्या है? आगमनात्मक पद्धति में पहला क्रिया प्रदत्त का एकत्रीकरण है। इसके लिये अवलोकन की आवश्यकता है जो सही और न्यायसङ्गत हो। एकत्रित तथ्य वे हों जो प्रकृति में मिलें न कि वे जो निरीक्षक को उपयुक्त लगें। नियतत्व (प्रीसीशन) पर जितना जोर दिया जाय उतना ही थोड़ा है। विज्ञान का प्रत्येक पण्डित जानता है कि किस प्रकार नियतत्व पर आग्रह करने से एक नई गैस आर्गन की खोज हुई। दूसरी क्रिया प्रदत्त का क्रमबद्ध करना है जो विश्लेषण और संश्लेषण द्वारा होता है और जिसका उद्देश्य अन्योन्यान्वय और अनुक्रम की एकरूपताओं का ज्ञान है। तीसरी क्रिया कल्पना की सृष्टि है। प्रयोग और परीक्षा के पश्चात् कल्पना सिद्धान्त के पद पर पहुँचती है। सिद्धान्त तभी पक्का माना जाता है जब वह तथ्यो का पूरी तरह वर्णन करता है, जब उसके व्योरे प्रयोग द्वारा स्पष्ट हो जाते हैं, और जब वह साक्ष्य पर ही आधारित होता है।

मोल्टन का मत है कि साहित्यालोचन का आगमनात्क विज्ञान सम्भव है। प्रत्येक विज्ञान तीन अवस्थाओं से निकलने पर अस्तित्व में आता है; विषय-वस्तु का अवलोकन, विश्लेषण और वर्गीकरण, और व्यस्थापन। ज्योतिष बहुत काल तक नभश्चरों और तारागणों के अवलोकन में व्यस्त रही। वह दूसरी अवस्था को तब प्राप्त हुई जब उसने सौर, चान्द्र, ग्रहविषय, और धूम्रकेतु विषयक वस्तुओं का अलग-अलग अध्ययन किया। वह नियमित विज्ञान तब बना जब उसने गति और केन्द्राकर्षण के नियमों द्वारा अपना ज्ञान व्यवस्थित किया। इसी प्रकार भाषाविज्ञान तब तक पहली अवस्था में रहा जब तक वह शास्त्रीय भाषाओं का ज्ञान सञ्चित करता रहा। ग्रिम के व्यञ्जन-परिवर्तन सिद्धान्त ने सञ्चित ज्ञान को क्रमबद्ध करके उसे दूसरी अवस्था तक पहुँचाया। वह अपनी अन्तिम अवस्था को स्वरशास्त्रविषयक विलोपन के सिद्धान्त (प्रिन्सीप्ल ऑफ़ फ़ौनैटिक डिके)

की सहायता से पहुँचा। साहित्यालोचन का विज्ञान अब भी अपने सञ्चित ज्ञान को क्रमबद्ध कर रहा है और अभी दूसरी अवस्था से आगे नहीं बढ़ा। वह अपनी तीसरी अवस्था को तभी प्राप्त होगा जब वह उन नियमों का अन्वेषण कर लेगा जो इस बात को स्पष्ट करेंगे कि तरह-तरह की साहित्यिक कृतियाँ किस प्रकार अपने प्रभावों को पैदा करती हैं। इस बीच में साहित्यालोचन को वैज्ञानिक कठोरता से अन्वेषण और वर्गीकरण के काम को अग्रसर करना चाहिए।

आलोचक को साहित्य का निरीक्षण वैज्ञानिक वृत्ति से करना चाहिये। वह अपने तथ्य कृति के ब्यौरों में ढूंढ़े। परन्तु कुछ शास्त्रज्ञों का कहना है कि साहित्य की विषय-वस्तु में कोई निश्चितता नहीं है। साहित्य का एक तथ्य उतने तथ्य हो जाते हैं जितने पाठक होते हैं। इसके उत्तर में मोल्टन की दलील है कि यह कठिनाई और विज्ञानों में भी मिलती है। भय की एक वस्तु दर्शकों को तरह-तरह से प्रभावित करती है, कोई आत्मसंयम दिखाता है तो कोई मूर्छा से विवश हो जाता है। फिर भी मनोविज्ञान सम्भव हुआ है। प्रश्न केवल यह उठता है कि तथ्य से प्रभावित होने की विभिन्नता कैसे दूर की जाय। साहित्य में यह विभिन्नता किताब की ओर बार-बार ध्यान देने से निकाली जा सकती है क्योंकि तथ्य उसी में निश्चित है। जब तथ्य ऐसे शुद्ध रूप में एकत्रित किये जाते हैं तो उनके आधार पर साधारणीकरण सम्भव हो सकता है। मान लो, हमें मैक्बैथ के चरित्र की व्याख्या करनी है। हम नाटक को अनात्मिकता से पढ़े; उसमें मैक्बैथ जो कुछ कहता है या करता है और उसके विषय में जो कुछ दूसरे कहते या महसूस करते हैं, इन बातों पर और दूसरी ऐसी बातों पर ध्यान देकर मैक्बैथ के विषय में हम अपनी मति निर्धारित करें। बस, यही मैक्बैथ के चरित्र की आगमनात्मक व्याख्या होगी। इस व्याख्या की सत्यता से हम तभी प्रभावित होंगे जब वह उन सब ब्यौरों को स्पष्ट कर देगी जो मैक्बैथ के चरित्र के सम्बन्ध में नाटक में मिलते हैं। यह व्याख्या चरित्र के निहित उद्देश्य को विदित करेगी, चरित्र के शरीर अथवा अन्तर्जात उद्देश्य को, ऐसे किसी उद्देश्य को नहीं जो स्वयं नाटककार का अभिप्रेत हो। वैज्ञानिक आलोचक इस बात को मानता है कि कला प्रकृति का अंश है। जैसे प्रकृति के नियम प्रकृति ही देती है, उनका आरोप बाहर से किसी शक्ति द्वारा प्रकृति पर नहीं होता, वैसे ही साहित्य के नियम साहित्य देता है, बाहर से कोई व्यक्ति उन्हें निश्चित नहीं करता। यह नियम धार्मिक अथवा राजनीतिक नियमों से भिन्न होते हैं। केंचुए का उद्देश्य धरती फाड़कर उसे उपजाऊ बनाना है। क्या कोई बाहर से केंचुए को इस उद्देश्य की पूर्ति की शिक्षा देता है? इसी तरह फूलों के रङ्ग-बिरङ्गे होने का उद्देश्य कीड़ों को आकृष्ट करना है। कौन फूलों की पूर्वप्रबोध के लिये प्रशंसा करता है? ऐसे ही उद्देश्य साहित्य के होते हैं और ऐसे ही उद्देश्यों और नियमों की खोज वैज्ञानिक आलोचक साहित्य में करता है। जिस नियम की उसे उपलब्धि होती है वह रचना-विस्तार विषयक व्यापार का वर्णन होता है। यदि वैज्ञानिक आलोचक को निश्चित नियम से हटा हुआ कोई दृष्टान्त मिलता है तो वह उसे किसी नये वंश का सूचक मानता है। साहित्यिक वंशों का अन्तर निरूपण ही मोल्टन के

मतानुसार वैज्ञानिक आलोचना का मुख्य कर्त्तव्य है। वह इस बात को मानती है कि साहित्य में असीम परिवर्तन और नानाविधित्व की पूरी क्षमता है और इसी क्षमता के फल-स्वरूप उसकी वृद्धि होती है। और क्योंकि साहित्योत्पादन आलोचना के आगे आगे चलता है, आलोचना का फर्ज़ यही है कि वह उसके पीछे-पीछे चले और उसकी उत्पादित नई वस्तुओं की व्यवस्था करे।

आगमनात्मक आलोचना पुराने समय से चली आ रही है। अरिस्टॉटल आगमनात्मक आलोचक था। उसने उस यूनानी साहित्य का जो उसके समय से पहले लिखा जा चुका था, पूरा अध्ययन किया था। कविता, करुण, और महाकाव्य के सम्बन्ध में उसके साधारणीकरण हमें उसकी 'पोइटिक्स' में मिलते हैं; और गद्य और सुभाषणकला के सम्बन्ध में उसके साधारणीकरण हमें उसकी 'रैटॉरिक' में मिलते हैं। उसके प्रदत्त में आख्यायिकों की कमी थी। इसी से उसने कविता को आत्मिक रूप की जगह अनुकरणात्मक तत्त्व कहा। फिर भी करुण और महाकाव्य के क्षेत्रों में उसके साधारणीकरण अब तक बड़े उपयोगी साबित हुए हैं। करुण की कई बातों पर तो उसका कथन अन्तिम है। बेकन ने कविता के रूपों की परीक्षा करके उनको तीन वर्गों में विभक्त किया---कथात्मक, प्रतिनिध्यात्मक, और लाक्षणिक। अठारहवीं शताब्दी के अँग्रेजी-साहित्य की विवेचना में पैरी का यह दृढ़ विश्वास है कि साहित्य का विकास उतना ही नियमबद्ध है जितना कि समाज का विकास। पोसनैट ने साहित्य की प्रगति चिह्नित करने के लिये स्पैंसर के वैज्ञानिक अनुसन्धानों की सहायता ली है। उसका यह निष्कर्ष है कि साहित्य पहले कुल सम्बन्धी था, फिर नगर प्रजातन्त्र सम्बन्धी हुआ, फिर संसार सम्बन्धी हुआ, और अन्त में राष्ट्रीय हुआ। ब्रूनैटियर ने साहित्यिक प्रकारों के विविधत्व की परीक्षा स्पैन्सर के विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार की है; उनके रूपान्तर की परीक्षा टेन के ऐतिहासिक सिद्धान्त के अनुसार की है, और उनके परिवर्तन की परीक्षा डार्विन के जीवनहेतु संघर्ष और प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्तों के अनुसार की है। मोल्टन को आगमनात्मक आलोचना में पथप्रदर्शक नहीं कह सकते। अपनी 'शेक्सपिअर एज़ ए ड्रैमैटिक आर्टिस्ट' नाम की पुस्तक में जिसमें उसने शेक्सपिअर के नौ नाटकों के आधार पर उसकी आगमनात्मक व्याख्या की है, वह साफ़ कहता है कि साहित्यिक आलोचना में आगमनात्मक काम काफी हुआ है; खेद इसी बात का रहा है कि आलोचकों ने अपने काम को आगमनात्मक कह कर घोषित नहीं किया है।

आगमनात्मक आलोचना में मनोवृत्ति पूर्ण सहानुभूति की रहती है। और सहानुभूति ही वास्तविक व्याख्याता है। निर्णयात्मक क्रिया में सहानुभूति सीमित हो जाती है। निर्णय की भावना ही चाहे जितनी ग्रहणशील क्यों न हो, पक्षपातपूर्ण होती है। इसीसे मोल्टन आगमनात्मक आलोचना को निर्णयात्मक आलोचना से उच्चतर कहता है। परन्तु साहित्यिक अध्ययन की आगमनात्मक पद्धति के आवेश में आकर वह अपने सिद्धान्त की उपेक्षा करता है। आलोचना उसी साहित्य का एक अंश है जो सदा वृद्धि की ओर अग्रसर होता है। निर्णयात्मक आलोचना साहित्य में अपना अस्तित्व रखती है और वैज्ञानिक

गवेषणा का विषय उसी तरह बन सकती है जिस तरह शेक्सपिअर का नाटक मोल्टन बड़ी दृढ़ता से इस बात की पुष्टि करता है कि साहित्यिक व्यापारों का विज्ञान उतना ही न्याय्य है जितना कि बनस्पति व्यापारों का अथवा बाणिज्य व्यापारों का। यदि बनस्पतिशास्त्र और अर्थशास्त्र सम्भव है तो आलोचना-शास्त्र भी सम्भव है। गुण और दोष के सवाल आलोचना के बाहर हैं। कोई भूगर्भविज्ञानवेत्ता इस चट्टान को बुरा और उस चट्टान को भला कहते हुए नहीं सुना गया। उसे सब चट्टानें एक समान ग्रहणीय हैं और सब का वह आगमनात्मक रीति से अध्ययन करता है। उसी वृति से आलोचना साहित्यिक तथ्यों का अध्ययन करती है। परन्तु भूगर्भविज्ञान अथवा बनस्पति विज्ञान में वैयक्तिक तत्त्व का लोप हो जाता है। साहित्य में व्यक्तित्व प्रधान होता है। दूसरी बात यह है कि साहित्य कला की हैसियत से जीवन का चित्रण करता है। जब तक साहित्यिक तथ्यों की मानुषिक और रचनाप्रक्रिया-विषयक सङ्गतता का मूल्य न निर्धारित किया जाय तब तक ठीक आलोचना सम्भव नहीं और ऐसी सङ्गतता के मूल्य-निर्धारण से आगमनात्मक आलोचक विमुख रहता है। फिर भी आगमनात्मक आलोचना की उपयोगिता है। किसी कृति अथवा कृतिकार को आलोचना उसके सम्यक् बोध के बाद ही आ सकती है। आगमनात्मक आलोचना हमारा ध्यान उन सिद्धान्तों पर एकाग्र करती है जो साहित्यिक कृतियों के ब्योरों को सम्बद्ध करते और उनका एकीकरण करते हैं। ऐसे सिद्धान्तों की पकड़ के अतिरिक्त क्या कोई और तरीक़ा ऐसा है जिससे कृति का ज्ञान अधिक पूर्णता से हो जाय ?

चौथा प्रकरण

निर्णयात्मक आलोचना (जुडीशल क्रिटीसिज़्म)

आलोचना के लिये अंग्रेजी का शब्द क्रिटीसिज्म है। यह शब्द जिस ग्रीक धातु से आया है उसका अर्थ निर्णय करना है। पश्चिम में आलोचना की आरम्भिक रीति निर्णयात्मक ही थी, और निर्णय करने के मानदण्ड नैतिक होते थे। धीरे-धीरे आलोचना ने प्रेक्षावत् विश्लेषण द्वारा साहित्याध्ययन की प्रक्रिया का निष्पादन किया। आलोचना की आधुनिक चाल साहित्यिक कृतियों से प्राप्त मनाङ्कों को लिख डाल कर सन्तुष्ट होने की है। इस क्रम से आलोचना का विकास समय में हुआ। आदर्श रूप में यह क्रम उलट जाना चाहिये। पहली अवस्था में आलोचक पूर्ण ग्रहणशीलता से कृति को पढ़े और उसके सम्पर्क में अपनी स्वतन्त्र प्रतिक्रिया का अनुभव करे। दूसरी अवस्था में कृति का सम्पर्क ज्ञान प्राप्त करे, जो तभी सम्भव हो सकता है जब आलोचक उत्तरप्रद और उत्तरदायी दोनों हो। और अन्त में कृति के मूल के विषय में अपना निर्णय निश्चय करे। जो कि रचनात्मक और व्याख्यात्मक आलोचक इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं हैं, फिर भी यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि आलोचना का मुख्य कार्य निर्णय रहा है और रहेगा।

कृति का मूल्य उसी में पहले से ही निहित है अभिव्यक्त अनुभव में ही नहीं, वरन् अनुभव की अभिव्यञ्जना में भी। यदि कलाकार का अनुभव उसके लिये मूल्यवान् नहीं है और अनुभव की अभिव्यञ्जना उसे सन्तुष्ट नहीं करती, तो वह कलाकृति की रचना में असफल रहेगा, आलोचक का यही कर्त्तव्य है कि वह उन मूल्यों की खोज करे जिनके प्रभाव से कलाकार की रचनात्मक क्रियाशीलता सञ्चालित हुई थी और उन मूल्यों के जीवन और कलासम्बन्धी औचित्य की परीक्षा करे। इस प्रकार आलोचक मूल्यों का निर्णायक है। कलाकार जीवन के जङ्गल और अभिव्यञ्जना की परिक्रिया के परिष्कारकों का साहसी नेता है। आलोचक देखता है कि भटकी हुई मानवजाति के लिये उसने रास्ता साफ़ किया है या नहीं। और जिसे मानव जाति सत्य समझती थी, उसे उसने व्यक्त किया है या नहीं। आदर्श आलोचक तो असम्भव सी चीज़ है। वह सर्वज्ञ हो तथा जीवन और अस्तित्व की योजना में प्रत्येक वस्तु का आवश्यक स्थान समझता हो। उसकी बुद्धि दैविक होनी चाहिये। जिस आलोचक को हम आदर से सुन सकते हैं, वह मानव जाति की सञ्चित ज्ञानराशि को पूर्णतया जानता हो और उसमें यह निर्णय करने का सामर्थ्य हो कि कहाँ

मनुष्य जाति सत्य के मार्ग पर थी और कहाँ वह भ्रान्तिमय भटकती थी। आलोचक कलाकार से उसके स्थल पर ही भेंट नहीं करता वरन् उससे आगे जाता है। उसकी यह क्षमता जीवन व्याख्या तक ही सीमित नहीं है। उसे रूप के मूल्याङ्कन और शब्दों की व्यञ्जना-शक्ति की परीक्षा में प्रवीण होना चाहिये, क्योंकि कलाकार अपने जीवनदर्शन को क्रमिक प्रतिमाओं और प्रत्ययों द्वारा रूप देता है। जिस प्रकार आलोचक जीवन के मूल्याङ्कन में कलाकार से आगे होता है उसी प्रकार वह उससे रूप और रचनाप्रक्रिया के मूल्याङ्कन में आगे होता है। उसमें यह देखने की योग्यता होती है कि धारणा और अभिव्यञ्जना दोनों में रूप प्राप्त करने के लिये कलाकार ने जीवनवस्तु का निष्कपटता से प्रयोग किया है और उपकरण रूप के पूर्णतया उपयुक्त है। ऐसे आलोचक को सांस्कृतिक अनुशासन अविरत और सोत्साह स्वीकार करना चाहिये। ग्रीस के एक प्राचीन आलोचक लॉन्जायनस का कहना है कि साहित्य की योग्यता पर निर्णय देना अतिशय प्रयास का मिष्ठ फल है। आलोचक को कला का विस्तृत अनुभव और दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र तथा आलोचना का सर्वाङ्ग अध्ययन होना चाहिये। ऐसे अनुभव और अध्ययन से उसे मूल्याङ्कन के उन मान-दण्डों की सूझ होगी जिन्हें वह साहित्य की परीक्षा में सविश्वास इस्तेमाल कर सकता है।

साहित्य और कला के मूल्याङ्कन की समस्या को भलीभाँति समझने के पहले यह जानना लाभदायक होगा कि भिन्न-भिन्न काल के कवियों, दार्शनिकों और आलोचकों ने हमारे पथप्रदर्शन के लिए कौन-कौन सङ्केत, सिद्धान्त, और विशदीकरण दिये हैं।

१

यूनानियों में आलोचनात्मक शक्ति होमर से ही क्रियाशील हो जाती है। उसकी 'इलियड' के अठारहवें सर्ग में कलात्मक रचना के विषय में एक प्रसिद्ध स्थल है। हिफ़ैस्टस ने एकीलीज़ की माँ थैटिस की प्रार्थना पर उसके लिए एक ढाल बनायी थी। वह युद्ध और शान्ति के दृश्यों से आभूषित थी। इनमें से एक दृश्य बसन्त ऋतु में किसी कृषक को खेत में हल चलाता हुआ उपस्थित करता है। खेत की कन्दाकारी का वर्णन करते हुए होमर, हिफ़ैस्टस की प्रशंसा में लिखता है, "और हल के पीछे धरती काली पड़ गई और जुती हुई धरती की तरह दिखाई पड़ने लगी, यद्यपि वह सोने की बनी हुई थी; और यही उसकी कला का अद्भुत चमत्कार था।" कवि का कहना है कि यद्यपि कलाकार सोने पर काम कर रहा था फिर भी वह सोने के पीलेपन को काला कर दिखाने में सफल हुआ। स्पष्ट है कि कलाकार माध्यम को अपनी इच्छानुसार परिवर्तित कर उसके द्वारा अपने विचार प्रकट कर सकता है। यहाँ हिफ़ैस्टस ने सोने में वह बात पैदा कर दी जो सोने का गुण नहीं था। गोकि होमर साफ़-साफ़ नहीं कहता, इस स्थल का आलोचनात्मक महत्त्व कलाकार की सफलता का मानदण्ड निर्दिष्ट करना है। जहाँ तक कलाकार अपने माध्यम के अन्तर पर विजय प्राप्त करता है, वहाँ तक ही उसे सफल कहा जा सकता है। होमर के बाद यूनानी आलोचना में कूटतार्किकों (सोफ़िस्ट्स) का स्थान है। वे व्याकरण

और वाग्मिता में निपुण होते थे। इसी से उन पर यह आक्रमण होता था कि वे नवयुवकों को वाक्चपल बनाकर उन्हें भ्रष्ट करते थे। परन्तु उनके छोटे नगरराज्य में जनसत्तावादी वक्ता की आवाज़ कान में गूँजती थी और सुभाषणकला में चातुर्य्य दिखाने की प्रवृत्ति प्रत्येक नागरिक में देखी जाती थी। इस कारण से आलोचना का एक ओर तो सुभाषण-कलाकौशल में अनुराग बढ़ा और दूसरी ओर उसी कला की विषय-वस्तुओं में। बस, आलोचनात्मक मूल्याङ्कन के दो मानदण्ड भली-भाँति परिभाषित हो गये। जो लेख अथवा वक्तव्य जितना अलङ्कारयुक्त, व्यंग्यार्थपूर्ण, प्रभावशाली हो वह उतना ही सुन्दर है और उसकी विषयवस्तु जितनी शिक्षाप्रद हो वह उतना ही महान्। यूनानी मस्तिष्क पर धर्म और जनतन्त्रीय राजनीति का दृढ़ाग्रह था और इन्हीं दोनों गुणकों ने यूनान के साहित्य का विकास निश्चित किया। यूनानी मत के अनुसार साहित्य का उद्देश्य मनुष्यों को सत्य, धर्म्यता, और नागरिकता का उपदेश देना है। सभी यूनानी आलोचक इस बात पर सहमत हैं कि साहित्य का कर्तव्य पढ़ाना है, परन्तु क्या पढ़ाया जाय और कैसे पढ़ाया जाय, इन बातों पर मतभेद है। साहित्य उपदेशात्मक हो, इस मत का सबसे बली प्रकाशक प्लैटो था। प्लैटो आदर्शवादी सुधारक था और वह प्रत्येक एथैन्स निवासी को आदर्श नागरिक बनाना चाहता था। मनुष्य के दो धर्म हैं। बतौर विशिष्ट व्यक्ति के उसे सत्य की प्राप्ति में संलग्न रहना चाहिये और बतौर समाज के सदस्य के उसे सदाचारी होना चाहिये। सत्य और सदाचार की प्राप्ति ज्ञान द्वारा सम्भव है, ज्ञान जीवन के अनुभव के अतिरिक्त साहित्य द्वारा भी आता है। यह जानने के लिए कि साहित्य द्वारा प्राप्त ज्ञान एथैन्स के नवयुवक को लाभदायक था अथवा हानिकारक, उसने यूनानी साहित्य की कड़ी परीक्षा की। उसने होमर के महाकाव्य के बहुत से अंशों को पावित्र्यदूषक और झूठा साबित किया। पावित्र्यदूषकता का तो साहित्य में व्यापक दोष है। इसका कारण यह है कि साहित्यकार अपने काव्यों में भले आदमियों को दुःखी और बुरे आदमियों को सुखी करके चित्रित करता है। नाटक में तो बहुधा यही मिलता है। कविता भी मनोवेगों को दबाने के बजाय उन्हें उत्तेजित करती है और पाठक की बुद्धि पर अन्धकार का आवरण आच्छादित करती है। झूठेपन का दोष भी साहित्य में व्यापक है। प्लैटो का विश्वास था कि लौकिक सत्य अलौकिक सत्य की छाया है। कलाकार लौकिक सत्य का अनुकरण करता है और जिस सत्य को वह अपनी कला में चित्रित करता है वह लौकिक सत्य की छाया है। इस प्रकार कला का सत्य दैविक अथवा सारभूत अथवा शुद्ध सत्य की छाया है। बस, यह बात सिद्ध हो जाती है कि साहित्य, नागरिक को न तो सत्य की शिक्षा देता है और न नीति की। इसी विचार से प्लैटो ने अपने जनसत्तात्मक राज्य में कवि को कोई स्थान नहीं दिया। परन्तु इस विचार को प्लैटो का अन्तिम विचार नहीं समझना चाहिये। यदि कोई कवि दार्शनिक मनन में व्यस्त रहता हुआ आध्यात्मिक अनुशासन का जीवन व्यतीत करे और ब्रह्मनिष्ठ गति को प्राप्त करके दैविक सत्य का अनुभव करने में समर्थ हो और ऐसे अनुभवों को अपनी कविता में चित्रित करे, तो ऐसा कवि मानव जाति का सच्चा पथप्रदर्शक होगा

और उसकी कविता मानव जाति की वाञ्छित विपुल धनराशि होगी। दोनों पक्षों में जब वह कवि का बहिष्कार करता है और जब कवि को सच्चा पथप्रदर्शक कहता है, प्लैटो का निष्कर्ष यही है कि कविता अथवा कला वही उत्कृष्ट मानी जायगी जो नैतिक और दार्शनिक सत्य पर आधारित होगी। प्लैटो की कलात्मक उत्कृष्टता के मूल्याङ्कन का मानदण्ड सत्य की अनुकूलता है। प्लैटो कला को उपदेश के अधीनस्थ करके उसकी उपेक्षा करता है। अरिस्टॉटल उसे कल्पनात्मक आदर्शीकरण से सम्बन्धित करके उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करता है। प्लैटो ने सुन्दर और शिव का समीकरण किया। अरिस्टॉटल ने सुन्दर को शिव से अधिक विस्तृत माना। उसने कहा कि कल्पनात्मक अनुकरण तो चाहे बुराई का हो चाहे कुरूपता का सदा सुखदायक होता है और उपलब्ध सुख सदा मानसिक शोध का होता है। इस बात को उसने करुण की परिभाषा के अन्तिम भागों में स्पष्ट किया है कि वह करुणा, दया और भय के भावों को उत्तेजित करके उनका शोध करता है। इस विचार से कला पर पावित्र्यदूषकता का दोषारोपण करना वृथा है। झूठेपन का दोषारोपण भी सर्वथा निरर्थक है। कला का सत्य, भाव का सत्य होता है, तथ्य अथवा इतिहास का सत्य नहीं। अमुक पुरुष अमुक परिस्थिति में अमुक चारित्रिक विशेषताओं के कारण ऐसा करेगा, यह कलात्मक सत्य है। एलकीवियेडीज़ ने यह किया, यह ऐतिहासिक सत्य है। इस विचार से यह निश्चित हुआ कि अरिस्टॉटल का कला के मूल्याङ्कन का पहला मानदण्ड कलात्मक आदर्शीकरण है। कला के मूल्याङ्कन का अरिस्टॉटल का दूसरा मानदण्ड रूपसौष्ठव है। इसका स्पष्टीकरण उसने करुण के विवेचन में किया है। करुण के छः घटकावयव होते हैं—वस्तु अथवा घटनाओं का विन्यास; चरित्र अथवा संकल्पात्मक वृत्ति का वाह्य प्रदर्शन; वाक्सरणि जिसके द्वारा पात्रों के विचार व्यक्त होते हैं; भाव जिनसे वे उत्तेजित होते हैं; रङ्गमञ्च पर अभिनेताओं का खेल; और सङ्गीत। इन छहों में वस्तु करुण की जान है और कवि को उसके निर्माण में बड़ी सावधानी दिखानी चाहिये। वस्तु का आदि, मध्य, और अन्त हो और समस्त वस्तु में ऐक्य हो। उसका घटना-विन्यास सम्भाव्य और अनिवार्यता के सिद्धान्तों पर हो। नायक के भाग्य में एक परिवर्तन हो सकता है, सुख से ही दुःख की ओर; और दो परिवर्तन भी हो सकते हैं, सुख से दुःख की ओर और फिर दुःख से सुख की ओर, परन्तु नाटककारों को एक परिवर्तन वाली वस्तु को अधिक पसन्द करना चाहिये। वस्तु का विकास अनुवृत्ताधार पर हो। नायक की परिस्थिति, उसके मित्रों और शत्रुओं के वर्गों के विवरण के पश्चात् धीरे-धीरे नायक का भाग्य उच्चतम स्थान तक उत्कृष्ट हो और फिर वहाँ से शात्रव-शक्तियों के बल पकड़ जाने के कारण धीरे-धीरे उसके भाग्य का पतन हो यहाँ तक कि उसका दुःखमय परिणाम में अन्त हो। पात्रों में चार विशेषताएँ होनी चाहिये—वे पुण्यात्मा और उत्कृष्ट वृत्ति के हों; उनमें विप्रतिपत्ति न हो; उनमें यथार्थता हो; और अन्त तक उनके विकास में सङ्गीत हो। करुण और भयानक रसों की उत्पत्ति के लिये नाटककार अभिनय और सङ्गीत का सहारा न ले वरन् चरित्र और सङ्घर्ष की विशेषताओं का।

पात्र बड़े घराने का हो और अनजाने किसी घातक भूल के कारण विपत्ति में फँसे। सङ्घर्ष निकट सम्बन्धियों में हो। शैली विशद और उत्कृष्ट हो। शब्द साधारण बोलचाल के हों, वैदेशिक शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है; उपयुक्त अलङ्कार भाषा को रोचक और आकर्षक बनाएँ। करुण का यह विवेचन जिसे वह महाकाव्य के विषय में भी ठीक समझता है, इस बात का पूरा साक्ष्य है कि अरिस्टॉटल रूपसौष्ठव को कविता की परीक्षा में कितने महत्त्व का समझता था। अरिस्टॉटल ने करुण के विषय में विशिष्ट सुख का उल्लेख किया था, जो हमें रङ्गमञ्च पर उसके अभिनय अथवा घर में उसके पढ़ने से मिलता है, परन्तु उसने इसे इतने महत्त्व का नहीं समझा था कि उसे कविता की परीक्षा का महत्त्वपूर्ण मानदण्ड माने। यूनान के अन्तिम महान् आलोचक लॉन्जायनस का ध्यान इसी ओर गया। वह अपनी 'एट्रीटिज़ कन्सर्निङ्ग सब्लीमिटी' नामक पुस्तक में लिखता है कि साहित्य में अत्युदात्तत्व सदा भाषा की उच्चता और वैशिष्ट्य है। इसी गुण के कारण कवि और गद्य-लेखक यशस्वी और अमर हुए हैं। असाधारण प्रतिभा के गद्यांश और पद्यांश हमें बोध ही प्रदान नहीं करते, वरन् हमें अलौकिक चमत्कारक आनन्द का आस्वादन कराते हैं। रचना-कौशल और अनुक्रममूलक व्यवस्थापन तो समस्त रचना में रचयिता परिश्रम से ले आता है, परन्तु अत्युदात्तत्व उचित समय पर आकर विषय-वस्तु को इधर-उधर अलग कर देता है और रचयिता की समस्त शक्ति को विजली की जैसी एक चमक में प्रकाशित करता है। साहित्य में अत्युदात्तत्व पाँच तत्त्वों से आता है। पहला तत्व है महान और ऊँचे विचारों को सोचने और ग्रहण करने की शक्ति जो नैसर्गिक प्रतिभा का फल होती है। अत्युदात्तत्व का स्वर महानात्मा से ही निकलता है। महान् शब्द अनिवार्यतः महान् प्रतिभा से ही उत्पन्न होते हैं। दूसरा तत्त्व है प्रबल और द्रुतक्रम मनोवेग जिसकी क्षमता भी प्रकृति देती है। तीसरा तत्त्व है शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का उपयुक्त प्रयोग। चौथा तत्त्व है पदरचना अथवा वाक्शैली। पांचवाँ तत्त्व है चमत्कारक प्रणयन। इन सब गुणों से सम्पन्न अत्युदात्तत्व की पहचान यह है कि इससे सहृदय की आत्मा सत्व के उद्रेक से आनन्दमय हो उत्कृष्ट होती है। वही महान् साहित्य है जो नये मनन के लिये उत्तेजना देता है; जिसके प्रभाव को रोकना असम्भव हो जाता है; जिसकी स्मृति शक्तिवान् और अमिट होती है। यह सर्वथा सत्य है कि अत्युदात्तत्व के वही सुन्दर और सच्चे प्रभाव हैं जो सब कालों में और सब देशों में सहृदयों को आनन्द देते हैं। अत्यानन्दमय प्रभावोत्पादकता ही लॉन्जायनस का साहित्यिक गुण जाँचने का मानदण्ड हैं।

सेण्ट्सबैरी के कथनानुसार तुलना ही उच्चतर और श्रेष्ठतर आलोचना का जीवन और प्राण है। रोम के आलोचकों को तुलना का लाभ था, क्योंकि उनके सामने यूनानी साहित्य उपस्थित था। इस लाभ के परिणामस्वरूप वे यूनान की आलोचना से अधिक सयुक्तिक आलोचना छोड़ सकते थे। परन्तु रोम की प्रतिभा व्यवहार-कौशल में चाहे जितनी उत्कृष्ट हो, तत्त्वतः शौर्यहीन थी और यूनानी प्रतिभा की अपेक्षा अपने को तुच्छ समझती थी। रोम, ग्रीस को साहित्यिक बातों में अपना शिक्षक और पदप्रदर्शक समझता

रहा। और जिस उपयोगिता के दुराग्रह ने यूनानी आलोचना को पथभ्रष्ट किया उसी दुराग्रह ने रोम के आलोचकों को और भी पथभ्रष्ट किया। सिसरो और क्विण्टीलियन दोनों वाग्मिता पर जोर देते हैं। वे किसी साहित्य को वहीं तक ऊँचा समझते हैं जहाँ तक वह सुभाषणकला के लिये लाभकारी हो। सुभाषणकला ही उनका प्रधान हित है और साहित्य गौण। रोम के आलोचकों में एक हौरेस अवश्य ऐसा आलोचक है जो साहित्य को ही प्रधान हित मानता है। हौरेस कवि आलोचक था और कवि आलोचक कोरे आलोचक से सदा अधिक विश्वसनीय होता है, क्योंकि वह कविता का अभ्यास करने के कारण कविता के सब नियमों को अपने भीतर देखने की क्षमता रखता है। परन्तु हौरेस भी हमें निराश करता है। साहित्य के किसी रूप का उसे गहरा ज्ञान नहीं है। उसके सारे नियम ऐच्छिक हैं और वे पूर्वगामी आलोचकों से लिये गये हैं। जिस बात पर उसका जोर है, वह रचनाकौशल में व्यवहारिक बुद्धि का प्रदर्शन है। उसके नियम उसके 'दि एपीसल टू द पीसोज अथवा आर्ट ऑफ़ पोयट्री' में वर्णित हैं। औचित्य का ध्यान रखो। ऐसा न करो कि स्त्री का सर घोड़े की गर्दन और किसी पक्षी के शरीर पर रख दो। हाँ, कवियों को सब प्रकार के साहस का अधिकार प्राप्त है। फिर भी प्रकृति और व्यावहारिक बुद्धि असंगत बातों को मिलाने से रोकती है। अलङ्करण विषयोनुकूल होना चाहिये। इन बातों का ध्यान रखो कि कहीं संक्षेप होने में अस्पष्ट न हो जाओ, स्पष्टता के प्रयास में बलहीन न हो जाओ, उड़ान के पीछे वृहच्छब्दस्फीत न हो जाओ, सादगी का गौरव प्राप्त करने में नीरस न हो जाओ, और विभिन्नता के उद्देश्य की पूर्ति में अमर्यादित न हो जाओ। विषय अपनी शक्ति को ध्यान में रख कर बाँटो। शब्दों की छाँट में रिवाज का ख्याल रखो। जिस प्रकार की कविता में जैसा छन्द का प्रयोग चला आ रहा है, उससे न हटो। काव्यों के पात्र अब तक जैसे चित्रित होते आये हैं वैसे ही चित्रित होते रहने चाहिये, एकीलीज़ को सदा असहिष्णु, कठोर और घमण्डी चित्रित करना चाहिये और मैंडी को रुधिरप्रिय और प्रतिशोधनोत्सुक चित्रित करना चाहिए। नये विषयों की अपेक्षा पुराने विषय अधिक अच्छे हैं। पुराने विषयों पर नया प्रकाश डाल कर मौलिकता दिखाना ज्यादा ठीक है। किसी प्रबन्ध का आदि शब्दाडम्बर पूर्ण शैली में नहीं होना चाहिये। आग जलाकर धुँए में अन्त करने से धुँए से आग जलाना अधिक चित्तवशकर होता है। अपने पाठक को धीरे-धीरे ऊपर उठाना चाहिये। जीवन-चित्रण में साधारणीकरण सविवेक हो, बच्चे को बुड्ढे के गुण देना और बुड्ढे को जवानों के गुण देना अनुचित है। प्रत्येक नाटक में पाँच अंक होने चाहिये और एक दृश्य में तीन पात्रों से अधिक न बोलें। कार्य की कमी को गायक-गण पूरी करें, उनके भाव नैतिक और धार्मिक हों। हास्य और करुण का सम्मिश्रण अनुचित है। हर प्रकार के लेख को जितना माँजा जाय उतना अच्छा। अचिन्तित और प्रेरित रचना की चर्चा सारहीन है। जीवन और दर्शन के कवि को जितना ज्ञान हो उतना ही थोड़ा। (राजशेखर भी अपनी 'काव्यमीमांसा' में कहता है कि बिना सर्वज्ञ हुए कवि होना असम्भव है) कवि शिक्षा दे, अथवा दुःख दे, अथवा शिक्षा और सुख दोनों दे। दोषों

से बिल्कुल बचने की कोशिश ज्यादा आवश्यक नहीं, पर दोषों से जितना बचा जाय उतना अच्छा। (इस विषय में लॉन्जायनस की यह उक्ति ध्यान में रखने योग्य है कि मनुष्य की श्रेष्ठता उस ऊँचाई से जानी जाती है जिस तक वह चढ़ जाता है। उस नीचाई से नहीं जिस तक गिर जाता है।) मध्य श्रेणी की कविता असह्य है। कविता या तो उदात्त ही होती है नहीं तो दूषित और घृणित ही। अपनी रचना को प्रकाशित करने की जल्दी न करो परन्तु अपनी और दूसरों की आलोचना से उसे ठीक करते रहो। इन नियमों में बड़ी ऊँची बातें नहीं है और इन नियमों का पालन करके कोई मध्यम श्रेणी का कवि ही बन सकता है; फिर भी पुनरुत्थान और नवशास्त्रीय कालों में हौरेस का बड़ा आदर था, नवशास्त्रीयकाल में तो उसका अरिस्टॉटल से भी अधिक आधिपत्य था। इन नियमों से हौरेस ने शास्त्रीय मत की स्थापना की।

मध्यकालीन विचार सामूहिक था, स्वतन्त्र और वैयक्तिक था। स्वभावतः आलोचना के अनुकुल न था। बीथियस का मानदण्ड प्लैटो का है। काव्य देवियाँ मनुष्यों को मधुर विष पिलाती हैं, बुद्धि के प्रचुर फल का विनाश करती हैं, और दर्शन देवी को आते देखकर खिसक जाती हैं। सेण्ट ऑगस्टिन भी साहित्य के सुख को राक्षसी सुख बताता है। डाण्टे अकेला ही आलोचना का ऐसा महान् उदाहरण है जिसने बिना धार्मिक पक्षपातों के साहित्य की परीक्षा की। वह हौरेस से काव्यशक्ति और आलोचनात्मक प्रेरणा में कहीं बढ़ा-चढ़ा था। उसके निर्णयात्मक मानदण्ड उसकी 'डै वल्गैराई एलोक्विओ' की दूसरी पुस्तक से निकाले जा सकते हैं। इस पुस्तक में वह कविता के लिये सांस्कृतिक भाषा की उपयुक्तता की जाँच करता है। उसके विचार ये हैं। उत्कृष्ट कविता सांस्कृतिक भाषा ही में हो सकती है। उत्कृष्ट कविता के विषय युद्ध, प्रेम और धर्म होते हैं। कवियों के अभ्यास से भी यही स्पष्ट है और दार्शनिक विचार से भी। मनुष्य—पौधा-जातीय-पाशविक-बौद्धिक प्राणी है। पौधाजतीय होते हुए बढ़वार के लिये रक्षा चाहता है जिसके लिये उसे शत्रुओं से लड़ना पड़ता है; पाशविक होते हुए भिन्न लिङ्ग पर आसक्ति की उसमें प्रवृत्ति है; और बौद्धिक होते हुए धर्म और नीति के पालन करने में तत्पर होता है। उत्कृष्ट कविता का पद ग्यारह मात्रा का होता है। डाण्टे कविता की परिभाषा ऐसे करता है, "कविता वग्मितापूर्ण पद्यकृत कल्पित कथा के अतिरिक्त और कोई चीज़ नहीं है।" इस परिभाषा में कल्पित कथा जातिसूचक है और वाग्मिता और पद्यात्मकता पार्थक्य सूचक हैं, कल्पना और पद्यात्मकता इस प्रकार कविता के दो मुख्य लक्षण हो जाते हैं। महान् शैली के लक्षण डाण्टे के अनुसार चार हैं—अर्थगुरुता जो युद्ध, प्रेम, और धर्म उपर्युक्त विषयों का प्रयोग से आती है; पद्य-चमत्कार जो ग्यारह मात्राओं के पद के प्रयोग से आता है; शैली की उत्कृष्टता जो सालङ्कार भाषा के प्रयोग से आती हैं; और शब्द-संग्रह की श्रेष्ठता जो मध्य आकार के शब्दों के प्रयोग से आती है। डाण्टे मुख्यतः रूप का आलोचक है गोकि जैसा स्पष्ट है विषयवस्तु की ओर भी वह ध्यान देता है। यदि

कविता रूपसौष्ठव में उच्चश्रेणी की है तो वह ही सराहनीय है। इस विषय में उसकी दो उक्तियाँ स्मरणीय हैं—पहली यह कि जो कुछ सङ्गीत के नियमों के अनुसार पदों में व्यक्त हो चुका है, एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवादित नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि डाण्टे को रूपसौष्ठव का ज्यादा ख्याल है क्योंकि अनुवाद में विषय तो ज्यों का त्यों रहता है परन्तु रूपसौष्ठव की हानि होती है। दूसरी उक्ति है कि किसी भाषा की आन्तरिक शक्ति उसकी गद्य में जानी जाती है न कि उसकी पद्य में। भारतीय विचार के अनुसार भी गद्य को कवि को कसौटी कहते हैं—"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति"। यहाँ भी डाण्टे का ध्यान अर्थ की अपेक्षा शब्द और शब्दयोजना की ओर अधिक है। काव्यगुण निर्णय करने का डाण्टे का मानदण्ड रूप का सौन्दर्य है।

पुनरुत्थान के समय कई प्रभाव ऐसे क्रियाशील थे जिन्होंने योरोपीय मस्तिष्क को स्पष्टतया आलोचनात्मक मनोवृति प्रदान की। जागीरदारी की प्रथा का केन्द्रित राज्य में परिवर्तन, प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन, भ्रष्ट पादरी जीवन का स्पष्ट विरोध—ये ऐसी बातें थीं जिनसे राजनीतिक, सांस्कृतिक, और धार्मिक क्षेत्रों में क्रान्ति पैदा हो गई। क्रान्तिकारी वृत्ति जो आलोचना से उत्तेजित होती है, स्वयं आलोचना को वृद्धि भी देती है। शैतान ही तो पहला आलोचक था जिसने भगवान के विरुद्ध स्वर्ग में क्रान्ति फैलाई और फिर नरक में पहुँच कर अपने अनुयायियों को आलोचनात्मक व्याख्यान दिये। पुनरुत्थान में मुद्रणकला द्वारा विचारों के प्रसार ने आलोचनात्मक प्रक्रिया को और प्रवर्तक-शक्ति दी। साहित्य में आलोचनात्मक प्रवृत्ति को नई भाषाओं की कमज़ोरी, ग्रीक और लैटिन आलोचना की पुनर्प्राप्ति और प्योरीटन आक्रमणों के विरुद्ध प्रतिवाद ने और मदद दी। पुनरुत्थान की पहली अवस्थाओं में इटली आलोचनात्मक संस्कृति का घर था और इटली के आलोचक योरोप भर में तब तक सम्मानित रहे जब तक कि फ्रान्स के आलोचक सत्तरहवीं शताब्दी में उच्चतर पद को न प्राप्त हुए। विडा का मत है कि कवियों को शास्त्रीय लेखकों का अनुकरण करना चाहिये, विशेषतया वर्जिल का जो कि होमर से बढ़ा चढ़ा था। वह वर्जिल को सब गुणों का प्रतिमान और सब श्रेष्ठताओं का आदर्श मानता है। डैनीलो सुख और शिक्षा देने के अतिरिक्त कविता का उद्देश्य आवेग और सानन्दाश्चर्य का उत्तेजित करना भी मानता है। फ्राकैस्टौरो अरिस्टॉटल के अनुकरणात्मक सिद्धान्त के प्रत्ययात्मक तत्त्व को स्पष्ट करता है, कवि वस्तुओं के सादे और तात्विक सत्य का वर्णन करता है, वह नग्न वस्तु का वर्णन नहीं करता वरन् सब प्रकार के आभूषणों से सजा कर उसके प्रत्यय का वर्णन करता है। फ्राकैस्टौरी के समय तक सौन्दर्य के तीन विचार प्रचलित थे। पहला शुद्ध अनात्मिक विचार था जिसके अनुसार सौन्दर्य स्थिर और रूपात्मक माना जाता है, वही वस्तु सुन्दर कही जा सकती है जो किसी यान्त्रिक अथवा रेखागणित विषयक रूप के समान हो जैसे गोलाकार, सम-चतुर्भुजाकार और सारल्य। दूसरा प्लैटो सम्बन्धी विचार था जिसके अनुसार शिव, सत्य और सुन्दर को समान माना जाता है; तीनों दैविक शक्ति के प्रकटन हैं। तीसरा सौन्दर्य शास्त्रसम्बन्धी विचार था जिसके अनुसार

सौन्दर्य को उन सब उपयुक्तताओं के अनुरूप माना जाता है जो किसी वस्तु से सम्बन्धित की जा सकती हैं। यह विचार आधुनिक विचार के निकट आ जाता है जिसके अनुसार सौन्दर्य किसी पदार्थ के वास्तविक लक्षण का प्रत्यक्षीकरण है अथवा उसके अस्तित्व के नियम की सिद्धि है। इतिहासकार अपने लेख को इतिहास सम्बन्धी सौन्दर्य ही दे सकता है, दार्शनिक दर्शन सम्बन्धी सौन्दर्य दे सकता है, परन्तु कवि अपने लेख को सब प्रकार के सौन्दर्य से सजा सकता है। वह किसी एक क्षेत्र के सौन्दर्य ही की धारणा नहीं करता, वरन् उन सब सौन्दर्यों की जो किसी वस्तु के शुद्ध प्रत्यय से सम्बन्ध रखती हैं। इस प्रकार कवि और सब लेखकों से श्रेष्ठ है क्योंकि वह अपनी वर्णित वस्तु को सम्पूर्ण सौन्दर्य में प्रदर्शित करता है। मिण्टरनो के मतानुसार कवि को सदाचारी और विद्वान् पण्डित होना चाहिये। यदि वह प्रतिभाशाली हो तो नियमों का उल्लङ्घन कर सकता है। स्कैलीगर कवि के पाण्डित्य पर ज़ोर देता है। जिराल्डी सिन्थियो करुण और हास्य पर अपने विचार व्यक्त करता है। करुण के पात्र ऊँची पदवी के होते हैं और हास्य के साधारण और नीची पदवी के। करुण महान् और भयानक घटनाओं का वर्णन करता है और हास्य सुज्ञान और घरेलू बातों का। करुण सुख से दुःख की ओर परिवर्तित होता है और हास्य बहुधा दुःख से सुख की ओर। करुण की शैली और वाक्सरणि उत्कृष्ट और उदात्त होती है और हास्य की अपकृष्ट और सालापिक। करुण के विषय अधिकांश ऐतिहासिक होते हैं और हास्य के कवि के आविष्कृत। करुण का वातावरण अधिकतया निर्वासन और रक्तपात का होता है और हास्य का प्रधानतः प्रेम और संग्रहण का। कैस्टेलवैट्रो का ध्यान भी नाटक की आलोचना की ओर जाता है। वह उसी नाटककार को सफल मानता है जो अपने नाटक में वस्तु-सङ्कलन, कालसङ्कलन, और देशसङ्कलन तीनों में से किसी को भङ्ग नहीं करता और जो रङ्गमञ्चीय सत्याभास देता है। टासो ने रोमांसिक महाकाव्य का आदर्श निश्चित किया है। उसमें विषय की आनन्दप्रद विभिन्नता के साथ-साथ महाकाव्य का तात्विक वस्तुसङ्कलन भी होता है। रोमांसिक वीरकाव्य की यह विशेषताएँ बताता है। विषय ऐतिहासिक होना चाहिये। ऐतिहासिकता से काव्य में सत्य का आभास होने लगता है और पाठक को भान होता है कि लिखित बातें सब सप्रमाण हैं। वीरकाव्य में सच्चे धर्म का अर्थात् ईसाई मत का वृतान्त होना चाहिये, झूठे मत का नहीं; यूनानी धर्म की बातें वीरकाव्य के लिये ठीक नहीं क्योंकि उसमें अद्भुत तत्त्व तो है परन्तु सम्भाव्य नहीं और वीरकाव्य के लिये दोनों आवश्यक हैं। काव्य में धर्म की ऐसी कट्टर बातों का समावेश न होना चाहिये जिनका थोड़ा बहुत परिवर्तन कर देना अधर्म का दोष ले आये और कवि की कल्पना बाधित हो जाय। विषय-वस्तु न तो अधिक प्राचीन हो, न अधिक आधुनिक हो; क्योंकि यदि बहुत प्राचीन हुई तो उसमें ऐसे अनोखे रीतिरिवाजों का वर्णन आयेगा जिसमें पाठक का अनुराग कठिनाई से हो सकता है और यदि विषयवस्तु बहुत आधुनिक हुई तो उसमें सम्भाव सहित अद्भुत बातों का लाना कठिन हो जायगा। शार्लमेन और आर्थर के काल उचित माने जा सकते हैं। घटनाएँ महत्त्वपूर्ण होनी चाहिये। नायक भद्र और जाति-

पालक होना चाहिये। पैट्रिज़ी का कहना है कि कविता किन्हीं विशिष्ट विषयों से सीमित नहीं हैं, उसमें कला, विज्ञान इतिहास सब विषयों का निरूपण हो सकता है, बस बात यह है कि शैली काव्यमय हो।

पुनरुत्थान काल की अँग्रेजी आलोचना न इतनी प्रचुर है, न इतनी प्रभावशाली और विभिन्नतापूर्ण है जितनी कि इटली की। परन्तु उसका अध्ययन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि पुनरुत्थान काल में आलोचनात्मक सिद्धान्त उपलब्ध थे और इस उपलब्धि में इङ्गलैड का भी पूरा भाग था। दूसरी बात जो यह अध्ययन स्पष्ट करता है वह यह है कि किस प्रकार अंग्रेजी आलोचना में शास्त्रीयता का प्रचार बढ़ा। अंग्रेजी आलोचना के विकास की पहली अवस्था में आलोचकों ने आलङ्कारिता, रूप, और शैली की ओर ध्यान दिया। दूसरी अवस्था में भाषा और पदयोजना के प्रश्नों को हल किया। तीसरी अवस्था में कविता का दार्शनिक विचार से अध्ययन, विशेषतया इस हेतु से कि किस प्रकार उसे प्योरीटनों के आक्रमण से बचाया जाय जो कविता को झूठी और कलुषीकारक कह कर दूषित करते थे। चौथी अवस्था में कविता का अध्ययन काव्यरचना और आलोचनात्मक सिद्धान्तों के समर्थन के उद्देश्यों से हुआ। उस काल के सिडनी, बैनजॉन्सन, और बेकन, तीन ऐसे आलोचक हैं जिनसे साहित्य परीक्षा के मानदण्ड मिलते हैं। सिडनी, कविता को अरिस्टॉटल की तरह अनुकरण मानता है। सालङ्कार भाषा में उसे बोलती हुई तस्वीर कहता है जिसका उद्देश्य सुख और शिक्षा देना है। छन्द कविता के लिये तात्त्विक नहीं है, वह उसका आवश्यक आभूषण है। कविता नीति की शिक्षा देती है और मनुष्य के जीवन को उच्चतम स्तर तक ले जाने में समर्थ होती है। कविता नैतिक ज्ञान ही नहीं देती, वरन् नैतिक जीवन व्यतीत करने की उत्तेजना भी देती है। कवि तत्त्ववेत्ता और इतिहासकार दोनों से उच्चतर है। तत्त्ववेत्ता तो नीति और अनीति का स्पष्टीकरण करता है और अपने अनुयायियों को आदेश देता है, परन्तु कवि नैतिक आदेश को एक कल्पित व्यक्ति के जीवन में अनुप्राणित कर एक प्रभावोत्पादक उदाहरण पेश करता है। इतिहासकार किसी सांसारिक महान् व्यक्ति के जीवन का वृतान्त देता है जिसको पढ़कर पाठक को यह विश्वास नहीं हो पाता कि जिन नियमों का पालन करके उस महान् व्यक्ति ने यश और गौरव पाया वे व्यापक महत्त्व के हैं, परन्तु कवि साधारणीकरण शक्ति के द्वारा पाठक को नियमों का प्रभाव कारणकार्य रूप में दिखाता है। इतिहास में कभी-कभी बुरे आदमी सफल हो जाते हैं और कभी-कभी भले आदमी विफल हो जाते हैं और साहित्यकार उनके जीवन को वैसे ही वर्णित करता है; परन्तु कवि भले आदमी को सदा सफल कर दिखा सकता है और बुरे आदमी को सदा विफल कर दिखा सकता हैं। इसी विशेषता से कविता को अज्ञानी पुरुष झूठा कह देते हैं। वे ऐतिहासिक सत्य और काव्यमय सत्य में भेद नहीं कर सकते। बैनजॉन्सन की रुचि व्यवस्था, एकरूपता, और शास्त्रीयता की ओर थी। उसने बड़े पाण्डित्य से उन सब बातों को कह डाला है जिन्हें अंग्रेज़ी आलोचक ऐस्कन से लेकर पट्नहम तक

कहने का प्रयास कर रहे थे और वह ड्राइडन, पोप, और जॉन्सन के मत की रूपरेखा निश्चित करता है। नाटक-प्रणयन में वह शास्त्रीय मत का प्रकाशक है और नियमों का बड़ा निर्भीक प्रतिपादक है, गो कि अभ्यास में वह काल और देशसङ्कलन और गायकगण-सम्बन्धी नियमों का उल्लङ्घन करता है। करुण के लेखक को नियमों के पालन के साथ-साथ वस्तु की सत्यता, पात्रों की गम्भीरवृत्ति, वक्तृत्व की उत्कृष्टता और सारपूर्ण वाक्यों की बहुतायत पर ध्यान देना चाहिये। बैनजॉन्सन ने करुण की अपेक्षा हास्य का अधिक विस्तृत विवरण दिया है। हास्य के अङ्ग वे ही हैं जो करुण के हैं और करुण की तरह हास्य का उद्देश्य भी सुख और शिक्षा देना है। हास्य मनुष्य के छोटे-छोटे दोषों को रङ्गमञ्च पर खोल दिखाकर उन्हें उपहास्य बताता है ताकि दर्शक लोग अपने ऐसे दोषों पर स्वयं दृष्टि डालें और उन्हें छोड़ें। जैसे करुण, शोक और भय द्वारा नैतिकता का उद्देश्य पूरा करता है वैसे ही हास्य छोटे परिमाण के कमीनेपन और बेवक़ूफ़ी की हँसी उड़ाकर नैतिकता का उद्देश्य पूरा करता है। दोनों में क्रिया सुधारक है, बस उपकरण का अन्तर है। करुण ऊँची और असाधारण बातों से मतलब रखता है और हास्य छोटी बातों से, जो साधारण अनुभव की होती हैं; हास्य में अन्तर्वेगों का द्वन्द्व और घटनाओं का भाग्य से और उनका परस्पर सङ्घर्ष दिखाया जाता है, करुण में चरित्रों का भेद और कूटयुक्तियों की सफलता अथवा विफलता दिखाई जाती है; हास्य में कृत्य की विशेषता यह है कि उसका कोई वाह्य आधार नहीं होता, बल्कि चरित्र-विभेद का आन्तरिक प्रभाव ही कृत्य का रूप दृढ़ करता है। ऐसे सादृश्य के आधार पर ही बैनजॉन्सन ने हास्य का विवेचन किया। हास्य का मुख्य उद्देश्य हँसी और विनोद नहीं, वे उसके साधक हैं। हास्य के लेखक को उन्हें मुख्य उद्देश्य बनाने के विलोभन से बचते रहना चाहिये। यदि वह इस विलोभन में पड़ गया तो सम्भव है कि वह घोर पापों का प्रदर्शन कर उनकी ओर हँसी दिलाने की चेष्टा करने लगे। इससे हास्य का उद्देश्य मारा जायगा क्योंकि घोर पापों की ओर घृणा उत्पन्न करना चाहिये न कि हँसी। हँसी उत्पन्न करने के विलोभन में यह भी ख़तरा है कि हास्य का लेखक अतिवाद में पड़ जाय; और अतिवाद प्रहसन (फ़ार्स) में ठीक है, हास्य में ग़लत। प्रचलित सुखान्त हास्य को बैनजॉन्सन निन्दनीय मानता है। ठीक हास्य समाज का सुधारक होता है, इस धारणा से उसने स्वभाव (ह्यूमर) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। पृथ्वी, जल, वायु, और अग्नि इन चार तत्वों के अनुरूप मनुष्य के शरीर में कृष्ण पित्त, कफ़, रक्त, और पित्त इन चार द्रव्यों का सञ्चार है। जब ये चारों द्रव्य ठीक-ठीक अनुपात में किसी मनुष्य में विद्यमान होते हैं तो मनुष्य का मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य अच्छा रहता है। यदि इनमें से किसी एक द्रव्य का अनुपात अधिक हो जाय तो मनुष्य का स्वभाव अधिक मात्रा वाले द्रव्य की विशेषता दिखायेगा। यदि मनुष्य में कृष्ण पित्त अधिक हुआ तो उसका स्वभाव निरुत्साह होगा, यदि उसमें कफ का अनुपात ज्यादा हुआ तो उसका स्वभाव मन्द होगा, यदि उसमें रक्त का अनुपात ज्यादा हुआ तो उसका स्वभाव उल्लसित होगा, यदि उसमें पित्त का अनुपात ज्यादा हुआ तो उसका स्वभाव

क्रोधी होगा। हास्य का उद्देश्य मनुष्य के व्यवहार में उन तत्त्वों का निरीक्षण करना है जो या तो उसमें नैसर्गिक रूप से प्रधान होते हैं या जो जीवन-व्यापार में उत्तेजना पाने पर दूसरे तत्त्वों को दबाकर अपनी सीमा से बढ़ जाते हैं। ऐसा निरीक्षण भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले बहुत से मनुष्यों में किया जाय और जब बिगड़े हुए स्वभावों का एक-दूसरे से सङ्घर्ष हो तो इन व्यतिक्रमों का अनैतिक प्रभाव प्रदर्शित किया जाय। मान लो कि हम किसी आदमी को लोभी कहते हैं क्योंकि लोभ उसकी विशेषता है और उसके लिए लोभ स्वाभाविक है, यह आदमी जीवन-व्यापार में इस प्रकार काम कर सकता है कि लोभ की प्रवृत्ति उभरने न पाये, और मूर्खों अथवा शैतानों के बीच में पड़ जाने से ऐसा भी व्यवहार कर सकता है जिससे उसकी लोभ की प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्तियों पर आधिक्य पा जाये। पहली दशा में मनुष्य अपने स्वभाव के अन्तर्गत कहा जायगा और दूसरी दशा में अपने स्वभाव के वहिर्गत कहा जायगा। दोनों दशाओं में हास्य को अवकाश है और प्रश्न केवल परिमाण का है। पिछली दशा नाटककार को अधिक प्रिय है क्योंकि आधिक्य रङ्गमञ्च पर अधिक प्रभावोत्पादक होता है और आधिक्यों के सङ्घर्षों का प्रदर्शन अधिक शिक्षाप्रद होता है। इस सिद्धान्त पर हास्य लिखने में पात्र कठपुतली की तरह रुक्ष और एकरूपहो सकते हैं और वे सरल तो हो ही जाते हैं, तथा वे आन्तरिक-शक्ति की न्यूनता के कारण जीवित से भी प्रतीत नहीं होते। परन्तु बैनजॉन्सन का हास्य विषयक मानदण्ड यहाँ स्पष्ट है। कविता के विषय में पहली बात जो बैनजॉन्सन की आलोचना में एकदम द्रष्टव्य है वह कवि की नैतिकता है। बिना सदाचारी हुए कवि अच्छी कविता नहीं कर सकता। अपनी 'डिसकवरीज़' में कवि की आवश्यकताओं का वर्णन देते हुए बैनजॉन्सन कहता है कि "कवि में उपयुक्त स्वाभाविक बुद्धि हो, क्योंकि बहुत सी दूसरी कलाएँ नियमों और आदेशों के परिपालन से भी आ सकती हैं, परन्तु कवि जन्मना ही होता है। दूसरी आवश्यकता कवि में जन्मप्राप्त बुद्धि का अभ्यास है। बहुत से पद जल्दी लिख डालने से ऊँची श्रेणी की कविता नहीं आ सकती। काट-छाँट और पदों को धीरे-धीरे माँजना आवश्यक है। अच्छा लिखने से जल्दी लिखना आता है न कि जल्दी लिखने से अच्छा लिखना। वर्जिल कहा करता था कि वह अपनी कविताओं को पीछे से ऐसे रूप देता था जैसे रीछनी अपने बच्चों को डालकर फिर चाट-चाट कर उन्हें रूप देती है। तीसरी आवश्यकता अनुकरण की है। किसी महान् कवि को छाँट कर उसका ऐसे अनुकरण करना कि धीरे-धीरे स्वयं उसी कवि के समान हो जाना, जैसे वर्जिल और स्टेटिअस ने होमर का अनुकरण किया था। अनुकरण दास तुल्य न हो। चौथी आवश्यकता अध्ययन की सूक्ष्मता और विस्तार, ऐसा अध्ययन जो जीवन का अंश हो जाय और उचित समय पर काम आ जाय। पाँचवीं आवश्यकता नियमों का ज्ञान है, क्योंकि बिना नियमों के ज्ञान के प्रतिभा का नियन्त्रण और उससे पैदा हुए भावों का व्यवस्थापन सम्भव नहीं। इस प्रकार लिखी हुई कविता को कवि ही जाँच सकता है, कविता की समीक्षा की शक्ति कवियों में ही होती है। बेकन ने इतिहास का निर्देश मेधा से, दर्शन का ज्ञानशक्ति से,

और कविता का कल्पना से मान लेने में परम्परा का अनुसरण किया। नाटक को उसने सारङ्गी बजाने वाले का गज़ कहा जिससे निकली हुई तान द्वारा बड़े-बड़े मस्तिष्क प्रभावित हो सकते हैं। रङ्गशाला में नाटक के अद्भुत प्रभाव का कारण सामूहिक मनोवृत्ति बताई गयी है। जब बहुत से दर्शक एक जगह एकत्रित होते हैं तो उनमें रस का सञ्चार आधिक्य पा जाता है। कविता कल्पनामय ज्ञान है। उसका स्रोत मनुष्य की इस संसार से असन्तुष्टि है। सांसारिक गौरव, सांसारिक-व्यवस्था, सांसारिक विभिन्नता मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं करती और वह अपनी कल्पना से वास्तविक गौरव से अधिक श्रेष्ठ गौरव, वास्तविक व्यवस्था से अधिक पूर्ण व्यवस्था और वास्तविक विभिन्नता से अधिक सुन्दर विभिन्नता सोच सकता है। कविता वस्तुओं के रूप को मानसिक इच्छाओं के अनुरूप परिवर्तित कर देती है। बेकन का मानदण्ड कल्पनात्मक सुख है।

सत्तरहवीं शताब्दी के फ्रान्सीसी आलोचकों के नियम फ्रान्स ही में नहीं वरन् समस्त यूरोप में सम्मानित थे जिनमें से तीन अधिक माननीय हैं—बोयलो, रैपिन और लै बौस्यू। बोयलो की 'एल आर्ट पोयटीक' से यह मत यहाँ उल्लेखनीय है। कविता के प्रत्येक विषय में चाहे वह मोदजनक हो चाहे उदात्त, विवेक अवश्य होना चाहिये। पद्य-रचना से अधिक मूल्यवान् विवेक ही है और इसी से काव्य में गुण और चमक पैदा होती है। बहुत से कवियों को इस बात का मान होता है कि उनकी कविता में ऐसी अद्भुत बातें हैं जो आज तक किसी दूसरे ने नहीं लिखीं। यह सब अयुक्त है। कविता विवेकपूर्ण होनी चाहिये।...कविता में कोई अविश्वसनीय बात नहीं होनी चाहिये, जिस बात में विश्वास नहीं उससे मन कैसे प्रभावित हो सकता है।...यदि तुम अपनी कविता को प्रिय बनाना चाहते हो तो तुम्हारी काव्यदेवी ज्ञानपरिपूर्ण होनी चाहिये। सौरस्य के साथ-साथ सार और उपयोगिता भी होनी चाहिये।...प्रकृति ही हमारा अध्ययन होनी चाहिये। ...हम प्रकृति से कभी विमुख न हों। बोयलो का मत इस बात पर आधारित है कि प्रत्येक साहित्यिक रूप की सम्पूर्णता की चरम सीमा अथवा मर्यादा है। रचनात्मक कलाकार इस मर्यादा को पूरी तरह समझे और आलोचक इसी के मानदण्ड से साहित्य समीक्षा करे। इस मत में वस्तु के विषय में प्रार्थना की कचहरी विवेक अथवा प्रकृति है और प्रणयन के विषय में प्रार्थना की कचहरी रुचि है। रैपिन अपनी 'रिफ़लेक्शन्स सर लापोयटीक' में कविता पर अपने विचार प्रकट करता है। वह प्लैटो और अरिस्टॉटल के इस मत का प्रतिवाद करता है कि कविता में विक्षिप्ति का प्रवेश होना चाहिये। चित्त-विक्षेप का कविता से कोई सम्बन्ध नहीं।...कविता सुख का प्रयोग उपदेश के लिये करती है।...अरिस्टॉटल के नियम प्रकृति के व्यवस्थापन हैं।...यदि किसी नाटक में सङ्कलन-त्रय न हो तो उसमें सत्याभास भी नहीं आ सकता। ले बोस्यू महाकाव्य में अरिस्टॉटल और हौरेस को नियमों के सम्बन्ध में और होमर और बर्जिल को आधार के सम्बन्ध में सब अधिकार देता है।

नवशास्त्रीय काल की रूपरेखा बैनजॉन्सन और बोयलो में निश्चित हो जाती है। आलोचनात्मक एकरूपता इस काल की मुख्य विशेषता है। मिल्टन कहता है कि शिक्षणपूर्णता में कविता तर्क और वाग्मिता से दूसरी श्रेणी की है और शिक्षणपूर्ण होने के लिये कविता सरल, इन्द्रियमूलक और आवेगमय होनी चाहिये । ड्राइडन आलोचना को शिक्षण के उद्देश्य से बचाकर उसे सैद्धान्तिक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक बनाता है। वह कवि आलोचक था, साहित्य में उसका सच्चा अनुराग था, उसने प्राचीन ग्रीक और रोमी साहित्य खूब पढ़ रखा था और तत्कालीन यूरोप के साहित्य का भी उसे अच्छा ज्ञान था। ड्राइडन नाटक को जीवन का जीवित चित्र मानता है। इसी कारण वह ऐसे नाटकों से जो नियमों का पालन करते हों पर जीवन-चित्रण में कृत्रिम हो जाते हों, उन नाटकों को ज्यादा अच्छा समझता है, जिनमें नियमों का चाहे उल्लङ्घन हो, परन्तु उनमें अकृत्रिमता हो। वह करुण-हास्य के पक्ष में है। करुण-हास्य अधिक सुखमय होता है। यह बात नहीं मानी जा सकती कि करुण और प्रमोद एक-दूसरे को निष्फल बना देते हैं, सच यह है कि सम्मिश्रण में वे एक-दूसरे को और फलीभूत कर देते हैं। यदि वस्तु के साथ किसी नाटक में उपवस्तु भी हो और उपवस्तु के होने से अस्तव्यस्तता न आय तो उपवस्तु का प्रयोग दोष की जगह गुण माना जायगा। नाटक के चित्रित कृत्य और वर्णित कृत्य में ठीक सामञ्जस्य हो, एलीजैवेथ के काल का नाटक कृत्य को अधिक दिखाता है और फ्रान्स का नाटक कम दिखाता है; नाटककार को दोनों के बीच का रास्ता पकड़ना चाहिये। करुण की भाषा के विषय में ड्राइडन का मत है कि वह पद्यात्मक होनी चाहिये, पहले तो तुकान्त पद्य के पक्ष में था पर पीछे से अतुकान्त के पक्ष में हुआ। वह पद्यात्मक भाषा के प्रयोग का समर्थन इस विचार से करता है कि उसके द्वारा एक ऐसा वातावरण तैयार हो जाता है जिसमें काव्य की आदर्शवादिता अच्छी तरह ग्रहणीय होती है। इसमें शक नहीं कि पद्यात्मक भाषा से अकृत्रिमता तो आ ही जाती है, क्योंकि जीवन में पद्यात्मक भाषा नहीं बोली जाती और नाटक जीवन का अनुकरण होता है। नाटक के विषय में ड्राइडन का मत नियमों के कठोर बन्धन से मुक्त होने का है। वह 'डिफेन्स ऑफ़ दी एसे' में बिना हिचक के स्वीकार करता है कि कविता का प्रधान उद्देश्य सुख देना है, शिक्षा गौण। 'प्रैफेस टू एन ईवनिङ्ग्ज़ लव' में हास्य और प्रहसन (फ़ार्स) में यह भेद लक्षित करता है। हास्य में पात्र निम्न-श्रेणी के होते हैं पर उनके चरित्र और कृत्य निसर्गज होते हैं, उसमें ऐसी वृत्तियाँ, योजनाएँ और ऐसे साहसी कार्य प्रदर्शित होते हैं जो दिन-प्रतिदिन जीवन में मिलते हैं; प्रहसन में बनावटी वृत्तियाँ और अप्राकृतिक घटनाएँ होती हैं। हास्य, मनुष्य स्वभाव की त्रुटियाँ हमारे सामने लाता है; प्रहसन ऐसी वस्तुओं से हमारा मनोरञ्जजन करता है जो अमूलक और अपरूप होती हैं। हास्य एसे लोगों को हँसी दिलाता है जो मनुष्यों की मूर्खताओं और उनके भ्रष्टाचारों पर अपना निर्णय दे सकते हैं; प्रहसन ऐसे लोगों को हँसी दिलाता है जिनमें निर्णयात्मक शक्ति नहीं होती और जो असम्भवकल्पक प्रदर्शन से खुश होते हैं। हास्य अवधारणा और

उच्छृङ्खल कल्पना पर क्रियाशील होता है; प्रहसन उच्छृङ्खल कल्पना पर ही। हास्य की हँसी में अधिक सन्तुष्टि होती है; प्रहसन की हँसी में अधिक घृणा। इसी लेख में ड्राइडन करुण और हास्य का मुकाबिला करते हुए कहता है कि करुण के लिये काव्यात्मक न्याय (पोइटिक जस्टिस) आवश्यक है क्योंकि उसका उद्देश्य उदाहरण द्वारा शिक्षा देना है और हास्य में उसकी आवश्यकता नहीं क्योंकि उसका उद्देश्य सुख और आनन्द है। वह 'ऑफ़ हीरोइक प्लेज़' में वीर नाटक के लिये अतिमानुष श्रेष्ठता और उत्कृष्ट शैली का पक्षपाती है। वीर नाटक महाकाव्य का संक्षिप्त रूप है। महाकाव्य में अतिमानुष पात्रों और उदात्त शैली के अतिरिक्त अलौकिक पात्रों और घटनाओं का समावेश भी होता है। करुण भी भाव में वीर होता है। उसकी रूपरेखा पहले से ही निर्दिष्ट है। नायक वृहद् आकार का होता है; नायिका सौन्दर्य और सातत्व में अद्वितीय होती है; बहुत से पात्रों के हृदय मान और प्रेम के बीच में विभक्त होते हैं; कहानी युद्ध और सामरिक उत्साह से परिपूर्ण होती है। समग्र वातावरण उत्कृष्ट आदर्शवादिता का होता है। वीर नाटक, महाकाव्य, और करुण में ड्राइडन के वीरकाव्य विषयक विचार स्पष्ट हैं। वह 'प्रेफ़ेस टू द ट्रान्सलेशन ऑफ़ ओविड्स एपीसल्स' में अनुवाद का आदर्श पेश करता है। अनुवाद तीन प्रकार का होता है—यथाशब्दानुवाद जिसमें लेखक का एक भाषा से दूसरी भाषा में शब्दशः और पदशः अनुवाद होता है; शब्दान्तरकरण जिसमें लेखक का ध्यान प्रतिक्षण रहता है परन्तु उसके शब्दों का इतना ध्यान नहीं किया जाता जितना उसके आशय का; अनुकरण जिसमें अनुवादक लेखक के शब्दों और आशय से भी ध्यानमुक्त हो जाता है और उससे केवल इशारा लेकर अपना स्वतन्त्र लेख लिख डालता है। अनुवाद का काम इतना मुश्किल है जितना बँधे पैरों से रस्सी पर नाचना। पहले और तीसरे प्रकार के अनुवाद बहुधा असन्तोषजनक ही होते हैं। दूसरे प्रकार का अनुवाद ही ठीक अनुवाद माना गया है और इसके अनुवादक का दोनों भाषाओं पर पूरा प्रभुत्व होना चाहिये और अपनी प्रतिभा को मौलिक लेखक की प्रतिभा के अनुरूप करने की क्षमता होनी चाहिये। 'ए पैरैलल ऑफ़ पोइट्री एण्ड पेण्टिङ्ग' में ड्राइडन चित्रकला के लिये आदर्शवाद का पक्ष लेता है। कला में प्रकृति के अनुकरण करने का अर्थ प्रत्यय को पा लेना है और अनुभव की नानाव्यक्तिभूत बातों को छोड़ देना है। जब चित्रकार के हृदय में सम्पूर्ण सौन्दर्य की मूर्ति समा जाती है तभी वह कला के पवित्र मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकारी होता है। साहित्यिक रूपों का ड्राइडन-कृत जैसा विश्लेषण अंग्रेज़ी-आलोचना में नहीं हुआ था। ड्राइडन के बाद एडीसन ने आलोचनात्मक बल दिखाया, परन्तु उसमें कोई बड़ी मौलिकता न थी। महाकाव्य के उसके मानदण्ड अरिस्टॉटल के हैं। मिल्टन के 'पैरैडाइज़ लॉस्ट' की परीक्षा उसने वस्तु, पात्र, भाव और भाषा, इन चार आधारों पर की और उनके गुण-दोष बड़ी सूक्ष्मता से दिखाये। वस्तु की परीक्षा करते हुए उसने अरिस्टॉटल के मत से अपनी असहमति व्यक्त की। महाकाव्य का अन्त सदा सुखमय होना चाहिये। वह महाकाव्य, महाकाव्य, नहीं जिसमें उच्च उपदेश नहीं।

इसलिये महाकाव्य में काव्यात्मक न्याय अवश्य होना चाहिये। काव्यात्मक न्याय के माने बुराई को दण्ड देना और भलाई को प्रतिफल देना है। कल्पना पर एडीसन के विचार हम पहले ही व्यक्त कर चुके हैं। वोर्सफोल्ड उन विचारों को इतना महत्त्वपूर्ण समझता है कि एडीसन को वह कल्पना को प्रेरणा देने के मानदण्ड से साहित्य की जाँच करने वाला पहला ही आलोचक बताता है। परन्तु जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, कल्पना को प्रेरणा देने का मानदण्ड अरिस्टॉटल और बेकन में भी निहित है। स्विफ्ट अपनी 'बैट्ल ऑफ़ बुक्स' में प्राचीन लेखकों की मधुमक्खियों से तुलना देता हुआ उनकी कलात्मक विशेषता को 'माधुर्य और प्रकाश' से प्रतिलक्षित करता है। यहाँ काव्य के प्रभाव से एक बड़ा सन्तोषजनक मानदण्ड निश्चित होता है। पोप के आलोचनात्मक विचार होरेस, बैनजॉन्सन, और बोयलो से मिलते-जुलते हैं। वह शास्त्रीयता का पूरा पक्षपाती है। जब प्रकृति को प्रेरणा देने के मानदण्ड को प्रतिपादित करता है तो वह प्रकृति से एक ऐसी कृत्रिम प्रकृति समझता है जो नागरिक समाज की रीतियों के अनुसार व्यवस्थित हो और जिसमें रूढ़ियों और साधारणीकरणों का पूरा अवकाश मिला हो। यदि किसी काव्य में ऐसी प्रकृति को प्रेरणा हो तो वह श्रेष्ठ काव्य है। इस काल का हमारा अन्तिम आलोचक डाक्टर जॉन्सन है। उसने यूनान के साहित्य को पूरी तरह पढ़ा था, परन्तु लैटिन और मध्यकालीन साहित्य को उसने इतना नहीं पढ़ा था। उसकी साहित्यिक संस्कृति के आदर्श ड्राइडन और पोप थे, इसीसे उसकी नवशास्त्रीय प्रवृत्ति बड़ी बलवान हो गई थी। उसने आलोचनात्मक सिद्धान्तों पर अपने विचार मुख्यतः 'रैम्बलर' में व्यक्त किये हैं। मिल्टन की पद्य की आलोचना कहीं-कहीं बड़ी शिक्षाप्रद है, विशेषतः यति के स्थान के विषय में। यति जितनी मध्यस्थित हो उतनी अच्छी। पञ्चगणात्मक पद में यति दूसरे या तीसरे गण के बाद होना चाहिये। सिद्धान्त यह है कि यति से विभक्त दोनों भाग सङ्गीतमय होने चाहिये। यदि तीसरे अक्षर (सिलैबिल) और सातवें अक्षर के बाद यति हो तो भी भाग सङ्गीतमय हो सकते हैं। लय, गण की आवृत्ति से पैदा होती है। पहले गण के बाद तीसरे अक्षर के आते ही उसमें चौथे अक्षर की आकांक्षा होती है और लय की व्यञ्जना हो जाती है। इसी प्रकार सातवें अक्षर के बाद यति आने पर भी दोनों विभक्त भाग सङ्गीतमय हो जाते हैं। पहले और दूसरे अक्षरों तथा आठवें और नवें अक्षरों के बाद की यति दूषित होती हैं। मिल्टन इन स्थानों पर भी यति लाता है और इस कारण उसकी पदयोजना दोषरहित नहीं कही जा सकती। 'रैम्बलर' के अगले एक नम्बर में आलोचक के दायित्व का वर्णन हैं। आलोचक पक्षपात से अलग हो, वह इस बात का घमण्ड न करे कि वह बड़े-बड़े कवियों और लेखकों का न्यायाधीश है, वह पुस्तक अथवा लेखक के समझने में जल्दबाजी न करे, वह यह न सोचे कि उससे तो गलती हो ही नहीं सकती। आलोचक स्वानुराग से पथभ्रष्ट हो सकता है, देशप्रेम उसके निर्णय को दूषित कर सकता है; जीवित लेखकों के प्रति वह अधिक कोमल हृदय हो सकता है। आलोचना का कर्त्तव्य शुद्ध बुद्धि के प्रकाश में सत्य दिखाना है। और अगले एक नम्बर में जॉन्सन नाटक के नियमों की

परीक्षा करता है। अक्सर, नियम कल्पना की उड़ान को रोकते हैं। यह पुराना नियम कि रङ्गमञ्च पर तीन अभिनेताओं से अधिक न आयें, कोई अर्थ नहीं रखता; और जैसे-जैसे नाटक में विभिन्नता और गहनत्व आये यह नियम भङ्ग होने लगा। नाटक पाँच अङ्कों में विभक्त हो, इस नियम की आवश्यकता न तो कृत्य के गुण से और न उसके प्रदर्शन के औचित्य से दीख पड़ती है और आज कल तीन अङ्क के और एक अङ्क के बहुत से नाटक लिखे जा रहे हैं। काल सङ्कलन का नियम यह चाहता है कि नाटक में जितनी घटनाओं का समावेश हो वे सब उतने समय में हों जितने समय में नाटक रंगमंच पर खेला जाता है। यदि दो अङ्कों के बीच में काफ़ी समय दे दिया जाय तो कोई बुराई नहीं; क्योंकि वह भ्रम जिस पर खेल की सफलता निर्भर है अङ्कों के बीच के आये हुए समय से नष्ट नहीं हो सकता। करुण-हास्य को इस कारण बुरा कहा जाता है कि उसमें तुच्छ और महत्त्वपूर्ण बातें साथ-साथ आती हैं और करुण का प्रभाव नष्ट हो जाता है यदि उसमें गम्भीरता की क्रमशः बाढ़ न हो। जॉन्सन का कहना है कि शेक्सपिअर इस बात का उदाहरण है कि उसने अपने करुण और हास्य रसों को बारी-बारी से एक ही नाटक में बड़ी सफलता से दिखाया है। एक नाटक में एक ही प्रधान कृत्य हो और उसमें एक ही नायक हो, ये नियम ठीक हैं। नियमों का बन्धन कड़ा नहीं होना चाहिये। यदि कोई लेखक उन्हें तोड़कर उच्चतर सौन्दर्य प्राप्त कर लेता है तो वह इस बात का साक्षी है कि प्रकृति रूढ़ि के ऊपर सदा विजय पाती है। 'प्रैफेस टू शेक्सपिअर' में शेक्सपिअर के पात्रों के विषय में जॉन्सन की यह उक्ति बड़ी सूक्ष्म है कि उनमें व्यापकता भी है और वैशिष्ट्य भी। उत्कृष्ट कविता का यह पक्का चिह्न है; क्योंकि कवि किसी व्यापक आदर्श को लेकर किसी व्यक्ति में समाविष्ट करता है। आदर्शीकरण की इस वृत्ति का यह उल्लेख वह स्वयं 'रैसीलाज़' में करता है। कवि का कर्तव्य व्यक्तियों की परीक्षा करना नहीं वरन् व्यापक गुणों और रूपों का निरीक्षण करना है। जॉन्सन के मानदण्डों में पूरी शास्त्रीयता नहीं है। वह प्रकृति के अधिकार को रूढ़ि के ऊपर सदा उच्चता देता है।

अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी का भी आलोचनात्मक उत्थान हुआ और नियमों के प्रति वही भावनाएँ प्रदर्शित हुईं जो इङ्गलैण्ड में। गौटशैड, अरिस्टॉटल के अनुसार वस्तु को ही काव्य की आत्मा मानता है और उन सब पात्रों और घटनाओं का निषेध करता है जिनमें सत्याभास न हो, जैसे मिल्टन का पैण्डिमोनियम और उसके सिन और डैथ दो पात्र। वह नियमों का पूरा अनुयायी था। गैलर्ट की प्रवृत्ति मध्यस्थावलम्बन की है। उसका कहना है कि नियम व्यापक रूप से उपयोगी हैं परन्तु प्रतिभा के लिये उनका उल्लङ्घन करने का अधिकार होना उचित है। लैसिङ्ग साफ़ कहता है कि नियम प्रतिभा को कष्ट पहुँचाते हैं। अरिस्टॉटल के प्रति तो उसकी श्रद्धा है परन्तु फ्रान्सीसी आलोचकों के प्रति उसकी कोई श्रद्धा नहीं, क्योंकि उन्होंने, उसके मतानुसार, नियमों की ऐसी उल्टी-सीधी व्याख्या की जिससे अरिस्टॉटल का आशय कुछ का कुछ हो गया। काण्ट और गटे साहित्य की परीक्षा

में कलामीमांसा का आधार लेते हैं। काण्ट सौन्दर्य को किसी ऐसे उद्देश्य की उपयुक्तता का विशेष गुण बताता है जिसका किसी उपयोगी उद्देश्य से सम्बन्ध नहीं। गटे का कहना है कि कला और कविता में व्यक्तित्व सब कुछ है। वह बफ़ों का शब्दान्तरकरण करता हुआ कहता है कि शैली लेखक की अन्तरात्मा की सच्ची व्यञ्जना है। यह अचेतन शैली के विषय में निश्चित रूप से ठीक है, परन्तु इससे विषय निरूपण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये। उत्कृष्ट कविता में पूर्णरूप से वास्तविकता होती है। जब वह वाह्य संसार से असम्बद्ध हो कर आत्मिक हो जाता है तभी वह पदच्युत हो जाती है। काव्यात्मक रचना सारपूर्ण होती है। प्रकृति जीवित और निरर्थक प्राणी को व्यवस्थित करती है और कला मृत और सार्थक प्राणी को व्यवस्थित करती है।

नवशास्त्रीय काल की यह विशेषता थी कि उसमें कुछ ऐसे आलोचनात्मक नियम प्रचलित थे जिन्हें अधिकांश में आलोचक मानते थे। रोमान्सिक काल में साहित्यालोचन के नियमों के प्रतिपादन में कोई एकरूपता नहीं। वर्ड्सवर्थ कविता को वेगपूर्ण अन्तर्वेगों का स्वयंप्रवर्तित संप्लव कहता है। यह संप्लव याद की हुई अनुभूतियों पर मनोवृत्ति के सङ्केन्द्रण से उठता है। उसका विचार है कि अच्छी कविता कभी तत्कालविहित नहीं होती। उसकी अभिव्यञ्जना के लिये किसी विशेष वाक्सरणि की आवश्यकता नहीं होती। उसकी भाषा में और गद्य की भाषा में कोई तात्विक अन्तर नहीं। साधारण बोलचाल की चुनी हुई भाषा कविता के लिये उपयुक्त है। यह भाषा छन्दोबद्ध अवश्य हो क्योंकि कवि का उद्देश्य सुख देना है। 'पौप्यूलर जजमैण्ट' नामक लेख में वर्ड्सवर्थ का मत है कि साहित्य का आनन्द सहृदय रुचि से लेता है। रुचि के तीन अर्थ माने जाते हैं—अध्ययनशील आलोचकों के मत की अनुरूपता, संवेदनशीलता और अपने को लेखक के स्तर तक उठा लेने की शक्ति। जिस रुचि से सहृदय लेखक का आनन्द लेता है वह तीसरे अर्थ की रुचि है। बिना ऐसी रुचि की क्षमता के करुणात्मक और उदात्त साहित्य की उचित सराहना असम्भव है। कोलरिज आलोचक होते हुए बड़ा सूक्ष्मदर्शी तत्त्ववेत्ता था। उसने वर्ड्सवर्थ के कई सिद्धान्तों की विश्लेषणात्मक बुद्धि से काट की। कविता की परिभाषा करता हुआ वह 'बायोग्रैफिया लिटरैरिया' में लिखता है, पद्य में सत्य की सुखमय अभिव्यञ्जना को कविता कह सकते हैं, गो कि दृढ़तापूर्वक नहीं। ऐसी आख्यायिकाओं और उपन्यासों को जो तत्क्षणिक सुख देती हैं, कविता कह सकते हैं यदि उन्हें पद्य में परिवर्तित कर दिया जाय, गो कि दृढ़तापूर्वक नहीं। केवल ऐसे प्रणयन को जो तत्क्षणिक सुख देता है और जो प्रत्येक भाग में उतना ही सुखमय है जितना कि पूर्ण में—दृढ़तापूर्वक कविता कह सकते हैं। कविता की इसी विशेषता के कारण कि उसका प्रत्येक भाग मनोरञ्जक होता है, यह आवश्यक है कि उसकी वाक्सरणि ध्यानपूर्वक चुनी हुई हो और शब्दों का व्यवस्थापन कौशलपूर्ण हो। ग्रामीण और निम्नश्रेणी का जीवन कविता के लिये अनुपयुक्त है क्योंकि कविता आदर्श जीवन को व्यक्त करती है न कि वास्तविक जीवन को। वर्ड्सवर्थ

की कुछ कविताएँ जैसे 'हैरीगिल' और 'इडियट बौय' वास्तविक जीवन को ज्यों का त्यों वर्णित करने के कारण काव्यात्मक नहीं हो पातीं। दूसरी कविताएँ जैसे 'माइकेल' और 'रूथ' इसी से काव्यात्मक हो जाती हैं क्योंकि उनमें जीवन का धर्म द्वारा आदर्शीकरण हो गया है। यह कहना कि कविता साधारण जीवन की भाषा में होनी चाहिये ठीक नहीं, क्योंकि यह भाषा असंस्कृत होती है और ऐसे गूढ़ और सूक्ष्म अर्थों के व्यक्त करने में असमर्थ होती है, जिनमें कविता अपनी प्रतिभा का वैभव दिखाती है। स्वयं वर्ड्सवर्थ जहाँ उत्कृष्ट शैली की कविता करता है, ऐसी भाषा का परित्याग कर देता है। कविता श्रेष्ठतम शब्दों का श्रेष्ठतम क्रम में प्रयोग करती है। छन्द के विचार से भी कविता की वाक्सरणि श्रेष्ठतम होनी चाहिये। कविता का उद्गम शरीर और मन की आवेशपूर्ण दशा है। ऐसी दशा में यदि आवेश बढ़ता ही जाय तो मनुष्य पर इतना ज़ोर पड़ सकता है कि उसके कारण विह्वल होकर मर जाय। इसी से ऐसी दशा में आप ही आप विचार शक्ति उद्भव होती है जो मनोवेग के कार्य को नियन्त्रित करती है। आवेशपूर्ण काव्यात्मक प्रणयन के कार्य में विचार शक्ति शब्दरचना को छन्दोबद्ध कर देती है और वाक्सरणि को उत्कृष्ट कर देती है। छन्द के प्रभाव की जाँच से भी कविता के लिए उत्कृष्ट वाक्सरणि आवश्यक है। छन्द ध्यान और साधारण भावों को प्रफुल्लता और सुविकारता को वर्द्धित करता है। यह प्रभाव अचम्भे के उत्ताप से और उत्सुकता के जागृत और सन्तुष्ट होने से पैदा होता है। यदि वर्द्धित ध्यान और वर्द्धित भावों को उत्कृष्ट भाषा के रूप में उचित भोजन न मिला तो पाठक की आशा अवश्य भङ्ग होगी और उसे कविता में कोई आनन्द न आयगा। छन्द और कविता के अवियोज्य होने के कारण जिन-जिन वस्तुओं का समावेश छन्द में होगा उनका समावेश कविता में भी होगा। छन्द में उत्कृष्ट वाक्सरणि होते हुए उत्कृष्ट वाक्सरणि काव्यात्मक हुई। उत्कृष्ट वाक्सरणि कविता और छन्द के बीच में फिटकरी का काम देती है। फिर यह भी विचार है कि कविता बहुत से तत्त्वों का समस्वरत्व है। जब विचार उत्कृष्ट है, छन्द उत्कृष्ट है, व्यक्तित्व उत्कृष्ट है, तो भाषा अपने आप उत्कृष्ट होगी। अन्त में, कवियों का अभ्यास भी इसी बात का द्योतक है कि कविता में उत्कृष्ट वाक्सरणि होती है। आलोचना के विषय में अलग एक लेख में कोलरिज यह विचार व्यक्त करता है। आलोचना का काम काव्यरचनात्मक सिद्धान्तों की स्थापना करना है और 'एडिनबरा रिव्यू' के एडीटरों की तरह लेखों और लेखकों पर फैसले देना नहीं। यदि फैसला देना आलोचना का काम माना जाय तो पहले एक एकेडेमी बनाई जाय जो ऐसे नियमों की संहिता तैयार करे जिनके आधार पर व्यापक नैतिकता और दार्शनिक बुद्धि हों। वर्ड्सवर्थ की कविता के गुण बताते हुए कोलरिज 'बायोग्रैफिया लिट्रेरिया' में उदात्त शैली की पक्की पहचान बताता है। वह यह है कि उदात्त शैली में लिखा हुआ लेख उसी भाषा के शब्दों में भी बिना अर्थ को हानि पहुँचाये अनूदित नहीं हो सकता। इसी आशय का फ्रेञ्च आलोचक फ्लोबर्ट का केवल शब्द का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ़ द सिङ्गिल वर्ड) है। प्रवीण लेखक के लेख में जो शब्द जहाँ

प्रयुक्त हो गया उसकी जगह कोई दूसरा शब्द नहीं ले सकता। काव्य-समीक्षा के आलोचनात्मक मानदण्ड कोलरिज के उपर्युक्त प्रतिपादन से निकाले जा सकते हैं। शैली अपने 'डिफ़ैन्स ऑफ़ पोयट्री' नामक निबन्ध में बुद्धि और कल्पना का भेद देता है। बुद्धि एक विचार का जो दूसरे विचार से सम्बन्ध होता है उस पर ध्यानशील होती है, कल्पना उन विचारों पर इस प्रकार क्रियाशील होती है कि उन्हें अपने रङ्ग में रंग देती है और उन्हें तत्त्व मानकर उनसे ऐसे नये विचारों की स्थापना कर देती है जिनमें समग्रता का नियम परिचालित होता है। बुद्धि विश्लेषणात्मक होती है, कल्पना संश्लेषणात्मक। बुद्धि पहले से जानी हुई मात्राओं की शुमार करती है और कल्पना उन्हीं मात्राओं का अलग-अलग और सम्मिश्रण में मूल्याङ्कन करती है। बुद्धि वस्तुओं के वैषम्य का ध्यान करती है और कल्पना उनके साम्य का। कल्पना के लिये बुद्धि वैसे ही है जैसे कारीगर के लिए हथियार, जैसे आत्मा के लिए शरीर और जैसे पदार्थ के लिए परछाँई। कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है। कविता और कथा में यह अन्तर है कि कथा में तो अलग-अलग तथ्यों की फेहरिस्त सी होती है जिनमें काल, स्थान, और परिस्थिति के सम्बन्ध होते हैं, और कविता अपमे सनातन सत्य में अभिव्यक्त जीवन की प्रतिमा होती है। काव्यात्मक सामर्थ्य के दो गुण हैं—वह ज्ञान, शक्ति और सुख के पदार्थों की रचना करती है और फिर सौन्दर्य अथवा शिव के नियमों के अनुसार उनकी पुनार्रचना की भावना मन में उत्पन्न करती है। काव्यात्मक रचनाओं में सदा उपयोगिता होती है। कविता की उपयोगिता गणित की उपयोगिता जैसी, अथवा व्यायाम की उपयोगिता जैसी है। जैसे गणित से बुद्धि का विकास होता है, व्यायाम से शरीर का विकास होना है, वैसे ही कविता से कल्पना का विकास होता है। विकसित वुद्धि पीछे से उपयोगी काम का साधन बन सकती है, विकसित शरीर पीछे से किसी उपयोगी काम का साधन बन सकता है, इसी तरह विकसित कल्पना पीछे से किसी उपयोगी काम की साधन बन सकती है। विकसित कल्पना मनुष्य की संवेदनशीलता और सहानुभूति को संस्कृत करती है, जिसके द्वारा संसार के बहुत से झगड़े और लड़ाइयाँ दूर हो सकती हैं। कल्पना को संस्कृत करना यही कविता का प्रभाव है और यही प्रभाव शैली के मतानुसार उसकी श्रेष्ठता की जाँच का मानदण्ड है। कीट्स के मतानुसार श्रेष्ठ कला के सृजन में सृजक की और उसके अनुभव में दर्शक अथवा पाठक की आत्मपूर्णता होती है, उसकी आत्मा में सब प्रकार के द्वन्द्व का अन्त होकर पूर्ण शान्ति की स्थापना हो जाती है। बस, ऐसे प्रभाव का उत्पादन ही कला की श्रेष्ठता की जाँच का मानदण्ड है।

अरिस्टॉटल के नियमों का शासन फ्रान्स में बहुत वर्षों तक रहा परन्तु वहाँ भी अठारहवीं शताब्दी के अन्त में और क्षेत्रों की क्रान्ति के साथ आलोचना में भी क्रान्ति उठ खड़ी हुई। जूवर्ट ने लॉन्जायनस को दोहराते हुए कहा कि हम उसी रचना को कविता कह सकते हैं जो हर्षोन्माद पैदा करे। इस उक्ति में कि कविता अपनी अन्तरात्मा से बाहर कहीं नहीं है, वह लॉन्जायनस से भी आगे बढ़ जाता है। आलोचना को वह

विवेक का क्रमानुगत अभ्यास कहता है। शास्त्रीयता का स्पष्ट विरोधी विक्टर ह्यूगो था जिसने अपने आलोचनात्मक मत की घोषणा 'क्रोमवैल' की भूमिका में की। कल्पनात्मक विचार का इतिहास तीन कालों में विभक्त होता है—पुरातन, शास्त्रीय और आधुनिक अथवा ईस्वीय। पहले काल की रचना भावनाकाव्य है, दूसरे काल की महाकाव्य और तीसरे काल की नाटक। ईसाई-मत की विशेषता आत्मा और शरीर के भेद के अनुसार उच्च जीवन और निम्न जीवन है। नाटक का आधार यही भेद है। शास्त्रीय नाटक में सुन्दर और उदात्त के अतिरिक्त और कुछ प्रदर्शित नहीं किया जाता था, अपरूप, साधारण और हास्यजनक का बहिष्कार किया जाता था। असली बात यह है कि सौन्दर्य तब तक अपना प्रभाव नहीं दिखाता जब तक कि उसका असौन्दर्य से भेद न दिखाया जाय, अपरूप और हास्यजनक ही सौन्दर्य के प्रभाव को उत्तेजित करते हैं। दूसरी बात यह है कि कला का मुख्य उद्देश्य प्रकृति के सत्य का प्रकाशन है; रूप और कुरूप, सद् और असद्, गम्भीर और हास्यप्रद—सब ही प्रकृति में हैं, और इन सबका प्रदर्शन कला में होना अनिवार्य है। फिर कला प्रकृति के सत्य को ज्यों का त्यों नहीं उपस्थित करती, वह उसका आदर्शीकरण करती है। बस, कला का सौन्दर्य आदर्शीकृत सत्य है। इस विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन शास्त्रीय नियमों से कला के स्वातन्त्र्य को नष्ट किया है वे अयुक्त हैं। सार यह है कि कलाप्रणयन के कोई नियम नहीं हैं, सिवाय उनके जो कला के स्वभाव से निर्दिष्ट होते हैं और जो कलाकार की विषय-वस्तु से निर्दिष्ट होते हैं। इन दो प्रकार के नियमों के अतिरिक्त कलाकार पर किन्हीं और नियमों का बन्धन नहीं है। उसके दोष, जैसा हम शेक्सपिअर के सम्बन्ध में देखते हैं, उसके गुणों से अवियोज्य हैं। इस व्यापक सिद्धान्त को नाटक पर लागू करके वह काल और देश सङ्कलन को व्यर्थ कहता है, केवल वस्तु सङ्कलन को कलात्मक प्रणयन के लिये आवश्यक समझता है। वस्तुसङ्कलन को भी इस तरह समझता है कि उसमें उपवस्तुओं और उपकथाओं का समावेश सम्भव हो। अपने इस सिद्धान्त के अनुसार विक्टर ह्यूगो शैली और भाषा के सम्बन्ध में भी कलाकार को पूरा स्वातन्त्र्य देता है। सेण्ट ब्यूव भी रोमान्सिक पक्ष में सम्मिलित हुआ। शास्त्रीयता को वह अवर्णनीय मानता है। आदर्श-ग्रन्थ की रचना के लिये कोई नियत नियम नहीं हैं। यह सोचना कि शुद्धता, गाम्भीर्य, स्पष्टता, और लालित्य के अनुकरण से कोई लेखक आदर्शग्रन्थ की रचना कर सकता है, ग़लत है। ऐसे ग्रन्थ की रचना के लिये व्यक्ति स्वभाव और अन्तः प्रेरणा की आवश्यकता होती है। आलोचना के विषय में उसका मत है कि उसका प्रयोजन सदा निर्णय है। आलोचक जनता का मन्त्री है। वह सार्वजनिक भावनाओं का सम्पादक है। इसी से पुरानी आलोचना का समझना कठिन है, क्योंकि वह आधी लिखित है और आधी तत्कालीन जनता के हृदय में विद्यमान थी। आलोचक कृति के मूल्य का निर्णय करने से पहले कृति को अच्छी तरह समझे। कृति को समझने के लिये सेण्ट ब्यूव ने एक निसर्गानुसारिणी रीति का अन्वेषण किया जिसका विवरण हम पिछले प्रकरण में दे चुके हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में विज्ञान और दार्शनिक विचार की प्रगति के कारण आलोचना का अधिक विकास हुआ। कॉरलायल कलात्मक सम्पूर्णता का मानदण्ड सत्य प्रकटन बताता है। उसका कहना है कि कला तथ्य की अन्तरात्मा का कारावास से निराकरण है। आर्नल्ड अपनी कविताओं के १८५३ ई० के संग्रह की भूमिका में कहता है कि नये कवि को प्राचीन यूनानी कवियों का अनुकरण करना चाहिये, शेक्सपिअर का नहीं। प्राचीन साहित्य की तीन विशेषताएँ हैं—महान् कृत्य को काव्य का विषय बनाना, स्पष्ट प्रणयन और अभिव्यञ्जना को कम महत्त्व देना। इन तीनों बातों में आधुनिक अंग्रेजी-साहित्य इतना अधिक सन्तोषजनक नहीं है जितना कि पुराना यूनानी-साहित्य। वार्ड् की 'इङ्गलिश पोयट्स' के प्रारम्भिक आलोचनात्मक कथन में वह ऐतिहासिक और वैयक्तिक मूल्याङ्कन का बहिष्कार कर के एक अनुभवात्मक मानदण्ड की प्रस्तावना करता है। बहुत दिनों के अध्ययन के पश्चात् आलोचक ऐसे स्थलों को चुन ले जिनमें अत्युदात्त कविता का पूरा चमत्कार है। इन्हीं स्थलों को वह कविता के दूसरे उदाहरणों की जाँच की कसौटी मान ले। यदि ये कसौटियां काम न दे सकें तो फिर वह कृति में यह देखे कि उसमें कहाँ तक विषय-वस्तु का और शैली का काव्यात्मक सत्य है और कहाँ तक वह उच्च गाम्भीर्य है जो ऐकान्तिक निष्कपटता से आता है। 'लास्ट वर्ड्स' में आर्नल्ड उत्कृष्ट शैली की परिभाषा देता है। यह शैली काव्य में तब आती है जब काव्यात्मक मनोवृत्ति वाला उच्चादर्श का व्यक्ति किसी गम्भीर विषय का सरलता और सिद्धि के साथ निरूपण करता है। यहाँ पर उत्कृष्टता के चार मानदण्ड निर्दिष्ट हैं; काव्यात्मकता, उच्चादर्श, सरलता और सिद्धि। सरल उत्कृष्ट शैली का उदाहरण होमर है और सिद्ध उत्कृष्ट शैली का उदाहरण मिल्टन है। रस्किन अपने हृदिस्पर्श पक्षाभास (पैथेटिक फैलैसी) नामक प्रसिद्ध निबन्ध में चार प्रकार के मनुष्य गिनाता है—पहले, वे जो सब वस्तुओं को उनके सत्य रूप में देखते हैं क्योंकि उनकी भावात्मकता बड़ी कमज़ोर होती है। ऐसे मनुष्यों को गुलाब, गुलाब ही प्रतीत होता है और कुछ नहीं। दूसरे, वे जो प्रत्येक वस्तु को उसके किसी और ही रूप में देखते हैं, जो वास्तविक रूप है उसमें कभी नहीं। ऐसे मनुष्यों को गुलाब, तारा दीख पड़ता है, सूर्य दीख पड़ता है, परी की ढाल दीख पड़ती है, अथवा विसृजित कुमारी दीख पड़ती है। तीसरे, वे मनुष्य जो प्रबल भावात्मकता रखते हुए भी हर एक वस्तु को ठीक-ठीक देखते हैं। ऐसे मनुष्यों को गुलाब, गुलाब ही दीख पड़ता है, वह चाहे जैसी प्रतिमाएँ मनोवेगों द्वारा व्यञ्जित करे। चौथे, चाहे कितना ही बली कोई मनुष्य हो, कभी-कभी ऐसे विषय आते हैं जो उसे विह्वल कर देते हैं और उसके प्रत्यक्षीकरण को धुँधला कर देते हैं और वह टूटे-फूटे वाक्यों में अक्रमिक ढङ्ग से अपनी सूझ को व्यक्त करने लगता है। पहली प्रकार के मनुष्यों को हम कवि नहीं कह सकते; दूसरी प्रकार के मनुष्य दूसरी श्रेणी के कवि कहलाते हैं; तीसरी प्रकार के मनुष्य प्रथम श्रेणी के कवि कहलाते हैं; और चौथी प्रकार के मनुष्य प्रेरित भविष्यवक्ता होते हैं। कीट्स और टैनीसन दूसरी श्रेणी के कवि हैं और

डाण्टे प्रथम श्रेणी का। डाण्टे ऐसे समय भी जब उसके मनोवेग बड़े प्रबल होते हैं, अपने को पूरे शासन में रखता है। लॉञ्जायनस ने भी यही कहा है कि महान् प्रतिभा वाले व्यक्ति मद्यपानोत्सव में भी धीर होते हैं। यहाँ रस्किन बड़े कवि की यही पहचान निर्दिष्ट करता है कि उसकी भावात्मकता और ज्ञानात्मकता दोनों बड़ी प्रबल होती हैं। 'मोडर्न पेण्टर्स' और 'एरैट्रा पैण्टैलीकाई' में रस्किन कला का उद्देश्य नैतिक उपयोगिता मानता है। पहली पुस्तक में वह कहता है कि कलात्मक सुख की दो प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं—एक तो मनोरञ्जकता की केवल शारीरिक चेतना होती है, जिसे वह एस्थैसिस कहता है। दूसरी मनोरञ्जकता का हर्षमय, विनीत और कृतज्ञ प्रत्यक्षीकरण होती है, जिसे वह थ्यौरिया कहता है। इस बात के ध्यान के लिये सौन्दर्य भगवान की देन हैं थ्यौरिया विषयक तुष्टि अति आवश्यक है। अतः किसी कलात्मक कृति को हम सुन्दर नहीं कह सकते यदि वह हमें एस्थैसिस सम्बन्धी तुष्टि दे और थ्यौरिया सम्बन्धी तुष्टि देने में असफल रहे। दूसरी पुस्तक में रस्किन स्पष्टतया कहता है कि कलाओं का उद्देश्य नैतिक उपदेश देना है। "सब कलाएँ मनुष्यहित में हैं। उनका मुख्य प्रयोजन उपदेशकता है। नाटक और मूर्तिकला को तो विशेषतया उन सबकी शिक्षा देनी चाहिये जो इतिहास में उत्तम है और मानुषिक जीवन में सुन्दर है। कलाएँ तब ही सफल मानी जा सकती हैं जब वे उन मनुष्यों को पूरों तरह स्पष्ट हों जिनके लिये उनका उत्पादन हुआ। और कलात्मक अभिव्यञ्जना की सूक्ष्मता का यही पक्का चिह्न है कि अभिव्यञ्जन-कौशल चित्रित विषय में बिल्कुल लोप हो जाय।" इन वाक्यों में रस्किन के मन्तव्य के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। वह कला का स्वतन्त्र अस्तित्व मिटा देता है। रस्किन के विपरीत पेटर कलाहेतु कला के सिद्धान्त का प्रतिपादक है। पेटर अभिजात्य कलाकार है। प्रत्येक सृजन कलजक नहीं हो सकता। सहित्य के कलाकार को विद्वान् होना चाहिये और कलाप्रणयन में निरन्तर विद्वद्वर्ग का ध्यान रखना चाहिये। उसका शब्द भण्डार बृहद् होना चाहिये और शब्दों के प्रयोग में उसे पूरी मितव्ययता दिखानी चाहिये। जैसे मूर्तिकार प्रस्तरखण्ड से अनावश्यक प्रस्तर को काट कर मूर्ति निकाल लेता है, वैसे ही साहित्यिक कलाकार अपने शब्द-भण्डार से अनावश्यक शब्दों को दूर कर अपनी अनुभवरूपी आन्तरिक प्रतिमा को शाब्दिक रूप दे देता है। पेटर के मतानुसार कला की जान आधिक्य का निराकरण है। शब्दों का ठीक चुनाव इस ख्याल से आवश्यक हो जाता है कि उसका प्रभाव कृति के निर्माण पर पड़ता हैं। बिना इसके उस वास्तुकलाविषयक प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती जो कृति के अन्त को आदि में देखता है और अन्त का निरन्तर मध्य में और इधर-उधर ध्यान रखता है। यह वास्तुकलाविषयक तत्त्व मन है। दूसरी आवश्यक तत्व आत्मा है। यह व्यक्तित्व का तत्त्व है, जो विचार की भाषारूपी व्यञ्जना में प्रकट नहीं होता, वरन् साहित्यकार की आत्मा की छाप के रूप में। इसी गुण से हम साहित्यकार को उसकी विभिन्न रचनाओं में स्पष्ट देख सकते हैं। समस्त कृति कृतिकार के अन्तरिक दर्शन का शाब्दिक फोटोग्राफर होना चाहिये। यह

कलात्मक अभिव्यञ्जना का आदर्श है। "सर्व सौन्दर्य, अन्ततोगत्वा सत्य की सूक्ष्मता है अथवा वह जिसे हम अभिव्यञ्जना कहते हैं, वाणी की भीतरी प्रतिभा के लिये उपयुक्तता।" जैसा पिछले प्रकरण में कह चुके हैं, ऐसा पूर्ण निष्कपटता की दशा में ही सम्भव है। पेटर का यह मानदण्ड कलामीमांसा-सम्बन्धी है और कलाहेतु कला की निमग्नता का द्योतक है। फिर भी पेटर विषय-वस्तु के मूल्य से बिल्कुल विमुख नहीं है। वह अपने 'स्टाइल' नामक निबन्ध के अन्त में कहता है कि कलाकृति तब भी महान् कहलाएगी जब अभिव्यञ्जना-कौशल सम्बन्धी सम्पूर्णता के साथ-साथ उसके विषय में मानवता की अन्तरात्मा का प्रवेश भी हो और उसका प्रयोजन मानव-सुख और ईश्वर का स्तवन हो।

रूस का महान् नाटककार और उपन्यास लेखक टॉल्सटॉय सङ्गीत और दूसरी कलाओं में भी तीव्र अनुराग रखता था। कला का स्पष्टीकरण टॉल्सटॉय इस तरह करता है। कला उस क्रियाशीलता को कहते हैं जिसके द्वारा कोई मनुष्य अपनी अनुभूति को जान-बूझ कर दूसरों से निवेदन करता है। बर्नर्डशॉ का कहना है कि कला की यह परिभाषा सरल सत्य है और जो कोई भी कला से अभिज्ञ है इन शब्दों में पारङ्गत विद्वान् की आवाज चीन्हता है। कला का पहला चिह्न संक्रामकता है। यदि कोई बच्चा अकेले आते हुए साँड़ को देखे और भयभीत होकर घर आकर, इस प्रकार साँड़ के भयानक रूप और अपनी ओर उसके झपटने का ब्यौरा दे कि उसके माता-पिता भी उसकी अनुभूति का अनुभव करने लगें तो बच्चे ने कला की सफल रचना की—ऐसा मानना चाहिये। यदि बच्चे ने बिना किसी साँड़ के देखे हुए उस अनुभूति की कल्पना की जो साँड़ के देखने से उद्भव हो और फिर ऊपर की जैसी कहानी गढ़ कर उसने अपने माता पिता से इस तरह कहो कि वे बच्चे की काल्पनिक अनुभूति का अनुभव करने लगे, तो भी बच्चे ने कला की सफल रचना की—ऐसा मानना चाहिये। यदि कोई बच्चा किसी सुन्दर वस्तु को पाकर उछले-कूदे और आनन्द की अभिव्यक्ति तरह-तरह से करे, तो उसके आनन्द प्रदर्शन को कलात्मक नहीं कह सकते, क्योंकियह स्वयं परिवर्तित और नैसर्गिक है। परन्तु यदि इसी अनुभूति को याद करके पीछे से बच्चा उसे इस प्रकार दूसरों से कहे कि उनमें भी उसी आनन्द का सञ्चार हो जो उसमें हुआ था, तो उसकी कहानी कलात्मक होगी। यदि कला के सम्पर्क से उन्हीं भावों का सञ्चार न हो जो उसमें व्यक्त थे, तो उसको कला नहीं कह सकते। कला का दूसरा चिह्न उचित रूप की सिद्धि और वास्तविक भाव की प्रेरणा है। रूप की सिद्धि साहित्यिक कलाकार को शब्दों की विभिन्न व्यञ्जनाओं पर और उनके मार्मिक विन्यास पर अधिकार पाने से होती है। जिन भावों से कलाकार संक्रामकता का प्रयोजन सिद्ध करता है, नाना प्रकार के हो सकते हैं—तीव्र अथवा मन्द, सारपूर्ण अथवा सारहीन, सद्, अथवा असद्, मातृभूमि का प्रेम, परवशता, भक्ति, वीरोपासना, रति, उत्साह, हास्य, शान्ति, और प्रशंसा। भाव चाहे उपकारक हो, चाहे अपकारक, यदि उसमें रूप की संक्रामकता से व्यापकता आ जाती है तो वह कला का विषय हो जाता है। फिर भी सच्ची कलाकृतियों में इस बात से बहुत भेद हो जाता है कि भाव मानव जाति को हितकारी है अथवा अहितकारी है। यह कला

का टॉल्सटॉय के कथनानुसार तीसरा लक्षण है। यदि यहा कहा जाय कि भाव का हितकारी अथवा अहितकारी होना कोई माने नहीं रखता तो कला का मानव जीवन से समस्त सम्बन्ध काट देना होगा। कलाकार स्वयं मनुष्य है और अपने को दो-एक ऐसे भागों में विभक्त नहीं कर सकता जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध न रहे। इस लक्षण से चौथा लक्षण स्पष्ट हो जाता है—कला का महत्त्व। यदि कला अभिव्यञ्जना-कौशल ही की बात होती, तो वह क्रिकेट, हॉकी, अथवा शतरञ्ज की तरह मानी जाती। परन्तु हम उसे इन खेलों से अधिक महत्त्व देते हैं। कला हमारे भावों को रूप, वृद्धि और विकास देती है, यह कार्य कला, कलाकार के व्यक्त भावों द्वारा पूरा करती है। और क्योंकि हमारे भाव हमारे विचारों, हमारे मतों, हमारी प्रवृत्तियों और हमारे समस्त जीवन को प्रभावित करते हैं, उन्हें प्रभावित करने वाले कलाकार को नीतिशास्त्रकारों से श्रेष्ठतर कहना उपयुक्त है। एक दूसरी जगह पर टॉल्सटॉय भाव को धार्मिक प्रत्यक्षीकरण का बहाव कहता है और वहाँ कलात्मक अनुभव को इसाई-मत की नीति की चेतना से सीमित करता है, जिसका आधार मनुष्यों का भ्रातृत्वभाव और उनका भगवान से पिता पुत्र का सम्बन्ध है। इस प्रकार टॉल्सटॉय का कला को जाँचने का मापदण्ड कुछ कलामीमांसाविषयक और कुछ सामाजिक उपयोगिता का है।

इस शताब्दी के आदि में आलोचकों का झुकाव शास्त्रीयता की ओर हुआ। रॉबर्ट ब्रिजैज़ ने उस साहित्य को प्रथम श्रेणी का माना जिसमें पचास प्रतिशत कल्पना और पचास प्रतिशत यथार्थता हो। टी० ई० ह्यूम ने शास्त्रीयता के सिद्धान्त का बड़ी दृढ़ता से समर्थन किया। वह बड़ा शक्तिशाली लेखक था। रोमान्सवाद और शास्त्रीयता का भेद उसने दार्शनिक सूक्ष्मता से किया। मनुष्य, प्रत्येक व्यक्ति, सम्भाव्यों का अनन्त जलाशय है; और यदि क्लेशकर व्यवस्था का नाश कर समाज का पुनर्व्यस्थापन किया जाय, तो उन सम्भाव्यों को यथार्थ हो जाने का मौक़ा मिलेगा और तब प्रगति प्राप्त होगी। यह ही रोमान्सवाद है। शास्त्रीयता इसकी उल्टी है। मनुष्य असाधारणतः स्थिर और सीमित प्राणी है जिसका स्वभाव सर्वथा अपरिवर्तित है; परम्परा और अनुशासन से ही मनुष्य में से कुछ निकल सकता है—यह ही शास्त्रीयता है। डार्विन के समय में इस मत को कुछ धक्का लगा। उसका सिद्धान्त था कि छोटे-छोटे परिवर्तनों से धीरे-धीरे नई जातियों का विकास होता है। यह सिद्धान्त प्रगति की सम्भावना को मानता है; परन्तु ह्यूम कहता है कि आजकल डैब्रीज़ ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि प्रत्येक नई जाति धीरे-धीरे छोटे-छोटे परिवर्तनों द्वारा अस्तित्व में नहीं आती वरन् उसका आकस्मिक उद्गार होता है और जब वह एक बार अस्तित्व में आ जाती है, तब वह बिल्कुल स्थिर हो जाती है। टी० ई० ह्यूम परिवर्तन और प्रगति में श्रद्धा नहीं रखता था। वह सभ्यता को बड़ी सन्दिग्ध वस्तु मानता था। उसका विचार था कि यदि कुछ परम्परागत परिच्छेद और मूल्य अप्रतिबद्ध न माने जायें, तो तर्क, कविता, और मानवाचार सब अस्त-व्यस्त हो जायें। अपने इस मत को ह्यूम ने मौलिक पाप के ईसाई-

सिद्धान्त से भी सम्बन्धित किया। मनुष्य का उद्धार बिना क्रम, व्यवस्था, और अनुशासन के नहीं हो सकता। यही मानदण्ड उसने कला के लिये निर्वाचित किया। टी० एस० इलियट की प्रवृत्ति भी शुरू में रोमान्सवाद के विरुद्ध थी। इसका कारण न शास्त्रीय कविता का अनुराग था और न रोमान्सवादी कविता की घृणा। उस पर ग्रियर्सन जैसे विद्वान् आलोचकों की आलोचना का प्रभाव था। उसने काव्यात्मक मौलिकता और आत्माभि-व्यञ्जना के तत्कालीन विचारों पर सन्देह किया और कविता को एक विकासवान् परम्परा के रूप में देखा। यह परम्परा ह्यूम की संस्थाओं की तरह स्थिर वस्तु नहीं है। उसका परिवर्तन नित्य नये मिश्रणों से होता रहता है। मान लो कि नाटक के संसार में एक महान् नाटक का सृजन हो गया, तो वह नाटक की रचनात्मक और आलोचनात्मक परम्परा को परिवर्तित कर देगा। उसने मौलिकता को केवल ठीक समय पर ठीक वस्तु की सृष्टि माना—परम्परा का सच्चा विकास। इलियट का यह विचार बहुत काल तक स्थिर न रहा। उसको सूझा कि यदि कविता को एक निश्चित परम्परा माना जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह दूसरी परम्पराओं से, जैसे दार्शनिक और नीतिशास्त्रविषयक, स्वतन्त्र और असम्बन्धित है। अपनी छोटी पुस्तक 'आफ्टर स्ट्रेन्ज गौड्ज़' में इलियट कहता है कि आलोचना ईश्वरशास्त्र से अलग नहीं हो सकती। ईश्वरवाद का सम्बन्ध आलोचना को वह व्याख्यात्मक दर्शन देता है जिससे मानवजीवन का सर्वाङ्गी ज्ञान सम्भव होता है। टी० एस० इलियट का आलोचनात्मक मानदण्ड परम्परा के लिये आदर सिद्ध होता है। हर्बर्ट रीड पूर्ण मुक्ति और अमर्यादा के पक्ष में है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास तब ही कर सकता है जब वह रूढ़िगत सोचने, सङ्कल्प करने, और क्रियाशील होने से मुक्त हो जाय। कलाकार ऐसे व्यक्तित्व को प्राप्त करके ही श्रेष्ठ कला का सृजक हो सकता है। जितना विकसित व्यक्तित्व, उतनी श्रेष्ठ कला—यही रीड का काव्यसमीक्षा-विषयक मानदण्ड है। मिडिल्टन मरे का महत्त्व नापने का पैमाना आत्मावसाद है। जो मनुष्य अपने को अपनी कृति में जितना भूल जायगा, उतनी ही श्रेष्ठता उस कृति में वह पायेगा। यही विचार इलियट और रीड का भी है। टी० एस० इलियट इसे आत्मविनाशीकरण (डीपर्सनालाईज़ेशन) कहता है और रीड इसके लिये कीट्स के वाक्यांश अभाववाचक क्षमता (नैगेटिव कैपेबिलिटी) का प्रयोग करता है। इस विचार का स्पष्टीकरण इलियट एक वैज्ञानिक सादृश्य द्वारा करता है। यदि ऐसे स्थान में जहाँ ऑक्सीजन और सल्फर डायोक्साइड मौजूद हों कोई प्लैटीनम का तार लाया जाय तो फल सल्फ्यूरिक एसिड होता है। यह एक ऐसी चीज़ होती है जिसमें प्लैटीनम का कोई चिह्न नहीं होता। मन के दो कार्य होते हैं—एक तो सहना और दूसरा करना। वह मन जो सहता है, व्यक्तित्व कहलाता है और उसकी तुलना प्लैटीनम के तार से की जा सकती है। पूर्ण कलाकार में व्यक्तित्व पूर्णतया निष्क्रिय होता है और किसी प्रकार के अनुभव का निषेध नहीं करता। बस, प्रौढ़ कलाकार अप्रौढ़ कलाकार से इस बात में भिन्न नहीं होता है कि उसका व्यक्तित्व अधिक प्रभूत होता है वरन् इस बात में कि उसका

व्यक्तित्व अधिक मुक्त रूप से विशिष्ट और विभिन्न भावों को नये रूपों में व्यवस्थित कर सकता है। इन आलोचकों में किसी कदर भिन्न आई० ए० रिचार्ड्ज़ है। वह कविता का मूल्य उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता से जाँचता है। उसका भरोसा शिराशास्त्र (न्यूरौलौजी) के भविष्य पर है और वह समझता है कि वह कविता का मूल्य वैज्ञानिक सूक्ष्मता से निश्चय कर सकता है। मन को वह शिराविषयक व्यवस्था अथवा उसकी आंशिक क्रियाशीलता मानता है। यदि हम शिराविषयक व्यवस्था को भली प्रकार समझ लें तो मन को भली प्रकार समझ लेंगे और हमको यह जानने की योग्यता आ जायगी कि कौन कविता शिराविषयक व्यवस्था के उपयुक्त है। मन के विभिन्न अनुरागों से समतोलन भङ्ग हो जाता है और जब वे अनुराग व्यवस्थित होकर एक-स्वर हो जाते हैं तो फिर मन में समतोलन आ जाता है। ऐसे असमतोलन और समतोलन बराबर होते रहते हैं। कविता का प्रयोजन यही है कि वह ऐसी ही एक-स्वर अवस्थाएँ पैदा करे, अनुरागों को ऐसा क्रम दे कि वे मन अथवा शिराविषयक व्यवस्था को चैन दें। उत्कृष्ट कविता का प्रभाव आत्मसम्पादन (सैल्फ-कम्प्लीशन) होता है।

भारतीय काव्य का उद्गम-स्थान वेद है, जैसे वह दूसरी विद्याओं का भी मूलस्रोत है। वेदमन्त्रों में व्यंग्यात्मक शैली और अलङ्कारों के बड़े उदात्त उदाहरण मिलते हैं। प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य का चित्रण चमत्कारयुक्त है। 'ऋग्वेद' में बहुत-सी सूक्तियाँ हैं जिनमें मनोरम कथोपकथन हैं। उपनिषदों में भी, चाहे वे दार्शनिक विचारों में निमग्न हैं, काव्यात्मक स्थलों की कमी नहीं है। ईस्वी-संवत् से कई सौ वर्ष पहले रामायण की रचना हो चुकी थी। 'रामायण' तो वस्तु, रूप और उद्देश्य के विचारों से काव्य ही है। उसमें जगह-जगह पर कल्पना की उड़ान प्रकृति-सौन्दर्य के वर्णन में देखी जाती है। 'महाभारत' भी दूसरी शताब्दी से पहले ही लिखी जा चुकी थी। 'महाभारत', काव्य की अपेक्षा अधिकतर धर्मशास्त्र है, फिर भी इससे बहुत से कवियों को प्रेरणा मिली है। 'दशरूप' में नाटक के लेखकों को सलाह दी गई है कि वे अपनी कथावस्तु 'रामायण' और 'महाभारत' से लें। 'महाभारत' से ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश में बहुत से अंश उद्धृत हुए हैं और कुछ 'रामायण' से भी। कहा जाता है कि पाणिनि ने भी 'पाताल-विजय' नामक महाकाव्य लिखा था और राजशेखर व्याकरणवेत्ता पाणिनि को 'जाम्बवतीजय' काव्य का प्रणेता बताता है। आख्यायिकाओं की रचना पतञ्जलि से पहले ही प्रचलित थी। पतञ्जलि आख्यायिकाओं की तीन रचनाओं—'वासवदत्ता', 'सुमनोतरा', और 'भैमरथी' का जिक्र करता है। वह यह भी बताता है कि कंस की मृत्यु और बालि के मानमर्दन के विषयों पर नाटकीय प्रदर्शन प्रचलित थे और एक स्थल पर नटों की स्त्रियों का उल्लेख है। 'महाभाष्य' में बीते हुए अनेक कवियों की रचनाओं में से अवतरण उपस्थित हैं। इस विवरण से स्पष्ट है कि ईसा के जन्म तक संस्कृत में उत्कृष्ट साहित्य की पर्याप्त रचना हो चुकी थी। कोई सन्देह नहीं कि इतनी बृहद् और सुन्दर रचना ने वैज्ञानिक और दार्शनिक गवेषणा को उत्तेजित कर दिया और काव्यशास्त्र तथा साहित्यिक

आलोचना का आविर्भाव किया। काव्य और काव्यविषयक विचारों को पहले से ही वेद का अङ्ग माना गया है। भरत मुनि 'नाटक-शास्त्र' के प्रारम्भ में ही लिखते हैं कि ब्रह्मा ने ऋक्, साम, यजु, और अथर्ववेद से क्रमशः पाठ्य, गीत, अभिनय और रसों को ग्रहण करके नाट्य-वेद का निर्माण किया।

जूनागढ़ में रुद्रदामन का एक शिलालेख है जिससे उस समय तक की साहित्यशास्त्र-विषयक प्रगति का पता चलता है। इसका समय लगभग १५० ईस्वी है। लेख की शैली से ज्ञात होता है कि लेखक उस समय के काव्यरचना के नियमों का पालन कर रहा है। काव्य का पद्य और गद्य में विभाजन उसकी चेतना में है। वह गुणों से भी अभिज्ञ है; स्फुट, मधुर, कान्त, और उदार के नाम लेता है। लेखक की दृष्टि में गद्य और पद्य दोनों का अलङ्कृत होना आवश्यक है। नासिक वाला शिलालेख भी जो कि जूनागढ़ वाले से कुछ अधिक पुराना है इसी आलोचनात्मक अवस्था का साक्षी है। यह प्रशस्ति हमें यह भी बताती है कि समुद्रगुप्त को बहुत से प्रेरक काव्यों की रचना के कारण कविराज की उपाधि मिली थी। 'निघण्टु' ने ऋग्वेद के कई वाक्यांश एकत्रित करके उनमें उपमा का प्रयोग दिखाया है। 'निरुक्त' में ऋग्वेद की एक उपमा में यह दोष दिखाया गया है कि उसमें उपमान, उपमेय से निम्न श्रेणी का है, जो नियमानुकूल नहीं है। पाणिनि से पहले ही बहुत से पारिभाषिक शब्द भाषा में जम गये थे। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' से भी यही स्पष्ट है कि उससे पहले कवितानिर्माण के सिद्धान्त निर्णय हो चुके थे। प्रत्येक सर्ग के अन्त में कोई अथवा बहुत से पद भिन्न छन्द में आते हैं। उसमें हाव और भाव जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है। 'नाट्यशास्त्र' जो ३०० ईस्वी के पहले ही लिखा जा चुका था रस सिद्धान्त, चार अलङ्कार और गुणों का पूरा विवरण देता है। सुबन्धु अपनी 'वासवदत्ता' में काव्यरचना, वक्रोक्ति और अलङ्कारों का उल्लेख करता है। इसमें सन्देह नहीं कि ६०० ईस्वी तक ऐसे साहित्य शास्त्रों का निर्माण हो चुका था जिनमें काव्य के सिद्धान्त और उसके रूपों का सन्तोषजनक निरूपण था। ६०० ईस्वी के पश्चात् लिखे हुए शास्त्रों में प्रसिद्ध ये हैं—भामह का 'काव्यालङ्कार', दण्डी का 'काव्यादर्श,' उद्भट का 'अलङ्कार-सारसंग्रह,' वामन का 'काव्यालङ्कारसूत्र, रुद्रट का 'काव्यालङ्कार', ध्वनिकार एवं आनन्दवर्धनाचार्य का 'ध्वन्यालोक,' राजशेखर की 'काव्यमीमांसा,' कुन्तक का 'वक्रोक्ति जीवित,' धनञ्जय का 'दशरूप,' मम्मट का 'काव्यप्रकाश,' रुय्यक का अलङ्कार-सर्वस्व,' विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण,' और जगन्नाथ का 'रसगङ्गाधर'। इनमें से कुछ तो सर्वाङ्गी हैं, जैसे 'साहित्यदर्पण' बहुत से काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण, काव्य-गुण और काव्यदोष जैसे विषयों में संलग्न हैं, कुछ नाट्यशास्त्र और रस-सिद्धान्त का विवरण देते हैं, बहुत से केवल अलङ्कारों की व्याख्या करते हैं, कुछ किन्हीं विशिष्ट काव्यात्मक सिद्धान्तों का विवरण देते हैं, कुछ का विषय केवल शब्द है, और कुछ केवल रससिद्धान्त परायण हैं।

यहाँ हम ऐतिहासिक रीति को छोड़कर काव्यशास्त्र की मुख्य समस्याएँ संक्षेप में निरूपित करते हैं और इस निरूपण में जो काव्यसमीक्षा के मानदण्ड व्यञ्जित होंगे, उन्हें स्पष्टतया कह देंगे ।

भारतीय विचार के अनुसार काव्यप्रयोजन आनन्द है । भरत मुनि कहते हैं कि मनुष्यों के विनोद के लिये नाट्यकला का उद्भव हुआ—'विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्-भविष्यति' । दुःखार्त मनुष्यों को नाट्य सामर्थ्य देता है और शोकार्त मनुष्यों को सांत्वना देता है । 'साहित्यदर्पण' ने काव्य के आनन्द को ब्रह्मास्वादसहोदर कहा है, जिसकी व्याख्या में पं० रामदहिन मिश्र लिखते हैं—"हम रजोगुण तथा तमोगुण के मलिन आवरण से विमुक्त चित्त में इस लोकोत्तर आनन्द का उपभोग करते हैं ।" 'रसगङ्गाधर' में भी कहा गया है कि काव्यास्वादन से अलौकिक आह्लाद की अनुभूति होती है । 'काव्यप्रकाश' में काव्य-प्रयोजन इस प्रकार वर्णित है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।

"यश की प्राप्ति, सम्पत्तिलाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का विनाश, तुरन्त ही उच्चकोटि के आनन्द का अनुभव और प्यारी स्त्री के समान मनभावन उपदेश देने के लिए काव्यग्रन्थ उपादेय है ।" इस मूलकारिका के विशदीकरण में ग्रन्थकार कहते हैं कि काव्य, शिक्षा और उपदेश का अपरोक्ष साधन नहीं है, वरन् परोक्ष । कवि उपदेश को आनन्दमय और आकर्षक बनाकर भावक को उसमें अनुरक्त कर देता है । काव्यप्रयोजन की इस समीक्षा में काव्यात्मक मानदण्ड, शुद्ध आनन्द और परोक्ष उपदेशकता उपलब्ध होते हैं । ये ही कलामीमांसा विषयक (एस्थैटिक) मानदण्ड पाश्चात्य-कलालोचक निर्दिष्ट करते हैं ।

कवि के लिए तीन बातों की आवश्यकता है—प्रतिभा, व्युत्पत्ति, और अभ्यास । ऐसा मत संस्कृत के अनेकों आचार्यों का है । प्रतिभा मानसिक शक्ति है जो पूर्वजन्मार्जित संस्कारों से प्राप्त होती है । इस शक्ति द्वारा कवि वस्तुओं को सौन्दर्य-निमग्न देखता है और उन्हें उपयुक्त भाषा में स्पष्ट रूप में चित्रित करता है । सौन्दर्य का विचित्र दर्शन और उसका स्पष्ट निवेदन, यही दो काव्यात्मक प्रतिभाव के गुण हैं । साहित्यसृष्टि इस शक्ति का कार्य है । व्युत्पत्ति, लोकशास्त्रादि के अवलोकन से प्राप्त निपुणता को कहते हैं । क्षेमेन्द्र ने 'कविकण्ठाभरण' में कवि को इन शास्त्रों का परिचय आवश्यक बताया है—न्याय, व्याकरण, भरतनाट्यशास्त्र, चाणक्यनीतिशास्त्र, वात्स्यायन कामशास्त्र, महाभारत, रामायण, मोक्षोपाय, आत्मज्ञान, धातुविद्या, वादशास्त्र, रत्नशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गजशास्त्र, अश्वशास्त्र, पुरुषलक्षण, द्यूत, इन्द्रजाल प्रकीर्णशास्त्र । व्युत्पत्ति, काव्य को विभूषित करती है और उसे व्यापकता प्रदान करती है । काव्यरचना में योग्यता के

साथ अनवरत प्रवृत्त होना अभ्यास है। अभ्यास से काव्य की वृद्धि होती है। जैसे पश्चिम में, वैसे ही यहाँ प्रतिभा और व्युत्पत्ति के आपेक्षिक महत्त्व पर बड़ा वाद-विवाद रहा है। कुछ आचार्यों की दृष्टि में प्रतिभा ही अकेली काव्यसृष्टि का कारण है। वामन ने प्रतिभा को कवित्वबीज कहा है। राजशेखर कहता है, कि वही शक्ति काव्य की केवल हेतु है। हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में लिखा है कि प्रतिभा ही कवियों के काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक हैं, उसके कारण नहीं—"प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणं, व्युत्पत्यभ्यासौ तस्या एवं संस्कारकारकौ न तु काव्यहेतुः।" 'रसगङ्गाधर' में भी यही कहा है—"तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।" यही प्रश्न ग्रीस में लॉन्जायनस के सामने था। वह किसी लेखक का मत उद्धृत करता है—"प्रतिभा जन्मजात है, शिक्षित नहीं; प्रतिभा की कृतिओं की एक ही कला है और वह है उसके साथ पैदा होना।" इसके खण्डन में पहले लॉन्जायनस प्रकृति का उदाहरण देता है। प्रकृति के आकस्मिक और वृहद् दृश्यों में अव्यवस्था मालूम होती है पर यह भ्रम है। यदि प्रकृति में नियम और व्यवस्था न हो तो सारा विश्व अस्तव्यस्त हो जाय। फिर वह डिमोस्थनीज़ के जीवन के विषय में यह मत उद्धृत करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ जीवन के के लिए समृद्धि है और दूसरी लगभग उतने महत्त्व की ही विवेक है। क्योंकि यदि दूसरी प्राप्त न हो तो पहिली का उपयोग नहीं हो सकता। ठीक यही बात साहित्य में लागू है। यहाँ समृद्धि के स्थान में प्रतिभा है और विवेक के स्थान में व्युत्पत्ति है। प्रतिभा प्रदान करती है और व्युत्पत्ति व्यवस्थित करती है। शेक्सपिअर ने प्रकृति (अर्थात् प्रतिभा) को कला (अर्थात् व्युत्पत्ति) से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उसका तर्क है कि जिन नियमों से हम कृतियों को व्यवस्थित करते हैं उन्हें हम पहले प्रकृति में देखते हैं और फिर उनके द्वारा अपनी कृतियों का सृजन करते हैं। कला का सर्वोत्कृष्ट मानदण्ड भी यही है कि कलाकृति बिल्कुल प्राकृतिक मालूम हो और उसमें कला की तनिक भी चेतना न हो। प्रतिभा का महत्त्व पश्चिम में सदा रहा है। बस, नवशास्त्रीय काल में और आधुनिक काल में व्युत्पत्ति को अधिक श्रेष्ठ है। कुछ गणितज्ञ आजकल प्रतिभा की यह परिभाषा करते हैं कि वह दो बटे पाँच प्रेरणा है और तीन बटे पाँच अर्थशून्य प्रलाप है। कुछ प्रतिभा को नौ बटे दस पसीना मानते हैं और कहते हैं कि वह अनन्त श्रम करने की क्षमता है। उन विश्लेषणों के अनुसार प्रतिभा व्युत्पत्ति ही मानी जा सकती है। यह वाद-विवाद अनन्त है और इसे सुलझाने के लिये हमारी सहायता को जर्मनी का आलोचनात्मक दर्शन आता है। मनुष्यों की चेतना, मन और प्रकृति की आपसी क्रिया और प्रतिक्रिया है। जिस किसी मनुष्य में अज्ञात कारणों से यह क्रिया और प्रतिक्रिया गहन और विस्तृत और स्पष्ट होती है उसी में प्रतिभा का आविर्भाव होता है। यदि ऐसा मनुष्य परिश्रम से दूसरों का अर्जित ज्ञान भी प्राप्त कर ले तो उसकी प्रतिभा और भी चमत्कृत हो जाती है।

यदि गूढ़ दृष्टि से देखा जाय तो काव्यतत्त्वों के निरूपण में प्राच्यालोचना अधिक मतभेद नहीं दिखाती। कविता प्रचलित भाषा के शब्दों का प्रयोग करती है; बस, अन्तर

इतना होता है कि उसमें शब्दचयन अकृत्रिम परन्तु विवेकपूर्ण और भावव्यञ्जक होता है। इस बात को 'श्रीकण्ठचरित' में यों वर्णित किया है—"सराहिये उस कवि चक्रवर्ती को जिसके इशारे पर शब्दों और अर्थों की सेना सामने कायदे से खड़ी हो जाती है।" कुछ प्राचीन आचार्यों ने कविता का आधार शब्द बताया है। उनका कहना है कि कवि का पहला प्रयास शब्द-उपस्थिति ही है। परन्तु यह निरर्थक बात है। शब्द को उसके अर्थ से अलग नहीं किया जा सकता और ज़्यादातर आचार्य शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य का आधार मानते हैं। भामह का कहना है—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यं।" वामन, मम्मट, और जगन्नाथ भी इसी मत के हैं। विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में वाक्य को कविता का आधार बताया है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यं"। छन्द को छः वेदाङ्गों में से एक माना है। उसका ज्ञान रचनाकार और भावक दोनों को आवश्यक है। गोकि स्मृति, शास्त्र, पुराणादि प्रायः छन्दोबद्ध हैं और वेद भी छन्दस् कहलाते हैं फिर भी छन्द को काव्य के लिये अनिवार्यतः आवश्यक सब साहित्यशास्त्रकारों ने नहीं माना। शैली के अनुसार काव्य तीन प्रकार का माना गया है—पद्यकाव्य, गद्यकाव्य और मिश्र या चम्पूकाव्य। जब गद्य-काव्य, काव्य है तो काव्य के लिये छन्द अनिवार्यतः आवश्यक नहीं माना जा सकता। रामनरेश त्रिपाठी छन्द को रस का सहायक कहते हैं। "मन्दक्रान्ता, द्रुतबिलम्बित, शिखरिणी, और मालिनी छन्द में शृङ्गार, शान्त और करुण रस अधिक मनोहर हो जाते हैं। भुजङ्ग-प्रयात, वंशस्थ, और शार्दूलविक्रीडित में वीर, रौद्र, और भयानक रस विशेष प्रभावोत्पादक हो जाते हैं। हिन्दी छन्दों में सवैया और बरवै में शृङ्गार, करुण, और शान्त रस, छप्पै में वीर, रौद्र, और भयानक रस; घनाक्षरी, दोहा, चौपाई, और सोरठा में प्रायः सभी रस उद्दीप्त हो जाते हैं। सवैया और बरवै में वीर रस का काव्य नीरस हो जायगा।" छन्द और काव्य के सम्बन्ध के विषय में तीन दृष्टियाँ सम्भव हैं। पहली दृष्टि से छन्द काव्य के लिये अनावश्यक है। काव्य भाव की विशेषता है और यदि भाव काव्यात्मक है तो चाहे उसकी अभिव्यक्ति गद्य में हो वह काव्य का सृजन करेगा। उलटे तरीके से इसे यों भी समझा जा सकता है कि यदि भाव काव्यात्मक नहीं है तो उसकी अभिव्यक्ति पद्य में भी काव्य का सृजन नहीं कर सकती। दूसरी दृष्टि से छन्द, काव्य के लिये अनिवार्यतः आवश्यक है। प्रत्येक पद्यात्मक रचना चाहे उसका भाव काव्यात्मक है या नहीं काव्य है। यह दोनों दृष्टियाँ इतनी ठीक नहीं जितनी कि तीसरी। छन्द काव्य के लिये अनिवार्यतः आवश्यक नहीं किन्तु छन्द काव्य का अवियोज्य सहचर है। जैसा हम कोलरिज के सम्बन्ध में पहले लिख चुके हैं, तीव्र मनोभाव स्वभावतः दुःखद होते हैं और जब मनुष्य किसी तीव्र भाव से अतिपीड़ित होता है तो स्वतः उसके दुःख के उद्गार सुस्वर हो जाते हैं। पीड़ा के कारण जागृत चेतना, जिसकी क्रियाशीलता उद्गारों को सुस्वर बनाने में प्रकट होती है, क्लेश को इस प्रकार सहने योग्य बना देती है। यह प्रकृति के आत्मरक्षण के नियमानुसार है। बस जहाँ तीव्र मनोवेगों की अभिव्यक्ति होगी, और काव्य के मनोवेग तीव्र होते हैं, वहीं अभिव्यक्ति सुस्वर हो जायगी। छन्द के नियम अवश्य बड़े कठोर हैं

और उनके परिपालन में अभिव्यक्ति कृत्रिम हो जाती है। इसी से आज कल छन्दःशास्त्रज्ञ पद्याभास अथवा वृत्तिगन्धि गद्य की ओर झुक रहे हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक अनुभव मौलिक है और किसी अनुभव की पुनरावृत्ति नहीं होती। इसी विचार से प्रत्येक अनुभव की मौलिक अभिव्यञ्जना होगी। पहले से नियत कोई छन्द उसकी अभिव्यञ्जना कर ही नहीं सकता, अगर करेगा तो अभिव्यञ्जना में वह झूठा हो जायगा। निष्कर्ष यह है कि काव्यात्मक अनुभव की लयमय अथवा छन्दोबद्ध अभिव्यञ्जना होगी, क्योंकि वह अनुभव स्वयं लयमय है और जहाँ तक उसी लय को अभिव्यक्त किया जाय वहाँ तक ही काव्य में सत्यता अथवा निष्कपटता आयेगी। भाषा और छन्द के अतिरिक्त प्राचीन साहित्यशास्त्रकारों ने काव्य के पाँच उपकरणों का अधिक वर्णन किया है। वे हैं रस, ध्वनि, रीति, गुण, और अलङ्कार। वक्रोक्ति भी महत्त्व पा गयी है, परन्तु उसे अलङ्कारों में समाविष्ट करने की प्रवृत्ति रही है। अधिकांश शास्त्रों में दोषों की ओर भी दृष्टि गई है।

रस और ध्वनि का निर्देश काव्य के अर्थ से है। रस को काव्य का जीवन कहा है और रसास्वादन ही काव्य के अध्ययन का परम ध्येय माना गया है। रस सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में किया। वहाँ वह नाटकविषयक है। नाटक और दूसरे पात्रों में स्थायीभावों का प्रदर्शन होता है और खेल देख कर दर्शक के हृदय में रस की अनुभूति होती है। इस स्थायीभाव के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से निष्पन्न होता है और व्यञ्जित होता है, स्पष्टतया नहीं बताया जाता। भरत ने रस की निष्पत्ति का कोई मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं दिया। उन्होंने आठ स्थायीभाव माने हैं और उनके अनुरूप आठ रस। पीछे से नवाँ रस शान्त और जोड़ा गया हैं। परन्तु इसका समावेश नाटक में नहीं हो सकता, क्योंकि नाटक का क्रिया व्यापार शब्दों और इङ्गितों द्वारा होता है। महाकाव्य में उसका समावेश हो सकता है, क्योंकि महाकाव्य एकान्त में अकेले पढ़ा जाता है। रुद्रट ने दसवाँ रस प्रेयान् शामिल कर दिया। वात्सल्य, लौल्य, भक्ति, और कार्पण्य जो और पीछे से शामिल किये गये, पहले आठों में ही समाविष्ट हैं। रस कलामीमांसाविषयक (एस्थैटिक) आनन्द की मानसिक अवस्था है। इस आनन्द की ब्रह्मानन्द से तुलना दी गई है और सविकल्पक होने के कारण ही वह ब्रह्मानन्द से नीचा पड़ता है। 'रसगङ्गाधर' में इसे चमत्कार कहा गया है और उसकी अनुभूति सहृदय को होती है। किस प्रकार चमत्कार की अनुभूति होती है, इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न ढङ्ग से की गई है। लोल्लट भट्ट का मत है कि रस राग इत्यादि में होता है। अभिनय में दर्शक इसे नट पर आरोपित करता है और इसी आरोपित रस की चेतना उसके आनन्द का कारण होती है। शङ्कक, रस को अनुमानात्मक मानता है। भाव, विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों सहित प्रदर्शित नाम के प्रेम के मनन से दर्शक को आनन्द की अनुभूति होती है। अभिनवगुप्त का विचार है कि प्रेम और दूसरे भाव पहले से ही दर्शक के मन में निहित हैं और विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों की उत्तेजना से जागृत होकर रस की अवस्था को पहुँचते हैं। हम दूसरे प्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं कि भाव कल्पनात्मक

मन का विषय बन कर रस में परिणत हो जाता है। यहाँ रसास्वादन अथवा चमत्कार काव्य समीक्षा का मानदण्ड सिद्ध होता है। इस मानदण्ड के निश्चय करने में प्राचीन आलोचना की सर्वोच्च विजय है और पाश्चात्य विचार इससे परे नहीं गया।

ध्वनि-सिद्धान्त रस सिद्धान्त का विस्तार है। उसका प्रतिपादक ध्वनिकार है। रस-सिद्धान्त नाटक सम्बन्धी था और उसकी दृष्टि में एक समस्त कृति थी। शब्दों और वाक्यों से, जिनमें काव्यात्मक चमत्कर हो, उसको कोई प्रयोजन नहीं था। यदि रस को ही काव्य की जान माना जाय, तो चमत्कार पूर्ण शब्दों और वाक्यों को काव्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उनसे कोई रस सिद्ध नहीं होता, वे रस की निष्पत्ति में सहायक अवश्य होते हैं। ध्वनिकार ने शब्द की ओर ही अधिक ध्यान दिया। जैसे शब्द से अर्थ का बोध होता है वैसे ही कविता के वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध होता है। शब्द पहले सीधे अर्थ के बोधक होते हैं। धीरे-धीरे व्यवहार में उनमें लक्षणा शक्ति आ जाती है जिससे वे साधारण से भिन्न और दूसरा वास्तविक अर्थ प्रकट करने लगते हैं। परन्तु रूढ़ि लक्षणा कविता में कोई विशेष चमक नहीं लाती; जब कवि ऐसे शब्दों का अपने प्रयोजन के लिये प्रयोग करता है तब वे काव्य में चमक लाते हैं। मैदान में बहुत-सी तलवारें आ गईं,' यहाँ हमें प्रयोजनवश तलवार का अर्थ तलवारबन्द सिपाही मानना पड़ता है। ऐसी ही व्यञ्जना उन शब्दों में होती है जिनके दो अर्थ होते हैं और ऐसी ही व्यञ्जना समस्त वाक्यों और कृतियों में होती है। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त ध्वनि अथवा व्यञ्जना शक्ति को ही कविता की जान समझता है, रीति को नहीं। व्यंग्यार्थ वस्तु हो सकता है, अलङ्कार हो सकता है और रस हो सकता है। 'ध्वन्यालोक' ने काव्य तीन प्रकार का माना है; ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र। जब वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारक हो, तो काव्य ध्वनिकाव्य है। जब व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी न हो, किन्तु अप्रधान रूप से प्रतीयमान हो तो काव्य गुणीभूतव्यंग्यकाव्य है। जिस काव्य में गुण और अलङ्कार हों परन्तु व्यंग्य न हो, उस काव्य को चित्रकाव्य कहते हैं। ध्वनिकाव्य उत्तम, गुणीभूतव्यंग्यकाव्य मध्यम, और चित्रकाव्य अवर कहा गया है। 'ध्वन्यालोक' का मत है कि काव्य उत्कट भावों की व्यञ्जना है। जब वाल्मीकि प्रेमी क्रौञ्च की पीड़ा से अति प्रभावित हुआ, तो उसकी कल्पना जागरित हुई और उसमें श्लोकत्त्व आया, 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।' ध्वनि-सिद्धान्त शब्दों और वाक्यों तक व्यञ्जकता बढ़ाने में रस सिद्धान्त से अधिक श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता है। कारण यह है कि शब्द और वाक्य तभी काव्यात्मक होंगे जब वे प्रसङ्गवश किसी काव्यात्मक घटना का दर्शन देंगे और उस दशा में वे भी पूर्ण कृति की बराबरी करेंगे। रस सिद्धान्त भी नाटक से आगे बढ़कर सब काव्यरूपों पर लागू है। रस-व्यञ्जना ही काव्य की विशेषता है और यहाँ तक ध्वनिसिद्धान्त कलामीमांसाविषयक तथ्य को पहुँच गया।

रीति का आधुनिक नाम शैली है। अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये विशेष ढङ्ग के पदों का प्रयोग करना रीति है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में गोकि नाट्योपयोगी प्रवृत्तियों और

वृत्तियों का बड़ा विस्तृत वर्णन है, रीतियों का वर्णन उसमें नहीं मिलता। रीति का पहला प्रतिपादक भामह है। उसने दो रीतियों का उल्लेख किया है—वैदर्भी और गौडीय। वैदर्भी रीति की विशेषताएँ सरल शब्द और सरस अर्थ थीं; और गौडीय रीति की विशेषताएँ अलङ्कारों की झङ्कार, अक्षरों का आडम्बर, तथा बन्ध की गाढ़ता थीं। परम्परानुसार वैदर्भी रीति प्रशंसनीय और गौडीय रीति निन्दनीय थी। परन्तु भामह ने काव्य के गुण अलङ्कारवत्ता, अग्राम्यत्व, अर्थ्यत्व, न्याय्यत्व, और अनाकुलत्व निश्चित किये और कहा कि यदि गौडीय रीति के काव्य में ये गुण विद्यमान हों तो उसे निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। दण्डी ने भी वैदर्भी और गौडीय, इन्हीं दो रीतियों का वर्णन किया है। भरत मुनि ने काव्य के दस गुण दिये थे—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति, और समाधि। दण्डी ने इन दसों गुणों को वैदर्भी रीति का प्राण कहा है। गौडीय रीति में इन दसों गुणों में से अर्थव्यक्ति 'औदार्य तथा समाधि, तीन गुण जैसे वैदर्भी रीति में विद्यमान् रहते हैं वैसे ही गौडीय रीति में विद्यमान् रहते हैं; परन्तु बाकी सातों गुणों के गौडीय रीति में उनके विपर्यय विद्यमान् रहते हैं। दण्डी ने परम्परा के अनुसार वैदर्भी रीति को उत्तम और गौडीय रीति को निकृष्ट कहा है। दण्डी के रीति सिद्धान्त को वामन ने अधिक पूर्णता दी। वामन ने निर्भीकता से कहा कि रीति काव्य की आत्मा है, कि रीति विशेष प्रकार का पदस्थापन है, कि पद-स्थापना की विशेषता गुण है (रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो 'गुणात्मा')। वामन ने गुण दो प्रकार के माने हैं—शब्दगुण और अर्थगुण। शब्दगुण बन्ध के गुण हैं। अर्थगुण नितान्त व्यापक हैं और ये रस को भी अपने में शामिल करते हैं। अर्थ की अपेक्षा से ओज, माधुर्य, समाधि और कान्ति में काव्य के सब अङ्ग आ जाते हैं। ओज में अर्थ की प्रौढ़ता आती है; माधुर्य में अर्थ की विचित्रता और कल्पना का चमत्कार; समाधि में नवीन अर्थ की दृष्टि; और कान्ति में रस की दीप्ति। वामन ने अर्थगुण अधिक महत्त्व का माना है। अर्थगुण प्रधान होने के कारण वैदर्भी रीति, रीतियों में श्रेष्ठ है; क्योंकि वैदर्भी रीति में गुणों की विशदता और गुण की समग्रता रहती है, कवियों को उसी का आश्रय लेना उचित है। गौडीय रीति में दो ही गुण होते हैं—ओज और कान्ति। वामन एक तीसरी रीति भी बताता है। वह है पाञ्चाली जिसमें माधुर्य्य और सौकुमार्य गुण प्रधान होते हैं। वामन का मत है कि किसी रीति में गुणों का विपर्यय नहीं होता; हाँ, गुणों को अधिक अथवा न्यून संख्या हो सकती है। रीति के विवेचन में विश्वनाथ ने पदों के सङ्गठन पर अधिक जोर दिया है। जैसे शरीर में अङ्गों का सङ्गठन होता है वैसे ही काव्यशरीर में शब्दों और अङ्गों का सङ्गठन होता है। शब्द विषय, भाव और संस्कार के अनुसार छाँटा जाय; और जिस स्थान में उसका प्रयोग किया जाय, उस स्थान में वह अपना वैभव दिखाये। शब्द की झङ्कार का भी पूरा ख्याल रखा जाय। मम्मट ने रीति की जगह वृत्ति का प्रयोग किया और शब्द की झङ्कार के विचार से उसने तीन प्रकार की वृत्तियाँ निर्दिष्ट कीं; उपनागरिका, कोमला और परुषा। रीति

अथवा वृत्ति को प्राचीन आलोचना ने अभिव्यञ्जना से अलग सा ही माना है; उसे कोई ऐसी चीज माना है, जिसे कृति में जोड़ सकते हैं अथवा कृति से उसे घटा सकते हैं, वह कोई वाह्य उपकरण है जिसके उपयोग से कृति में सुन्दरता ला सकते हैं। रीति यथार्थ का व्यक्तिगत दर्शन है और कवि की कृति से अलग उसे अध्ययन का विषय बनाना भूल है।

रस काव्यशरीर का प्राण है और गुण रस का धर्म है। गुण रस में रहता है और वह काव्य को ऊँचा उठा लेता है। जगन्नाथ का मत है कि गुण रस में ही नहीं रहता वरन् शब्द और अर्थ में भी। यह विचार ठीक नहीं। वर्णरचना को माधुर्य, ओज और प्रसाद रस देता है। इन गुणों द्वारा रस व्यक्त होता है। जिस रस का जो गुण धर्म है और उसे व्यक्त करने वाले जो वर्ण हैं, यदि हम उन्हें लेकर रसरहित रचना में प्रयोग करें तो गुण नहीं आयगा। गुण को भोजराज ने अलङ्कार से अधिक आवश्यक माना है, क्योंकि यदि अलङ्कृत काव्य में गुण न हो तो वह रुचिकर नहीं होगा और यदि गुणसम्पन्न काव्य में अलङ्कार न हो तो वह रुचिकर हो सकता है। परन्तु इस प्रकार का विश्लेषण, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, उपकरणों के शिल्पविषयक प्रयोग का अन्दाजा देता है। रस के साथ ही रीति, गुण और अलङ्कार सब उद्भूत होते हैं। गुणों की संख्या के विषय में आलोचकों का मतभेद हैं; कोई दस, कोई उन्नीस, कोई बीस, और कोई चौबीस मानता है। परन्तु 'काव्यप्रकाश' में तीन रस ही माने गये हैं और बाकी सब की निःसारता दिखा दी है। 'साहित्यदर्पण' ने भी तीन ही गुण माने हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। माधुर्य, शृङ्गार रस का विशेष धर्म है; और विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण में अपनी पराकाष्ठा को पहुँचता है। माधुर्य में अपने वर्ग के पाँचवें अक्षर अपने वर्ग के ही दूसरे अक्षरों से अधिक मिले-जुले होते हैं और समास उनमें नाममात्र ही होता है। ओज, रौद्र, वीर और अद्भुत रसों का धर्म है। ओज में समास की अधिकता और कटु अक्षरों, विशेषतया ट, ठ, ड, और ढ, की बहुतायत रहती है। प्रसाद सब रसों का धर्म है। जहाँ शब्द सुनते ही अर्थ समझ में आ जाय, वहीं उसकी सत्ता होती है। प्रसाद में शब्द बड़े सरल और सुबोध होते हैं।

विश्वनाथ ने कहा है, "शब्द और अर्थ के जो शोभातिशायी अर्थात् सौन्दर्य की विभूति के बढ़ाने वाले धर्म हैं वे ही अलङ्कार है।" कटक, कुण्डल की तरह अलङ्कार रस के उत्कर्ष-विधायक हैं। परन्तु यह उपमा बिल्कुल ठीक नहीं है। कटक और कुण्डल को शरीर से पृथक् कर सकते हैं। परन्तु अलङ्कार को काव्य से पृथक् नहीं कर सकते। अलङ्कार काव्य के अङ्गभूत होकर उसकी शोभा बढ़ाते हैं। इसे इस तरह समझ सकते हैं। काव्य का प्राण रस है। रस शब्दार्थगत है। शब्दार्थ की शोभा बढ़ाना रस और काव्य की शोभा बढ़ाना है। अलङ्कार तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप में आने वाले, जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि; वाक्य वक्रता के रूप में आने वाले जैसे व्याजस्तुति, समासोक्ति आदि; वर्णविन्यास के रूप में आने वाले, जैसे अनुप्रास आदि। अलङ्कार के उन्नायक भामह और उद्भट हैं और रुद्रट तथा प्रतीहारेन्दुराज उनके अनुयायी हैं। ये लोग रसों से अनभिज्ञ न थे। भामह कहता है कि महाकाव्य में रस होने चाहिए।

उद्भट रसवत की परिभाषा में स्थायीभाव, विभाव, और सञ्चारी भावों का उल्लेख करता है। दण्डी भी रसवत और अर्जस्वी की परिभाषा करता है। परन्तु इन आचार्यों को अलङ्कार ही काव्य के महत्त्वपूर्ण अङ्ग मालूम होते थे और रसों को अलङ्कारों की अपेक्षा निम्नपदस्थ समझते थे। भामह और दण्डी व्यंग्यार्थ से अभिज्ञ थे, परन्तु इस सिद्धान्त से अभिज्ञ नहीं थे कि प्रतीयमान अर्थ काव्य का प्राण होता है। प्रतीयमान-अर्थ का सन्निवेश वे अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, और पर्यायोक्ति इन अलङ्कारों में करते थे। भामह और दण्डी वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को अधिक महत्त्व का समझते थे। उनकी भावना थी कि यह दो अलङ्कार और सब अलङ्कारों की जड़ में हैं। अलङ्कार को भामह और दण्डी का दिया हुआ महत्त्व बहुत दिनों तक चलता रहा और मम्मट ने भी, चाहे वह ध्वन्यालोक का अनुयायी था, अपने ग्रन्थ में अलङ्कार को बड़ा विस्तृत स्थान दिया।

वक्रोक्ति कई अर्थों में प्रयुक्त है; आनन्द देने वाली उक्ति, क्रीड़ालाप या परिहास-जल्पित और अस्वभावोक्ति। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक का वक्रोक्ति से अभिप्राय भणित-भङ्गी अर्थात् कहने के निराले ढङ्ग से है। वक्रोक्ति भाषण का वह विचित्र ढङ्ग है जो साधारण वास्तविक ढङ्ग से भिन्न होता है। इसका आधार प्रायः श्लेष होता है। कुन्तक वक्रोक्ति को कविता का प्राण मानता है, 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्। उसका कहना है :—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

"सहित अर्थात् मिलित शब्द और अर्थ काव्यमर्मज्ञों के आह्लादजनक और वक्रतामय कवि व्यापार से पूर्ण रचना, बन्ध में विन्दरत हों तभी काव्य हो सकता है।" वक्रोक्ति का काव्य की दो विशेषताओं पर जोर है कि कविता में, गोकि शब्द साधारण व्यवहार के होते हैं, शब्दों की छाँट साधारण बोली की छाँट से भिन्न होती है, कि वक्रोक्ति में वस्तुओं और शब्दों का विन्यास ऐसा होता है, जो साधारण व्यवहारव्यस्त मनुष्यों की पहुँच से बाहर होता है। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह ने की है। भामह का कहना है कि वक्रोक्ति सब अलङ्कारों को सुशोभित करती है। परन्तु वक्रोक्ति को व्यापक साहित्यिक रूप में विकसित करना कुन्तक ही की विशेषता है। वास्तव में वक्रोक्ति अलङ्कार मत की एक शाखा है और उसका स्वतन्त्र प्रतिपादन अनावश्यक है।

काव्य का अदोष होना जरूरी है। दोष वही है जिससे मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो। परम्परा से शब्द में भी अभिप्रेतार्थ निहित माना गया है; वाच्यार्थ की उत्कर्षता के अभिप्राय से अर्थ मुख्य हो जाता है; जब रस भाव आदि में चमत्कार अभिप्रेत होता है, तो, रस भाव आदि मुख्यार्थ हो जाते हैं। अतः काव्य में तीन प्रकार के दोष हो सकते हैं; शब्द-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष। दोष त्याज्य हैं क्योंकि इनसे मुख्यार्थ की अविलम्ब प्रतीति में बाधा पड़ती है। ऐसे शब्द जो सुनने में कटु हों, जो व्याकरण के नियमों के विरुद्ध हों, असमर्थ हों, अप्रयुक्त हों, अश्लील हों, क्लिष्ट हों, हतवृत्त हों, भग्नक्रम हों,

तथा प्रसिद्धि त्याग हों, शब्द-दोष लाते हैं। अपुष्ट, व्याहत, कष्टार्थ, पुनरुक्त, दुःक्रम, ग्राम्य, निर्हेतु, प्रसिद्धि-विरुद्ध, विद्याविरुद्ध, अनवीकृत, साकांक्ष, अपदयुक्त, सहचर-भिन्न, प्रकाशित विरुद्ध, निर्मुक्तपुनरुक्त और अश्लील—ये अर्थ-दोष हैं। रस का शब्दतः उल्लेख करना, विभाव और अनुभाव की कष्ट-कल्पना, वर्णनीय रस के विरोधी रस की सामग्री का वर्णन, रस की पुनः-पुनः दीप्ति, प्रस्तुत रस को छोड़ कर अप्रस्तुत रस का विस्तार, प्रधान रस को छोड़ कर दूसरे रस का विस्तृत वर्णन, प्रतिपाद्य रस की विस्मृति, असङ्गत रस का वर्णन और नायक की प्रकृति के विपरीत नायक का वर्णन—इनसे रस-दोष आता है।

काव्य के प्राचीन सिद्धान्तों का यह संक्षिप्त निरूपण है। इन्हीं सिद्धान्तों से काव्य की समीक्षा होती थी। जैसा ढङ्ग प्राचीन ग्रीस और रोम में था, वही भारत में भी था। पश्चिम में अलङ्कारशास्त्रों की भरमार थी। वहाँ कवियों और लेखकों की अलङ्कारों और काव्यगुणों के निदर्शनार्थ उद्धृत किया जाता था। कृतियों अथवा लेखकों की अलग से किसी दूसरी समग्र कृति में परीक्षा नहीं की जाती थी। यही प्रणाली संस्कृत आलोचना की थी। अलङ्कारशास्त्रकार जिस कवि को श्रेष्ठ समझता था उससे काव्यगुणों के स्पष्टी-करण में अवतरण देता था और जिस कवि को अश्रेष्ठ समझता था उससे अवतरण लेकर दोषों का स्पष्टीकरण करता था। कृतियों अथवा लेखकों पर स्वतन्त्र आलोचनात्मक लेख लिखने की चाल संस्कृत में भी नहीं थी। प्रसिद्ध कवियों की स्तुति में दो-एक श्लोकबद्ध उक्तियाँ ही मूर्त्तालोचना के उदाहरण हैं।

हिन्दी में आलोचना गुणदोष-विवेचन के रूप में प्रकट हुई। बद्रीनारायण चौधरी ने 'संयोगिता स्वयंवर' के दोषों का बड़ी बारीकी से उद्घाटन किया। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पहले पहल एक स्वतन्त्र आलोचनात्मक ग्रन्थ 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' लिखा। यह पुस्तक ड्राइडन के अनुवादविषयक आलोचनात्मक लेखों की बराबरी नहीं कर सकती। यह भाषा की त्रुटियाँ और मूलभाव के विपर्यय बताने तक ही सीमित है। द्विवेदी जी की दूसरी पुस्तकों में भी गुणदोषों की चर्चा ही है। मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थ ने आलोचना को तुलनात्मक वृत्ति दी। देव और विहारी की तुलनात्मक परीक्षा से पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र, और लाला भगवानदीन उत्तेजित हुए; जिन्होंने बड़ी विद्वत्ता से देव और विहारी के बड़प्पन के प्रश्न की समीक्षा की। ये सब आलोचक रूढ़ि के अनुगामी थे। कवियों की विशेषताओं के अन्वेषण और उनकी अन्तः प्रकृति के विश्लेषण की ओर उनका ध्यान नहीं गया। अब हिन्दी का महत्त्व बढ़ने के कारण आलोचकों की दृष्टि इस ओर जा रही है। रामचन्द्र शुक्ल का 'तुलसीदास,' डॉ० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' और डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का 'सूरदास' उदाहरणीय हैं। ऐतिहासिक कालों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके उनकी विशेषताएँ स्पष्ट करने का कार्य भी होने लगा है। इस दिशा में भी डॉक्ट्रेट के प्रबन्धों के रूप में पुस्तकें निकल रही हैं, जैसे डॉ० पीताम्बर की 'हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा', डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०–१९००)', और डॉ० श्रीकृष्ण लाल की 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास

(१९००–१९२५)।' आलोचना का विषय उन सिद्धान्तों की समीक्षा और प्रतिपादन भी है जिनसे काव्यरचना की सिद्धि होती है। इस विषय में हिन्दी की आलोचना मुख्यतः बाहर का सहारा लेती है। आलोचक या तो संस्कृत अलङ्कारशास्त्रों की या पश्चिम के आलोनात्मक सिद्धान्तों की व्याख्या कर देते हैं और ऐसे सिद्धान्तों के नेतृत्व में हिन्दी साहित्य की आलोचना करते हैं। कभी-कभी वे पश्चिम के सिद्धान्तों से संस्कृत के सिद्धान्तों का साहचर्य दिखा देते हैं। इस दिशा में श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, रामदहिन मिश्र, नगेन्द्र, नलिनविलोचन शर्मा, और बलदेव उपाध्याय का प्रयास उल्लेखनीय है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की हिन्दी साहित्य की समीक्षा भारतीय इतिहास और संस्कृति से प्रेरित है।

प्राच्य आलोचना में काव्य समीक्षा का सर्वोच्च मानदण्ड रसोत्पादन है। रस भाव से निष्पन्न होता है जब भाव कल्पनात्मक मनन का विषय बन जाता है। भाव की आधारशिला व पृष्ठभूमि, जो मानव जीवन और प्रकृति है, पर संस्कृत आलोचकों का कम ध्यान गया है। जीवन और प्रकृति की किस विशेषता से साहित्यिक गाम्भीर्य, उदात्तता और व्यापकता आती है, इसकी समीक्षा पाश्चात्य साहित्यिक आलोचना में भी हाल ही की है। आधुनिककाल में साहित्यिक आलोचना को जीवन और अस्तित्व की दार्शनिक आलोचना से सम्बन्धित किया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले अर्द्ध के उपन्यासों में विकासवादी सिद्धान्त के प्रकाश में जीवन का अध्ययन किया गया है। इस शताब्दी के शुरू के नाटकों में रचनात्मक विकास के सिद्धान्त को जीवन से उपयुक्त कर उसका आनन्दमय और शक्तिशाली सम्भाव्य दिखाया गया है और अब कविता में अनेकान्तिक सिद्धान्त से जीवन की व्याख्या की जा रही है। आलोचना भी इन सिद्धान्तों की और उनकी जीवन सम्बन्धी उपयुक्तता की समीक्षा करती है। प्राचीन आलोचना, पाश्चात्य और प्राच्य दोनों ही, अधिकांश में कलापक्ष लेती है, भावपक्ष बहुत कम लेती है; और प्राच्य आलोचना तो ऐसी आलोचना को छोड़कर जो पाश्चात्य आलोचना से प्रभावित है अभी तक अलङ्कारशास्त्र-विषयक चली जा रही है। इसका एक कारण तो प्राच्य आलोचना का रस-सिद्धान्त से शुरू होना मालूम होता है। रस-सिद्धान्त साहित्य की सृष्टि और उसके प्रयोजन के मूलतत्त्व तक पहुंच जाता है और उसमें साहित्य के कलापक्ष और भावपक्ष दोनों का पूर्ण समन्वय है। परन्तु, जबकि कलापक्ष का विश्लेषण ध्वनि, रीति, गुण, और अलङ्कार विचारों में आ जाता है, भावपक्ष का विश्लेषण छूट सा ही जाता है। इस छूट का कारण यह हो सकता है कि यहाँ रचनाओं और लेखकों पर स्वतन्त्र किताबें लिखने की प्रथा न थी। रचनाओं की विषयवस्तु की समीक्षा भाष्यकारों और टीकाकारों के लिये छोड़ दी जाती थी। दूसरा कारण यह मालूम होता है कि आधुनिक ज्ञान की दशा जो योरुप में सोलहवीं और सत्तरहवीं शताब्दियों में थी, वह हमारे देश में उन्नीसवीं शताब्दी में हुई। दार्शनिक विचारशीलता की जागृति, वैज्ञानिक प्रगति का अध्ययन और इनके और प्रजातन्त्रवाद के कारण व्यक्ति की चेतना—इधर ये हाल ही की बातें हैं।

फलतः जैसे मध्यकालीन पश्चिम में विचारधारा सामूहिक थी वैसे ही यहाँ थी। मनुष्य जीवन के सब क्षेत्रों में रूढ़ियों का दास था। साहित्यकार भी रचना को रीति, गुण, अलङ्कार और निर्दोषता का यान्त्रिक व्यापार समझता था। रीति काव्य का प्राधान्य इस बात का सबूत है। सार यह है कि संस्कृत के प्राचीन आलोचनात्मक मानदण्ड अभिव्यञ्जना सम्बन्धी थे और उन्हें हम एस्थैटिक मानते हैं और हिन्दी के आलोचनात्मक मानदण्ड कुछ समय पहले तक ज्यादातर शास्त्रीय थे क्योंकि वे प्राचीन अलङ्कारशास्त्रों का अवलम्बन लेते थे। हाल में प्रगतिवादी आलोचक साहित्य की विषयवस्तु की समीक्षा की ओर पूरी तरह से झुके हैं।

पाश्चात्य आलोचना, जिसका दिग्दर्शन हम प्राच्य आलोचना से ऊपर दे चुके हैं, के मानदण्डों का साधारणीकरण करने पर हमें तीन वर्ग के मानदण्ड मिलते हैं—शास्त्रीय, कलामीमांसा-विषयक और विषयवस्तुविषयक। अगले भागों में हम इन्हीं तीन प्रकार के मानदण्डों और उनके आधारभूत सिद्धान्तों की परीक्षा करेंगे।

२

प्रतिभा अपने प्रति विस्मय भाव ही जागृत नहीं करती, वरन् मनुष्यों को अनुगमन के लिए विवश करती है। होमर, एसकीलीज़, सौफोल्कीज़, वर्जिल, डाण्टे, शेक्सपिअर, मिल्टन, गटे, और इब्सन की कृतियाँ इतनी उच्चकोटि की है कि पीछे से आने वाले लेखक अपने क्षेत्रों में इन्हीं कृतियों का ठीक-ठीक अनुकरण करने से सन्तुष्ट रहे हैं। जैसा ऊपर कहे हुए नामों से प्रगट होता है; प्रतिभा का आविर्भाव किसी विशिष्ट देश अथवा काल ने बद्ध नहीं है। फिर भी पुनरुत्थान काल में और बहुत वर्षों तक उसके पश्चात् भी यहा विश्वास साधारण रूप से प्रचलित था कि प्रतिभा प्राचीन ग्रीस और रोम ही की विशेषता थी। जीवन के दूसरे क्षेत्रों के सदृश साहित्य में भी यह माना जाता था कि उनकी रचनाओं का मुकाबिला करना बाद के रचयिताओं के लिए असम्भव था, विशेषतया महाकाव्य या नाटक, भाषणकला, कुत्सन (सैटायर) और ग्राम्यगीतों में। काव्यात्मक विधान में वे चरम सीमा को पहुँचे हुए समझे जाते थे। आधुनिक लेखक तभी सच्चे साहित्यकार कहे जाते थे, जब वे प्राचीन कृतियों का अनुकरण करते थे अथवा उनके अनुरूप लिखते थे। इस प्रकार पुनरुत्थान ने उस शास्त्रीय मत की स्थापना की जिसका समर्थन आलोचकों ने निरन्तर किया और जिसके नियमों का पालन कई शताब्दियों तक लेखकों ने बड़े उत्साह से किया।

शास्त्रीय मत के प्रति दृढ़ श्रद्धा का एक व्यवहित कारण था। वह था मध्यकालीन साहित्य और साहित्यकारों की उपेक्षा। यह उपेक्षा कभी-कभी बुरी घृणा का रूप धारण कर लेती थी और आलोचना के लिए यह बड़े दुर्भाग्य की बात साबित हुई। मध्यकाल अपने ढङ्ग में बड़ा महत्त्वपूर्ण था। सेण्ट्सबरी भिन्न-भिन्न युगों के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। यूनानी विचार शैली के सैद्धान्तिक और दार्शनिक होने के

कारण यूनानी साहित्य का विशिष्ट गुण घनीभूत हो गया है, परन्तु उसका घेरा संकुचित और उसका रूप स्थिर हो गया है। रोम के साहित्य को श्रेष्ठता न पाने के दो कारण थे; एक तो उनकी यूनानी साहित्य का अनुकरण करने की वृत्ति और दूसरा उनकी प्रतिभा का व्यवहार सिद्ध होना। आधुनिक साहित्य आवश्यकता से अधिक अध्ययनशील है, उस पर पुस्तकालय और मुद्रित पृष्ठ का दृढ़ाग्रह है, वह समझे जाने के लिए असाधारण बुद्धि और परिश्रम चाहता है। इनके अतिरिक्त मध्यकालीन साहित्य एकदम ताजा और मौलिक है। मध्यकालीन लेखक किसी विशिष्ट मत अथवा वर्ग का होता हुआ भी नियन्त्रण के अन्दर लिखना पसन्द नहीं करता। उसकी कल्पना स्वेच्छानुसार भ्रमण करती है। अपनी मूलप्रवृत्ति के अनुसार क्रियाशील होने के फलस्वरूप उसने संसार के साहित्य-राशि में वृद्धि की। उसने कथानक की रचना की, जिसके अलौकिकता और प्रेमावेश दो मुख्य प्रेरक थे। उसने रोमांस की रचना की, जिसमें लेखक का विषय धर्म से लेकर हिरन के शिकार तक और इतिहास से लेकर प्रेम तक कुछ भी हो सकता था; जिसमें लेखक न कृत्य की, न संकलन की और न घटनीयता की परवाह करता था। उसने ग्राम्यगीत और छोटी-छोटी कहानियों की रचना की। उसने धार्मिक नाटक की रचना की, जिसमें न वस्तु-सङ्कलन था, क्योंकि उसका विषय मनुष्य जाति का आदि से लेकर अन्त तक का समस्त इतिहास था, और न काल-सङ्कलन और न स्थल-सङ्कलन था। इन सब रचनाओं के रूप में मध्यकाल ने आलोचनात्मक विभिन्नताओं की एक नई गणनारीति प्रदान की। यदि पुनरुत्थान का आलोचक अरिस्टॉटल, हौरेस, क्विण्टीलियन और लॉन्जायनस के ज्ञान के साथ-साथ मध्यकाल के सञ्चित साहित्य का उपयोग करता तो वह आलोचना को एक ऐसा निर्देश देने में सफल होता जिससे साहित्य-सृष्टि में सच्ची प्रगति सम्भव होती। परन्तु पुनरुत्थान का धर्म प्रोटैस्टैण्ट था, उनकी अध्यात्मविद्या स्वतन्त्र थी और उनकी राजनीति प्रजातन्त्रवादी थी; और मध्यकाल का धर्म कैथलिक था, उनकी तत्वविद्या आडम्बरप्रिय थी, और उनकी राजनीति शिष्टजनसत्तात्मक थी। स्वभावतः पुनरुत्थान ने मध्यकाल की उपेक्षा की और इसी कारण साहित्य क्षेत्र में सब कुछ होते हुए भी उसने प्राचीन ग्रीस और रोम का नेतृत्व स्वीकार कर प्रगति की घड़ी को एक हज़ार वर्ष पीछे हटा दिया। यदि पुनरुत्थान का आलोचक मध्यकाल की उपेक्षा न रता और उस काल के साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन करता तो वह साहित्य को तब ही उस दशा में पा सकता था जो दशा उसकी उन्नीसवीं शताब्दी में थी। वह उत्कृष्ट साहित्य जो पुनरुत्थान और नव शास्त्रीय काल में लिखा गया उन समयों के नियमों के विरुद्ध लिखा गया था। साधारणतः लेखकों ने बड़ी नम्रता से उन नियमों को ग्रहण किया जिनका आविष्कार अरिस्टॉटल ने किया था और जिनकी व्याख्या उसके इटलीवाले पुनरुत्थान के आलोचकों ने की थी; और उन नियमों को भी ग्रहण किया जिन्हें अरिस्टॉटल के आधार पर हौरेस ने परिभाषित किया था।

शास्त्रीय वृत्ति का विकास तीन कारणों से हुआ—मानववाद अथवा प्राचीन

उत्कृष्ट कृतियों का अनुकरण, अरिस्टॉटलवाद अथवा अरिस्टॉटल की 'पोइटिक्स' का प्रभाव और तर्कप्राधान्यवाद अथवा तर्कप्रमाण का शासन। मानववाद ग्रीस और रोम की सम्पन्न मानवता का अध्ययन था, इस उद्देश्य से कि मानववृत्ति को फिर से उन शोभाओं से सुसज्जित किया जाय जो प्राचीन युग के मान का कारण थीं। मानववाद चार अवस्थाओं में से निकला। पहली अवस्था में प्राचीन रचनाओं की खोज और उनका संग्रह किया गया; दूसरी अवस्था में इकट्ठी की गई रचनाओं का वर्गीकरण और उनका अनुवाद किया गया; तीसरी अवस्था में ऐसी एकैडैमीज़ की स्थापना हुई जिनमें प्राचीन रचनाओं का अध्ययन हुआ, जिनमें उस नवीन वृत्ति पर व्याख्यान हुए जिसका जागरण प्राचीन रचनाओं के अध्ययन द्वारा हुआ था—उस वृत्ति पर जिसके द्वारा मनुष्य को अपने व्यक्तिगत मूल्य की चेतना हुई और जिसके द्वारा मध्यकालीन शून्यता और स्वमताभिमान से मुक्ति पाकर उसने जीवन और प्रकृति के रहस्यों को नये ढङ्ग से समझा। चौथी अवस्था में उस काव्यमीमांसा विषयक और वृत्यात्मक पाण्डित्य का अभ्यास हुआ जिसकी बुनियाद प्राचीन रचनाओं के अध्ययन ने डाली। प्राचीन रचनाओं के गम्भीर अभ्ययन से ही शास्त्रीय अनुकरण की परम्परा चल पड़ी और इस परम्परा ने साहित्यालोचन को कई तरह प्रभावित किया। पहला प्रभाव यह था कि प्राचीन रचनाओं के अनुकरण ने आलोचकों का ध्यान कृति के वाह्य रूप के अध्ययन की ओर आकर्षित किया। अङ्ग-संस्थापन, आकृतिक ऐक्य, शाब्दिक चमत्कार, पदविन्यास की पटुता, और ऐसी शब्द-योजना जिससे अर्थ व्यञ्जित हो—ये सब बातें अपने ही हेतु अध्ययन योग्य बन गईं। विडा ने ध्वन्यनुकरण के नियमों का विधान किया; टौलौमी ने प्राचीन छन्दों की उपयुक्तता का अध्ययन किया; कैस्टलवीट्रो ने औचित्य और रङ्गमञ्चीय सत्याभास के नियमों की स्थापना की, तथा काल और देश सङ्कलन पर इतना जोर दिया कि उन्हें वस्तु-सङ्कलन से भी उच्चपदस्थ कर दिया। दूसरा प्रभाव यह था कि प्राचीन रचनाओं के अनुकरण ने पुनरुत्थान की कविता को असंस्कृत विशेषता दे दी। इसका कारण प्रतिमापूजक यूनानियों के देवताओं का आवाहन था, जिसकी आवश्यकता यों पड़ती थी कि ईसाई ईश्वर का आवाहन कविता में पावित्र्यदूषक समझा जाता था। तीसरा प्रभाव यह था कि प्राचीन रचनाओं के अनुकरण ने प्रयुक्त अथवा मूर्त्त आलोचना का रिवाज़ बढ़ा दिया; क्योंकि अनुकरण का सिद्धान्त आलोचकों को यह सिद्ध करने के लिये मजबूर करता था कि अमुक लेखक अनुकरण किये जाने योग्य है और अमुक लेखक नहीं है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्हें लेखकों का स्वतन्त्र और तुलनात्मक अध्ययन करना पड़ता था। चौथा प्रभाव यह था कि शास्त्रीय अनुकरण को काव्यात्मक रचना का स्रोत माने जाने के कारण कला और प्रकृति के सम्बन्ध में परिवर्तन होने लगा, कम से कम उस हद तक जिस तक कि रचना और उसकी आलोचना का सरोकार है। यह परिवर्तन धीरे-धीरे आया। विडा ने प्रकृति के अनुकरण की प्राचीन लेखकों के प्रमाण पर सलाह दी; उसने कहा कि प्राचीन लेखक अपनी रचनाओं में प्रकृति के सत्य

से नहीं हटते थे। स्कैलीगर ने लेखकों को वर्जिल के अनुकरण की सलाह दी; उसका कहना था कि वर्जिल ने अपनी रचनाओं में प्रकृति को और अधिक पूर्ण कर दिखाया है। पोप ने कवियों को सलाह दी कि वे प्राचीन नियमों का अनुकरण करें; उसका कहना था कि प्राचीन नियम व्यवस्थित प्रकृति हैं और उनका अनुकरण करना और प्रकृति का अनुकरण करना एक ही बात है। अरिस्टॉटलवाद जो कि शास्त्रीय वृत्ति की वृद्धि का दूसरा कारण था, उसका सूत्रपात सन् १५३६ ईसवी में हुआ, जब कि पैजी ने 'पोयटिक्स' का लैटिन अनुवाद प्रकाशित किया। इसके पीछे सन् १५४८ ईसवी में रौबर्टैली का आलोचनात्मक संस्करण आया, और इसकेपीछे सन् १५५० ईसवी में मैगी का संस्करण आया। अनुवादों और टीकाओं की संख्या बढ़ती ही गई, यहाँ तक कि यूरोप भर में साहित्य के साम्राज्य पर अरिस्टॉटल का एकाधिपत्य व्यापक रूप से जम गया। इङ्गलैण्ड में भी अरिस्टॉटल का आधिपत्य सर्वमान्य था। सिडनी, बैन जौन्सन, ड्राइडन, पोप, एडीसन, और जॉन्सन सभी उसकी वेदना करते थे। अरिस्टॉटलवाद के प्रसार के फलस्वरूप कविता का आक्षेपों के विरुद्ध दार्शनिक बचाव सुगम हुआ, और महाकाव्य तथा नाटक की रचना के लिये साहित्यालोचन को सर्वाङ्गी नियमों की प्राप्ति हुई। तर्कप्राधान्यवाद शास्त्रीय वृत्ति की वृद्धि का तीसरा कारण था और भौतिक विज्ञानों और अनुभवमूलक दर्शनों के साथ-साथ उन्नत हुआ। विडा, स्कैलीगर, बोयलो, ड्राइडन, पोप, और जॉन्सन शपथ खाकर कहते थे कि तर्क ही सब बातों का अन्तिम निर्णायक है। तर्कप्राधान्यवाद के कारण ही हौरेस को जिसका आदर्श सदाशय था, नवशास्त्रीय काल में अरिस्टॉटल से अधिक ऊँचा समझा जाता था। तर्कप्राधान्यवाद की वृत्ति ने सब प्रकार की उच्छृङ्खलता की उपेक्षा की। इसी वृत्ति ने कवियों को अपनी कल्पना और संवेदनशीलता की अभिव्यञ्जना को संयत करना सिखाया और यही वृत्ति इस विश्वास की उत्तरदायी हुई कि क्रम, सुडौलता, और नियमबद्धता कला की उच्चतम आवश्यकताएँ हैं, कि दुर्बोधता, प्राचुर्य, और उत्केन्द्रता शास्त्रीय सम्पूर्णता के विरुद्ध हैं।

शास्त्रीय लेखक अपने काव्यात्मक मूल्य बाहर से ग्रहण करता है, उन साहित्यिक रचनाओं से ग्रहण करता है जिन्हें संसार चमत्कारयुक्त घोषित करता है। पुनरुत्थान काल के लेखक के लिये ऐसी रचनाएँ प्राचीन ग्रीस और रोम की थीं। महाकाव्य रचना में यूनानियों के बीच होमर और रोमियों के बीच वर्जिल और नाटक रचना में यूनानियों के बीच एस्कीलस, सौफ़ोक्लीज़ और यूरोपिडीज़ और रोमियों के बीच प्लौटस और टैरेन्स सर्वोच्च श्रेणी के साहित्यकार माने जाते थे। उनकी कृतियाँ नमूनों की तरह मानी जाती थीं। महाकाव्य की परिभाषा ही ऐसा काव्य था जो 'इलियड' के अनुरूप लिखा गया हो। 'इलियड' और 'औडिसी' ने यूनानियों के राष्ट्रीय अभियान को उत्तेजना दी, 'एनीड' ने रोमियों का उद्गम वीर एनीज़ से वर्णित कर उनके जातीय अभिमान को उत्तेजना दी; 'इलियड' में ट्रोय के युद्ध का वर्णन है और 'औडिसी' में यूलीसिस के

साहसिक भ्रमणों का, 'एनीड' में युद्ध और भ्रमण दोनों सम्मिलित हैं; 'इलियड' में यूनानी और ट्रोय की सेनाओं की सूची है, 'एनीड' ऐसी ही सूची लैटियम की सेनाओं की देती है; 'इलियड' में एकीलीज़ की उस ढाल का वर्णन है जिसे हिफैस्टस ने उसकी माँ थैटिस के कहने से बनाया था, 'एनीड' में उस ढाल का वर्णन है जो वीनस ने अपने पुत्र एनीज़ के लिए सुरक्षित किया था; 'इलियड' में प्रोक्लस के सम्मान में अनन्य क्रिया-विषयक खेल वर्णित हैं, 'एनीड' में एन्काइज़ेज़ के सम्मान में; 'औडिसी' में यूलीसीज़ के कैलिप्सो के साथ ठहरने का हाल है और साइक्लोप्स, सर्सी, सिला, कैरिब्डीज़ के साथ उसके अनुभवों का, 'एनीड' में डायडो के साथ एनीज़ के ठहरने का हाल है और सिला, कैरिब्डीज़ और साइक्लोप्स के साथ उसके अनुभवों का; 'औडिसी' में यूलीसीज़ के नरक गमन का सङ्केत है; 'एनीड' में एनीज़ के यमलोकगमन का सङ्केत है। वर्जिल ने होमर का रचनाकौशल में भी अनुकरण किया है। दोनों कवि अपने महाकाव्यों को कथावस्तु के सूक्ष्म विवरण से और काव्यदेवी के आह्वान से प्रारम्भ करते हैं। दोनों कवि लम्बी-लम्बी उपमाएँ देते हैं। दोनों कवि कार्य-व्यापार में एकदम प्रवेश कर जाते हैं और पूर्व घटनाओं का हाल बाद में देते हैं; वर्जिल एनीज़ को अपनी पूर्व घटनाओं के वर्णन करने का अवसर डायडो के सामने देता है जैसे होमर यूलीसीज़ को अपनी पूर्व घटनाओं के वर्णन करने का अवसर एल्कीनस के दरबार में देता है। दोनों कवि अलौकिक पात्रों का प्रयोग करते हैं, जो मनुष्यों को अपने पूरे नियन्त्रण में रखते हैं। परन्तु वर्जिल ने एक नवीनता दिखलाई, जब कि होमर का प्रत्येक काव्य चौबीस सर्गों में बँटा हुआ था, 'एनीड' बारह सर्गों में बाँटा गया। पुनरुत्थान-काल से 'एनीड' ही नमूने का महाकाव्य हो गया। करुण का नमूना इतना एस्कीलीज़, सौफ़ोक्लीज़ और यूरोपिडीज़ से नहीं आया जितना कि सैनेका से जिस पर उनका पूरा प्रभाव था; और हास्य का नमूना प्लौटस और टैरैन्स से आया। सैनेका का करुण का आधार पौराणिक इतिहास था। मुख्य पात्र देवता और महावीर होते थे, और अपराध तथा दण्ड कार्य की प्रधान विशेषताएँ होती थीं। जहाँ कहीं जल्दी-जल्दी प्रश्नोत्तर होते थे ऐसे स्थलों को छोड़ कर कार्यगति बहुधा-मन्द ही होती थी। कथन विस्तृत होते थे और उत्कृष्ट शैली में कहे जाते थे। हमेशा गायक-गण का प्रवेश होता था, जो कार्य के पाठ को अपनी नैतिक और दार्शनिक टीकाओं से अथवा ऐसे गीतात्मक उद्गारों से जो दर्शकों के अर्धनिर्मित व अस्पष्ट भावों को व्यक्त करते थे, सुसज्जित करते थे। प्लौटस और टैरैन्स का करुण यथार्थवादी था। उसका उद्देश्य चरित्र की उत्केन्द्रताओं और सामाजिक शिष्टाचार के लङ्घन के प्रति हँसी लाना होता था। रीति अतिशयोक्ति की होती थी और चित्रण अनन्तवैंगीय होता था।

शास्त्रीय लेखक अपना नेतृत्व अरिस्टॉटल और हौरेस से पाता है। पुनरुत्थान-काल में अरिस्टॉटल को हौरेस से अधिक अधिकार प्राप्त था। उसके नियम उसकी 'पोइटिक्स' में दिये हैं। महाकाव्य, करुण, हास्य, गीतिकाव्य, मुरली बजाना, वीणा बजाना —ये सब अनुकरण की रीतियाँ हैं। वे एक-दूसरे से तीन ढङ्ग में पृथक् हैं, या तो अनुकरण के

साधन में, या अनुकरण की वस्तु में, या अनुकरण की रीति में। लयबद्धता और सुस्वरत्व मुरली बजा कर अनुकरण के साधन हैं, अकेली लयबद्धता नृत्यात्मक अनुकरण के साधन हैं, छन्द और भाषा काव्यात्मक अनुकरण के साधन हैं। छन्द, काव्य के लिये अनिवार्य नहीं है। यदि वैद्यक और भौतिक दर्शन छन्द में लिखे जायें, तो वे काव्यात्मक नहीं हो सकते। महाकाव्य, करुण, भजन, और प्रशंसा गान में अनुकरण की वस्तु उत्तम जीवन होती है; शिक्षाप्रद काव्य में मध्यम श्रेणी के जीवन का अनुकरण होता है; और कुत्सन, हास्योदीपक दृकाव्य, और हास्य में निम्न श्रेणी का जीवन होता है। अनुकरण करने की तीन रीतियाँ हैं—कोई कभी कथात्मक रीति में और कभी दूसरे का रूप धारण करके अनुकरण करे, जैसे होमर करता है; कोई निरन्तर कथात्मक रहा आये और कहीं किसी और के रूप में कुछ न कहे; या अनुकरण करने वाली किसी कथा का चित्रण रूपक की तरह करे, मानो कि वे स्वयं उन बातों को कर रहे हों जो वर्णन के विषय हैं। कविता का स्रोत दो मूल प्रवृत्तियों में है; अनुकरण करने की, और लय तथा एक तान की। भजन और प्रशंसागान में महाकाव्य का उद्गम है, ताण्डव-गीत में करुण का और लिङ्गोपासना विषयक गीतों में हास्य का उद्गम है। करुण के अभिनय में पहले एक नट होता था, एस्कीलीज़ ने एक नट और बढ़ा दिया, और सौफ़ोक्लीज़ ने एक और नट और रङ्गसज्जा का प्रयोग किया। धीरे-धीरे करुण आकार और गम्भीरवृत्ति में भी बढ़ा। सामान्य पुरुषों से बुरे पुरुषों का अनुकरण हास्य है; बुरे, सब प्रकार के दोषों के ख्याल से नहीं, वरन् एक प्रकार के दोष के ख्याल से, उपहास्य, जिसे कुरूपता का एक विकार कह सकते हैं। उपहास्य ऐसे दोष या वैरूप्य को कहते हैं जो दूसरों को दुःख अथवा हानि न दे; उदाहरणार्थ मुखावरण उपहास्य है क्योंकि उससे हँसी उठती है, वह किसी को दुःख नहीं देता। महाकाव्य और करुण में तीन अन्तर हैं। पहले, महाकाव्य के पद षड्गणात्मक होते हैं और उसकी रीति कथात्मक होती है। दूसरे, महाकाव्य का विस्तार करुण के विस्तार से कहीं अधिक होता है, कारण यह है कि महाकाव्य के कार्यव्यापार का कोई नियत समय नहीं होता, इसके विपरीत करुण का समय सूर्य के एक फेरे से सीमित होता है या सूर्य के एक फेरे के समय के लगभग। काल सङ्कलन का अरिस्टॉटल, यही अकेला उल्लेख है। पुनरुत्थान के कुछ भाष्यकारों ने सूर्य के एक फेरे से चौबीस घण्टे के दिन का अर्थ लगाया और कुछ भाष्यकारों ने बारह घण्टे के दिन का अर्थ लगाया। किसी नाटक में जितनी घटनाएँ हों वे सब चौबीस घण्टों में अथवा बारह घण्टों में समाप्त हो जायें। इस समस्या पर वादविवाद के परिणाम में शास्त्रीय आलोचकों ने यह निश्चित किया कि किसी नाटक की समस्त घटनाओं का समय उतना ही होना चाहिये जितना कि उस नाटक के रङ्गमञ्च पर अभिनय का। स्थल-सङ्कलन का अरिस्टॉटल में कोई उल्लेख नहीं है। उसका प्रतिपादन पहले पहल इटली के आलोचक ट्रिसिनों ने किया था। तीसरे वे अपने घटकावयव की संख्या में एक दूसरे से भिन्न है; कुछ अवयव तो दोनों में एक से होते हैं और कुछ करुण की विशेषताएँ हैं—इसी कारण करुण का आलोचक महाकाव्य

का भी आलोचक होता है। करुण की परिभाषा अरिस्टॉटल इस प्रकार करता है—"करुण ऐसे कार्य का अनुकरण है जो गम्भीर हो, जिसकी उपयुक्त आकृति हो और जो अपने में पूर्ण हो; ऐसी भाषा में जिसमें कई प्रकार की आनन्ददायक विभिन्नता हो, प्रत्येक विभिन्नता (पात्रों की संस्कृति और विषय की विशेषता के अनुसार) ठीक समय पर प्रदर्शित हो; रूपक की रीति में, कथात्मक रीति में नहीं; ऐसी घटनाओं से जो शोक और भय के भावों को उत्तेजित करके उनका शोध करे।" इस परिभाषा के अनुसार करुण के नियम इस प्रकरण के पहले भाग में दिये जा चुके हैं। पीछे से अरिस्टॉटल महाकाव्य और करुण की तुलना करता है। महाकाव्य की कथा भी सरल अथवा असरल हो सकती है; वह भी दुःखमय हो सकती है अथवा उसमें भी चरित्र-चित्रण हो सकता है; उसके भाग भी सङ्गीत और नाट्य-सम्बन्धी प्रदर्शन के अतिरिक्त एक से ही हैं; और उसकी भाषा और विचार भी उत्कृष्ट शैली में होते हैं। बस, अन्तर विस्तार, वृत्त और अलौकिकता के प्रयोग का है। अलौकिकता करुण में भी इस्तेमाल होती है, परन्तु उसका इस्तेमाल महाकाव्य में अधिक मात्रा में हो सकता है। अलौकिकता का प्रयोग इस ढङ्ग से करना चाहिये कि वह लौकिक मालूम पड़े। करुण को अरिस्टॉटल महाकाव्य से अधिक श्रेष्ठ समझता है, क्योंकि वह सङ्गीत और अभिनय के अवयवों के कारण ज्यादा पेचीदा है, क्योंकि वह रङ्गमञ्च पर खेले जाने के कारण ज्यादा स्पष्ट होता है और उसके पढ़ने में भी स्पष्टता को अधिक अनुभूति होती है, क्योंकि करुण थोड़े विस्तार में ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है, क्योंकि करुण में महाकाव्य के देखते हुए अधिक ऐक्य होता है। हौरेस के नियम और पुनरुत्थान और नवशास्त्रीयकाल के नियम जो अरिस्टॉटल और हौरेस के आधार पर निर्मित हुए थे, हम पहले ही दे चुके हैं।

शास्त्रीय आलोचना के बड़े अच्छे उदाहरण एलीज़बैथ के काल की आलोचना में मिलते हैं। इस काल की आलोचना की चार समस्याएँ थीं—भाषा सुधार, छन्द सुधार, कविता का आक्रमणों से बचाव, और तुक का बचाव। चारों समस्याओं के हल करने में एक न एक पक्ष ने शास्त्रीय प्रमाणों का सहारा लिया। भाषा के सुधारक दो वर्गों में विभक्त थे—शुद्धनिष्ठ और पूर्णसुधारनिष्ठ। शुद्धनिष्ठ वर्ग के सुधारक स्थितिपालक और हर एक तरह की नवीनता के बैरी थे; वे अपनी भाषा के स्रोतों को ही काम में लाकर अपनी भाषा का विकास करना चाहते थे। इस वर्ग में एस्कम, विल्सन, चीक और पटनहम थे। पूर्णसुधारनिष्ठ वर्ग सब प्रकार की नवीनता के पक्ष में था, विशेषतया नये शब्द गढ़ने की स्वतन्त्रता के और वैदेशिक भाषाओं से वृहद् परिमाण में शब्द ले लेने के। इस वर्ग में सर टोमस इलियट, जोर्ज पैटी, और टॉमस नैश थे। अन्त में एक समझौता हुआ जिसके द्वारा वैदेशिक शब्दों का पर्याप्त मात्रा में ले लेना स्वीकार हुआ और ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं को अंग्रेजी भाषा ने शिक्षक और नमूना माना। इस समझौते में विल्सन और चीक ने भी साथ दिया और जैस्कौइन और स्पैन्सर ने उनका समर्थन किया।

यही समस्या आज कल हिन्दी के सामने पेश है। जैसे हिन्दी अपना मूल स्रोत प्राकृत और अपभ्रंश मानती है वैसे ही अंग्रेजी अपना मूलस्रोत ओल्ड इङ्गलिश और मिडिल इङ्गलिश को मानती थी। जैसे अंग्रेजी के सुधारक अपनी भाषा के सुधार के लिए ओल्ड और मिडिल इङ्गलिश से बाहर नहीं जाना चाहते थे वैसे ही हिन्दी के सुधारक भी अपनी भाषा के सुधार के लिए संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से बाहर नहीं जाना चाहते। हिन्दी के बहुत से भाषा सुधारक उर्दू, फारसी और दूसरी वैदेशिक भाषाओं से शब्द नहीं लेना चाहते हैं। यह बड़ी भूल है। भाषा तब तक समृद्धिशाली नहीं हो सकती जब तक वह सब तरफ से आये हुए शब्दों को अपने प्रयोग में लाने की समता न दिखाये। भाषा व्यापार ही एक ऐसा व्यापार है जिससे उधार लेना बिना वापिस करने के वायदे के बुद्धिमानी है। एलीज़बैथ के काल में अंग्रेजी पद्य भी बुरी दशा में थी। लग गरण (आयेम्बिक फुट) का अधिकतया प्रयोग था और लाइनें अक्षरों (सिलैल्बस) में कम या ज्यादा रहती थीं। छन्द सुधारकों ने लैटिन और ग्रीक पिङ्गल के अनुकरण करने की धारणा की और अंग्रेजी पद्य को मात्रिक बनाना चाहा। टॉमस ड्रैण्ट ने लैटिन छन्द के नियमों के अनुसार अंग्रेजी छन्द के नियम बनाये और इनको सिड्नी, डायर, ग्रैवील, और स्पैन्सर ने स्वीकार कर लिया। बस, षड्गणात्मक पद लिखे जाने लगे। परन्तु इनमें सुन्दरता न आ सकी क्योंकि अंग्रेजी भाषा स्वराघात पर आधारित है और मात्रिक प्रवृत्ति नहीं दिखाती। हार्वी भी लैटिन छन्द के नियमों के पक्ष में थे, परन्तु उसने बड़ी मात्रा को स्वराघात से चिह्नित किया। हार्वी की नई रीति से इतना फ़ायदा हुआ कि अंग्रेजी पद्य में लग गरण के अतिरिक्त दूसरे गणों का प्रयोग होने लगा। धीरे-धीरे मात्रिक छन्द का रिवाज बिल्कुल हट गया और स्वराघातात्मक पद्य पर ही कवि आ गये। फिर भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ शास्त्रीयता काम नहीं दे सकती थी वहाँ भी उसका सहारा लिया गया। जॉन्सन के आक्रमणों से कविता को बचाने के लिये लौज और सिड्नी ने शास्त्रीय सिद्धान्तों का सहारा लिया। इन आलोचकों की दलीलों में प्लैटो, अरिस्टॉटल, और इटली के पुनरुत्थानकालीन आलोचकों के निर्देश स्पष्ट हैं। तुक के बहिष्कार के लिये कैम्पियन ने ग्रीस और रोम के कवियों का निर्देश दिया; वे अपने पद्य में गणों ही का उचित आधार लेते थे और तुक को रुचिकर नहीं समझते थे। उसका कहना है कि ओविड को तुकान्त पद्य लिख डालने के कारण भ्रान्ति में समझा जाता था। मिल्टन ने भी अपने 'पैरैडाइज़ लॉस्ट' के आरम्भ में एक छोटे से नोट में तुक को दूषित माना है। तुक न होमर ने ग्रीक में, न वर्जिल ने लैटिन में इस्तेमाल की थी। तुक कविता या अच्छी पद्य का न कोई अनिवार्य अङ्ग है और न कोई आभूषण है। तुक तो उत्तर के जङ्गली आदमियों की आविष्कृति है, और उसका उपयोग निकृष्ट वस्तु और लँगड़े पद्य को उभारने के लिये किया जाता है। डैनियल और उसके पश्चात् ड्रायडन ने तुक का समर्थन किया, कि तुक पद्य को आभूषित करती है, कि वह स्मृति को सहायता देती है, कि वह कवि की कल्पना को उत्तेजित करती है, कि वह उत्कृष्ट कविता के लिये

एक आदर्शीकृत वातावरण पैदा करती है, कि उसकी साधारण खराबी, कि उसके इस्तेमाल में कवि को कभी-कभी अपने अर्थ को भ्रष्ट करना पड़ता है कवि के कौशलहीन होने के कारण हैं। इस वाद-विवाद में भी एक पक्ष ने स्पष्टतया शास्त्रीयता का सहारा लिया है। बैन जॉन्सन शास्त्रीयता का पक्षपाती था। हौरेस, सैनैका और क्विण्टीलियन उसके इष्ट थे। उसका करुण सैनैका के आधार पर और उसका हास्य प्लौटस औ टैरैन्स के आधार पर लिखा गया है। ड्राइडन के निबन्धों में शास्त्रीय निर्देशों की भरमार है। एडीसन ने "पैरैडाइज लॉस्ट' की आलोचना में अरिस्टॉटल के नियमों का प्रयोग किया और वर्जिल के महाकाव्य को नमूना माना। पोप ने अपने 'एसे ऑन क्रिटीसिज़्म' में हौरेस, विडा और बोयलों के सिद्धान्तों को स्वीकार किया। डॉक्टर जॉन्सन की उक्ति कि कविता साधारणीकरण करती है अरिस्टॉटल और हौरेस पर निर्भर है। अरिस्टॉटल ने साफ़ कहा था कि कवि अपनी कथा को, चाहे पहले से आई हुई हो चाहें उसकी निर्मित हो, पहले सरल कर ले और उसको व्यापक रूप में देखे, पेश्तर इसके कि वह कथाङ्गों से उसे विस्तृत करे। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की शास्त्रीयता पर रोमान्सिक प्रवृत्ति का असर दीख पड़ता है। आर्नल्ड कहता है कि हमें प्राचीन लेखकों की बराबरी करनी चाहिये, उनका अनुकरण नहीं। गिल्बर्ट मरे कहता है कि वीरकाव्य और होमर की विशेषताएँ प्रकृति का सत्य और कथन का गाम्भीर्य है, और रोमांसवादिता की विशेषता झूठा अतिवाद है। टी० एस० इलियट भी विषयवस्तु का महत्त्व मानने में और अभिव्यञ्जना-कौशल पर जोर देने में शास्त्रीय प्रवत्ति दिखाता है। अपने अन्तर्वेगों के लिये एक अनात्मिक प्रतिमूर्ति ढूँढ निकालने के चेतन प्रयास में वह अरिस्टॉटल के इस सिद्धान्त का अनुयायी है कि कवि कथानक की सृष्टि के कारण स्रष्टा कहा जाता है। कवि को परम्परा के ज्ञान की आवश्यकता बताने में भी कि कवि अपनी चेतना में अतीत का अतीतत्व ही न रखे वरन् उसका उपस्थान भी, टी० एस० इलियट शास्त्रीयता का पक्षपाती है।

भारत में शास्त्रीयता का प्रचार रहा है। काव्य और काव्यों के रूपों के लक्षण प्राचीन काल में साहित्यशास्त्रज्ञों ने निश्चित कर दिये थे। आगामी लेखकों ने उन्हीं लक्षणों के अनुसार काव्य की सृष्टि की शास्त्रीयता के प्रचार का मुख्य कारण प्रचीन काल के लेखकों और शास्त्रज्ञों के प्रति श्रद्धा भाव है।

प्राचीन साहित्यशास्त्री में काव्यों के भिन्न-भिन्न विचारों से भिन्न-भिन्न भेद हैं। अनुभवाश्रय के विचार से काव्य दो प्रकार का होता है—श्रव्य और दृश्य। जिस काव्य के सुनने से आनन्द का उद्रेक हो, वह श्रव्य काव्य है। यह नाम पड़ने का कारण यह था कि प्राचीन समय में मुद्रणकला न थी और लोग काव्य सुना ही करते थे। श्रव्य-काव्य में कवि स्वयम् वक्ता बनकर अपनी कथा कहता है। दृश्य-काव्य वह है जिसका रसास्वादन अभिनय देखकर होता है। इस काव्य में कवि स्वयं कुछ नहीं कहता। उसे जो कुछ कहना होता है, पात्रों द्वारा कहता है। नट पात्र का रूप धारण कर उसकी अवस्थाओं का वचन,

अङ्ग, वेशभूषा, आदि से अनुकरण करता है। इसी विशेषता के कारण इस काव्य को नाटक भी कहते हैं। रचना के विचार से श्रव्य-काव्य के तीन भेद होते हैं—प्रबन्ध, निबन्ध और निर्बन्ध। अनेक संवद्ध पद्यों में पूरा होने वाला काव्य प्रबन्ध है। प्रबन्ध काव्य विस्तार के विचार से तीन प्रकार का होता है—महाकाव्य, काव्य और खण्डकाव्य। किसी देवता अथवा महान् व्यक्ति का वृत्तान्त लेकर बहुत से सर्गों में लिखा हुआ काव्य महाकाव्य है। काव्य भी सर्गबद्ध होता है, परन्तु उसमें विस्तार इतना नहीं होता। एक कथा का निरूपक होने के कारण यह एकार्थक काव्य भी कहलाता है। खण्ड काव्य वह काव्य है जिसमें काव्य के सम्पूर्ण अलङ्कार या लक्षण न हों। इसमें काव्य के एक अंशका अनुसरण किया जाता है। इसमें जीवन की किसी एक घटना या कथा का वर्णन होता है; जैसे मेघदूत, जयद्रथबध। जैसे प्रबन्ध विस्तार का द्योतक है, निबन्ध साधारणता का द्योतक है। जिस काव्य में कोई कथा अथवा वर्णन कई पद्यों में लिखा गया हो वह निबन्ध काव्य है। निर्बन्ध काव्य वह काव्य है जो प्रबन्ध और निबन्ध काव्यों के बन्धनों से अलग हो। इस काव्य का प्रत्येक पद्य, वह चाहे जितनी पंक्तियों का हो, स्वतन्त्र होता है। निर्बन्ध काव्य दो तरह का होता है—मुक्तक और गीत। वह काव्य जो एक ही पद्य में पूरा हो, जिसकी कथा दूर तक न चले, मुक्तक है। वह प्रबन्ध का उल्टा होता है और इसे उद्भट भी कहते हैं। दोहे, कविता, सवैया इसके उदाहरण हैं। जो काव्य गाया जा सके गीत-काव्य है। इसमें ताल-लय-विशुद्ध और सुस्वर पंक्तियाँ होती हैं। गीत दो प्रकार का होता है—वैदिक और लौकिक। वैदिक गीत को साम कहते हैं। सामवेद ऐसे ही गीतों से भरा हुआ है। लौकिक गीत के दो भेद हैं, ग्राम्य और नागर। जिन गीतों का समाजिक विधि-व्यवहारों के समय स्त्रियाँ गाती हैं, ग्राम्य गीत हैं; जैसे सोहर। इन गीतों में हमारी जातीय संस्कृति और भावनाओं का सञ्चय है। नागरिक गीत शुद्ध रूप से काव्यात्मक होता है और उसके रचियता अपनी प्रतिभा के लिये प्रसिद्ध हैं; जैसे जयदेव, विद्यापति, सूरदास, और तुलसीदास। शब्दविन्यास के विचार से काव्य तीन प्रकार का होता है—पद्य, गद्य, और चम्पू। छन्दोबद्ध कविता पद्य है। पद्य-काव्य में गोकि कवि यथारुचि पद-स्थापना कर सकता है पर छन्द के बन्धनों से बँधा रहती है। गद्य-काव्य छन्द के बन्धनों से मुक्त होता है। गद्य-काव्य में प्रणयनता लाना पद्यकाव्य के मुकाबिले कहीं कठिन है; क्योंकि इसमें तुक और छन्द की शोभा नहीं होती। अर्थ की रमणीयता ही गद्यकाव्य को उत्कृष्ट बनाती है। गद्य काव्य के दो भेद हैं—कथा और आख्यायिका। गद्यपद्यमय काव्य को चम्पू कहते हैं। इस काव्य में गद्य के विचार में पद्य आती रहती है। प्रसाद का 'उर्वशी चम्पू', मैथिलीशरण गुप्त का 'यशोधरा' और अक्षयवट का 'अन्य चरित चम्पू' चम्पू काव्य का अन्दाजा देते हैं। काव्य के इन रूपों में से कुछ प्रधान रूपों की प्राचीन धारणा हम यहाँ देते हैं।

गीतात्मक काव्य वेदों से ही आरम्भ होता है। ऋग्वेद में ऐसे मन्त्रों का बाहुल्य है जिनमें इन्द्र, सूर्य अग्नि, उषः, मरुत् आदि देवता से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ की गई हैं। सामवेद में उन स्तोत्रों का संग्रह है, जो यज्ञों के समय गाये जाते थे। सब ऋचाएँ

प्रायः गायत्री छन्द में हैं। वैदिक गीतों में तत्कालीन जीवन और विचार सुरक्षित हैं। कुछ वैदिक गीत ऐसे हैं, विशेषतया वे जो उषः या इन्द्र की आराधना में गाये जाते थे, जिनमें तथ्य और अलौकिकता दोनों मिलते हैं। वैदिक गीतों में निरीक्षण, सहानुभूति, और विस्मय प्रधान हैं। धीरे-धीरे विस्मय की जगह मीमांसा ने ली, सहानुभूति की जगह अध्ययन ने ली और निरीक्षण अधिक तीक्ष्ण और गहरा होता गया। लौकिक गीत सुन्दर अलङ्कारयुक्त भाषा में नायक की कृतियों का वर्णन करता है। इस वर्णन में अलौकिकता की मात्रा अधिक रहती है। पद-पद पर कवि साधारण भावनाओं का प्रभाव दिखाता है। सारगर्भित, भावोत्पादक संक्षिप्तता गीत की मुख्य विशेषता है। प्राकृतिक दृश्यों के चित्र खींचने से या ऐसी बातें लाने से जो लम्बा वर्णन चाहती हों, उसकी प्रायः अरुचि होती है।

साहित्यदर्पणकार के मतानुसार वह काव्य जिसमें सर्गों का निबन्धन हो महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हों—नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृङ्गार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अङ्गी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक-सन्धियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन सम्बन्धिनी होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य-वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों का गुणवर्णन होता है। इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। उनमें प्रत्येक में एक ही छन्द होता है। किन्तु सर्ग का अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिये। इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, सम्भोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिये। इसका नाम कवि के नाम से (जैसे 'पाद्य') या चरित्र के नाम से (जैसे 'कुमारसम्भव') अथवा चरित्रनायक के नाम से (जैसे 'रघुवंश') होना चाहिये। कहीं इनके अतिरिक्त भी नाम होता है—जैसे 'भट्टि' सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम रखना चाहिये।

गद्य काव्य में, कथा उपन्यास की तरह का लेख है जिसमें पूर्व पीठिका और उत्तर पीठिका होती हैं। पूर्व पीठिका में एक वक्ता बनाया जाता है और एक वा अनेक श्रोता बनाये जाते हैं। श्रोता की ओर से ऐसा उत्साह दिखाया जाता है कि पढ़ने वाले भी उत्साह पूर्ण हो जाते हैं। सारी कहानी वक्ता ही कहता है। अन्त में वक्ता और श्रोता का उठ जाना आदि उत्तर दशा दिखाई जाती है। कथा में सरसता गद्य द्वारा ही लाई जाती है। शुरू में पद्यमय नमस्कार और खलादिकों का चरित दिया जाता है। कहीं-कहीं कथा के विस्तार में आर्याछन्द और कहीं वक्त्र और अपवक्त्र छन्द होते हैं। आख्यायिका के रूप के विषय में मतभेद है। अग्निपुराण के अनुसार आख्यायिका में कर्त्ता की वंश-

प्रशंसा, कन्याहरण, संग्राम, वियोग, आदि विपत्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन होता है। रीति, आचरण और स्वभाव खास तौर से दिखाये जाते हैं। गद्य सरल होता है और कहीं-कहीं छन्द भी आ जाते हैं। इसमें परिच्छेद की जगह उच्छ्वास होता है। वाग्भट्ट के मतानुसार आख्यायिका में नायिका अपना वृत्तान्त आप कहती है। आगे के विषयों की सूचना पहले ही दी जाती है। कन्या के अपहरण, समागम और अभ्युदय का हाल होता है। मित्रादि के मुँह से चरित्र कहलाये जाते हैं। आख्यायिका में कहीं-कहीं पद्य भी आ जाते हैं। साहित्यदर्पणकार का मत है कि आख्यायिका कथा के समय होती है। इसमें कविवंश वर्णन होता है और अन्य कवियों का वृत्तान्त भी दे दिया जाता है। इसमें कथा भागों का नाम आश्वास होता है। आर्या, वक्त्र, या अपवक्त्र छन्द के द्वारा अन्योक्ति से आश्वास के आरम्भ में अगली कथा की सूचना दी जाती है, जैसे 'हर्षचरित' में। आख्यान भी इसी के अन्तर्भूत है। आख्यान वह कथा है जिसे कवि ही कहे और पात्र न कहें। इसको कथा के किसी अंश से शुरू कर सकते हैं पर पीछे से पहला सब हाल खुल जाना चाहिये। इन पात्रों की बातचीत संक्षेप में होती है। क्योंकि आख्यान को कवि ही कहता है और कहते समय पहली बातों को भी स्पष्ट करता है। इस कारण से आख्यान में प्रायः भूतकालिक क्रिया का प्रयोग किया जाता है। वर्त्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग आलङ्कारिक रीति से हो जाता है।

किसी जाति के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि उसमें नाटक का पूर्ण विकास हो। नाटक सर्वोत्तम कला है। नाटककार वास्तक में ब्रह्म का प्रतिरूप है। जैसे ब्रह्म सृष्टि में समाया हुआ है, उसी प्रकार नाटककार अपने अस्तित्व को अपनी सृष्टि से एक कर देता है और अपने पात्रों में समा जाता है। जितनी जल्दी और जितनी पूर्णता से आत्म-विस्मृति नाटक द्वारा होती है उतनी किसी और दूसरे साधन द्वारा नहीं। संसार के बन्धनों से मुक्ति पाने का और सर्वभूत को आत्मवत् देखने का यह निश्चित रूप से सफल साधन है। हिन्दू जाति में नाटक बड़ा प्राचीन है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र जो नाटक का लक्षण ग्रन्थ माना जाता है ईसा से कम से कम तीन-चार सौ वर्ष पहले का तो अवश्य है। इसके पढ़ने से मालूम होता है कि देश में पहले ही नाटक विकसित रूप में प्रचलित था और अन्य लक्षण ग्रन्थ भी लिखे जा चुके थे। 'नाट्यशास्त्र' के आरम्भिक कथन से जान पड़ता है कि नाटक वेदों के निर्माण के बाद जल्दी ही आया। लोगों के व्यापक रूप से दुःखित होने के कारण एक समय इन्द्र और दूसरे देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि आप मनुष्यों के मनोविनोद का कोई साधन उत्पन्न करें। इस पर ब्रह्मा ने चारों वेदों को बुलाया और उनकी सहायता से नाट्यशास्त्र रूपी पाँचवें वेद की रचना की। इस नये वेद के लिये ऋग्वेद से संवाद लिया गया, सामवेद से गान लिया गया, यजुर्वेद से नाट्य लिया गया और अथर्ववेद से रस लिया गया। इस कथन में नाट्यशास्त्र का वेद कहा जाना और उसका उद्गम वेदों से बताया जाना हिन्दू जाति में नाटक के सम्मान का द्योतक है।

नाटक के लिए संस्कृत की संज्ञा रूपक है। इसका कारण यह है कि नट में काव्य के पुरुषों का स्वरूप आरोपित किया जाता है। जो नट राम, कृष्ण युधिष्ठिर, या दुष्यन्त का रूप धारण करेगा, वह किसी विशेष अवस्था में वैसा ही व्यवहार करेगा जैसा राम कृष्ण, युधिष्ठिर, या दुष्यन्त उस अवस्था में करते। अवस्था के अनुकरण को नाट्य या अभिनय कहते हैं। यह अनुकरण चार प्रकार से पूर्ण होता है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य, और सात्विक। इन चार प्रकार के अभिनय से सामाजिकों को वास्तविकता की प्रतीति दी जाती है, जो कि रूपक की सफलता की कसौटी है। यदि उस नट को जो दुष्यन्त का पार्ट खेलता है सामाजिक स्वयं दुष्यन्त न समझें तो रूपक असफल है। रूपक की सफलता की दूसरी कसौटी रस की निष्पत्ति है। यदि अभिनय द्वारा नायक के भावों के प्रदर्शन से सामाजिकों के हृदय में आनन्द का उद्रेक हो तो रूपक सफल है। रूपक की भारतीय धारणा में अभिनय पर अधिक जोर है, उसका प्रत्यक्ष निरूपण रङ्गमञ्च पर ही होता है। रूपक के रसास्वादन के लिए उसका खेला जाना आवश्यक है। एक आलोचक कहते हैं कि "जिसको देखने से ही विशेष प्रकार से रस की अनुभूति हो" वह दृश्य काव्य है। दूसरी जगह वही आलोचक लिखते हैं, "श्रव्य काव्य का आनन्द लेने में केवल श्रवणेन्द्रिय सहायक होती है, परन्तु दृश्य काव्य में श्रवणेन्द्रिय के अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी सहायता देती है। चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है, और दृश्य-काव्य के रसास्वादन में इन्द्रिय के विशेष सहायक होने के कारण ऐसे काव्यों को रूपक कहना सर्वथा उपयुक्त है।" परन्तु अभिनय शरीर की चक्षु के सामने भी हो सकता है और मन की चक्षु के सामने भी। इसमें शक नहीं कि नाटक की अन्तर्प्रेरणा में रङ्गमञ्च अनिवार्यतः सम्मिलित है और नाटककार प्रायः नाटक रङ्गमञ्च के लिए ही लिखता है। परन्तु रङ्गमञ्च का तत्त्व नाटककार की अन्तर्प्रेरणा में वैसे ही अचेतन रहता है जैसे निवेदन दूसरे काव्यों में अचेतन रहता है। नाटक दृश्य काव्य ही नहीं है वरन् श्रव्य-काव्य भी है और पाठ्य-काव्य भी है। नाटककार को नाटक के निर्माण में नट की रचनात्मक शक्ति पर भरोसा नहीं करना चाहिये। प्राचीन पाश्चात्य सिद्धान्त यही था। नाटककार को सारा नाटकीय प्रभाव सङ्घर्ष और पात्रों द्वारा पैदा करना चाहिये। कोई भले स्वभाव का बड़ा आदमी अपनी ऐसी गलती अथवा कमजोरी से जिसमें नैतिक दोष न हो सुख और गौरव कीर्ति की उच्च दशा से दुःख और अपकीर्ति की निम्न दशा को अनजाने प्राप्त हो। सङ्घर्ष निकट सम्बन्धी वर्गों में हो। नायक का पतन हमें विधिविडम्बना की चेतना दे और अन्त में हमें नाटक जीवन के गहन तत्त्व और मनुष्य के निष्फलीभूत होने का संस्कार हमारे मन पर छोड़े। ऐसे नाटक में पाठक अथवा दर्शक के दार्शनिक विचार को जागृति मिलती है, प्रेरणा आँख की अपेक्षा मन को अधिक है। भारतीय नाटक का नट के ऊपर ज्यादा जोर देने का कारण नाटक की विशिष्ट धारणा ज्ञात पड़ती है। भारतीय नाटक किसी पात्र की प्राप्ति पर आधारित है। उसके प्रधान व अङ्गी रस शृङ्गार और वीर हैं। शेष रस गौण रूप से आते हैं। जिस नाटक

में शान्ति, करुणा आदि प्रधान हों वह नाटक नहीं कहलाया जा सकता। स्पष्ट है कि यहाँ का नाटक महाकाव्य से अधिक मिलता जुलता है और उसमें दृष्टिविषयात्मक तत्त्व प्रधान है। साहित्य के रूप जीवन के रूपों के अनुसार होते हैं, और करुण नाटक जीवन के गहन और अगम्य तत्त्व को और मनुष्य की विवशता को सामने लाता है। जैसे, हास्य नाटक जीवनव्यापार में सामान्य क्रम की आवश्यकता सामने लाता है। शौर्य के प्रदर्शन के लिए महाकाव्य है, नाटक नहीं।

अभिनय होने से पहले सूत्रधार रङ्गशाला में प्रार्थना-गीत गाता है। फिर वह वार्त्तालाप में नाटक के नाम, कर्त्ता, और विषय आदि का परिचय देता है। नाटक के इतिवृत्त को वस्तु कहते हैं। वस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक वस्तु और प्रासङ्गिक वस्तु। इतिवृत्ति के प्रधान नायक को अधिकारी कहते हैं। अधिकारी-सम्बन्ध कथा को आधिकारिक वस्तु कहते हैं और अधिकारी के लिये अथवा रसपुष्टि के लिये प्रसङ्गवश जो वर्णन आ जाता है उसे प्रासङ्गिक वस्तु कहते हैं; जैसे 'रामायण' में राम की कथा आधिकारिक वस्तु है और सुग्रीव की कथा प्रासङ्गिक वस्तु है।

मानव जीवन के प्रयोजन अर्थ, धर्म और काम हैं। नाटक में जो उपाय इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये किये जाते हैं उन्हें अर्थ-प्रकृति कहते हैं। अर्थ-प्रकृति पाँच हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य्य। कथा का वह भाग जो फल-सिद्धि का प्रथम कारण हो बीज कहलाता है : जैसे 'वेणीसंहार' में भीम के क्रोध पर युधिष्ठिर का उत्साहपूर्ण वाक्य बीज है, क्योंकि यही वाक्य द्रौपदी के केश-मोचन का कारण हुआ। अवान्तर कथा के टूट जाने पर भी प्रधान कथा के लगातार होने का जो निमित्त है उसे विन्दु कहते हैं; जैसे 'रत्नावली' में अनङ्गपूजा की समाप्ति पर सागरिका का कथन, "ऐं यही वह राजा उदयन है," कथा के अटूट रहने का हेतु बन कर विन्दु है। जो प्रासङ्गिक वर्णन दूर तक चले वह पताका है, जैसे, 'रामायण' में सुग्रीव की कथा और 'शकुन्तला' में विदूषक की। जो कथावस्तु थोड़ी देर तक चलकर रुक जाती है, वह प्रकरी कहलाती है; जैसे 'शकुन्तला' के छठे अङ्क में दास और दासी की बातचीत। प्रधान साध्य, जिसके लिये सब उपायों का आरम्भ किया गया है, जिसकी सिद्धि के लिये सब कुछ इकट्ठा किया गया है, उसे कार्य्य कहते हैं; जैसे, 'रामायण' में रावण का बध। फल की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों के द्वारा किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, और फलागम। मुख्य फल की सिद्धि की उत्सुकता को आरम्भ कहते हैं; जैसे 'रत्नावली' में कुमारी रत्नावली को अन्तःपुर में रखने के लिये यौगन्धरायण की उत्कण्ठा फलप्राप्ति के लिये जल्दी से किये गये व्यापार को यत्न कहते हैं; जैसे, रत्नावली' में रत्नावली का चित्रलेखन उदयन से समागम का त्वरान्वित व्यापार हो जाता है। जहाँ प्राप्ति की आशा विफलता की आशंका से घिरी हों, किन्तु प्राप्ति की सम्भावना हो, वहाँ प्राप्त्याशा होती है; जैसे, 'रत्नावली' में वेश का परिवर्तन और

निकट आना तो सङ्गम के उपाय हैं पर वासवदत्तारूप अपाय की आशंका भी बनी रहती है, इसी लिये समागम की प्राप्ति अनिश्चित होने के कारण प्राप्त्याशा है। अपाय के दूर हो जाने पर जिस अवस्था में फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है उसे नियताप्ति कहते हैं; जैसे 'रत्नावली' में उदयन का यह प्रत्यक्षीकरण कि बिना वासवदत्ता को प्रसन्न किये वह सफलमनोरथ नहीं हो सकता, नियताप्ति है। जिस अवस्था में सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाय, उसे फलागम कहते हैं; जैसे, 'रत्नावली' में चक्रवर्तित्व के साथ रत्नावली की प्राप्ति। अवस्थाओं का ख़याल रखते हुए कथानक का निर्माण बीच में कुछ मोड़ खाये हुए पेड़ के रूप में होना चाहिये। प्राप्त्याशा जितनी मध्य में हो उतनी अच्छी; और पहले अंश में आरम्भ और यत्न और दूसरे अंश में नियताप्ति और फलागम बराबर विस्तार पायें। अवस्थाएँ तो शास्त्रीय मत के अनुसार कार्य की भिन्न-भिन्न स्थितियों को चिह्नित करती हैं, अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के तत्त्वों को बताती हैं और नाटक-रचना के विभागों का निदर्शन करने के लिये सन्धियाँ हैं। प्रधान प्रयोजन के साधक कथांशों का किसी एक मध्यवर्त्ती प्रयोजन के साथ होने वाले सम्बन्ध को सन्धि कहते हैं। सन्धियाँ पाँच हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। जहाँ बीज अर्थ-प्रकृति का आरम्भ दशा से संयोग होकर अनेक अर्थों और अनेक रसों की व्यञ्जना हो, वहाँ मुख सन्धि है; जैसे, 'रत्नावली' में नाटक के आरम्भ से दूसरे अङ्क के उस स्थान तक जहाँ रत्नावली राजा का चित्र अङ्कित करती है। मुख सन्धि में आविर्भूत बीज का जहाँ कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीति से विकास हो, वहाँ प्रतिमुख सन्धि होती है; जैसे 'रत्नावली' में प्रथम अङ्क में सूचित किया हुआ प्रेम दूसरे अङ्क में वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु होकर सुसङ्गता और विदूषक को ज्ञात हो गया—यहाँ वह प्रेम लक्ष्य हुआ, और वासवदत्ता ने चित्र के वर्णन से उसका कुछ अनुमान किया—यहाँ वह प्रेम अलक्ष्य सा हुआ। प्रतिमुख सन्धि में प्रयत्न अवस्था और विन्दु अर्थ-प्रकृति का संयोग होता है; 'रत्नावलि' के सागरिका का चित्र लेखन से दूसरे अङ्क के अन्त तक जहाँ वासवदत्ता राजा को सागरिका का चित्र देखते हुए पकड़ती है, प्रतिमुख सन्धि है। पहली सन्धियों में दिखाये हुए फलप्रधान के उपाय का जहाँ कुछ ह्रास हो और अन्वेषण से युक्त बार-बार विकास हो, वहाँ गर्भ सन्धि है। इस सन्धि में प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ प्रकृति का संयोग होता है, 'रत्नावली' के तीसरे अङ्क की कथा इस सन्धि का उदाहरण है। जहाँ प्रधान फल का उपाय गर्भ सन्धि की अपेक्षा अधिक विकसित हो, किन्तु शाप, क्रोध, विपत्ति, या विलोभन के कारण विघ्नयुक्त हो, वहाँ विमर्श सन्धि होती है। इस सन्धि में नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ-प्रकृति होती है, गोकि प्रकरी वैकल्पिक होती है अर्थात् हो भी और न भी हो। 'रत्नावली' में चौथे अङ्क तक जहाँ चारों ओर आग भड़क उठने के कारण गड़बड़ मच जाती है विमर्श सन्धि है। जहाँ पहली चारों सन्धियों में बिखरे हुए अर्थों का प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिये ठीक-ठीक समन्वय साधित किया जाय और प्रधान फल की प्राप्ति भी हो जाय, वहाँ निर्वहण सन्धि होती है। इस

सन्धि में फलागम अवस्था और कार्य अर्थ-प्रकृति का संयोग होता है। 'रत्नावली' में विमर्श सन्धि के अन्त से लेकर चौथे अङ्क की समाप्ति तक यही सन्धि है। प्रत्येक सन्धि के कई-कई अङ्ग माने गये हैं और सन्धियों के अन्तर्गत उपसन्धियाँ और अन्तर्सन्धियाँ भी मानी गई हैं। ऐसे सूक्ष्म भागों और उपभागों के निर्देश से प्रतिभा के स्वतन्त्र व्यापार का प्राचीन नाट्यशास्त्रियों ने अवरोध कर रखा है। आजकल के नाटकों में इन नियमों का पालन या विषयों का समावेश आवश्यक नहीं समझा जाता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखते हैं, "संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में उनका अनुसन्धान करना या किसी नाटकाङ्ग में इनको यत्नपूर्वक रखकर नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।" असली कारण दो हैं जिनसे शास्त्रीय नाटक का अनुकरण व्यर्थ है। पहला तो यह है कि वह जीवन की दशा जिसे प्राचीन नाटक व्यक्त करता है अब बदल गई है और साहित्य जीवन को प्रतिबिम्बित करता है। दूसरा कारण पाश्चात्य नाटक का प्रभाव है।

वंशानुसार नायक तीन तरह का होता है--दिव्य, अदिव्य, और दिव्यादिव्य अथवा अवतार। स्वाभावानुसार नायक चार प्रकार का होता है—शान्त, ललित, उदात्त, और उद्धत। चारों प्रकार के नायक में धीरता का गुण आवश्यक है, अधीरता स्त्री स्वभाव का लक्षण है। धनञ्जय के अनुसार नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद, शुचि, रक्तलोक, वाङ्मी, रुढ़वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, स्मृतिसम्पन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ़ तेजस्वी, और धार्मिक होना चाहिये। नायक की प्रिया नायिका कहलाती है। उसमें नायक के गुण होने चाहिये। नायिका तीन प्रकार की मानी गई है—स्वकीया, परकीया, और सामान्या। स्वकीया पतिव्रता, चरित्रवती, और लज्जावती होती है। परकीया विवाहिता और कुमारी दो तरह की होती है। प्रधान रस में विवाहिता का वर्णन नहीं होना चाहिये। सामान्य को गणिका भी कहते हैं। उसका प्रेम झूठा होता है और गोकि वह कलाओं में निपुण होती है; स्वभाव की धूर्त्ता होती है। सच्चे प्रेम के प्रदर्शन के लिये ही गणिका रूपकों में आनी चाहिये।

नाटक के कुछ और लक्षण ये हैं। नाटक का वृत्त इतिहास सिद्ध होना चाहिये, कल्पित नहीं। यहाँ पाश्चात्य मत भिन्न है। केवल भाव अथवा मुख्य विचार सच्चा होना चाहिये। उसे नाटक में विकसित करने के लिये घटना और पात्र कल्पित हो सकते हैं। यदि वृत्त ऐतिहासिक हो तो इतिहास को भी परिवर्तित किया जा सकता है। नाटक में विलास, समृद्धि आदि गुण और तरह-तरह के ऐश्वर्य का वर्णन होना चाहिये। सुख और दुःख की उत्पत्ति दिखाई जाय। कुछ बातों की केवल सूचना दी जाय। उन्हें रङ्गमञ्च पर न दिखाया जाय; जैसे, दूर से बुलाना, बध, युद्ध, राज्यविप्लव, विवाह,

भोजन, शाप, मलत्याग, मृत्यु, रमण, दन्तक्षत, नखक्षत, शयन, नगरादि का घिराव, स्नान, चन्दनादि का लेपन, और लज्जाकारी कार्य। नाटक का प्रधान खण्ड अङ्क कहलाता है। नाटक में पाँच से लेकर दस अङ्क तक हो सकते हैं। अङ्क में एक दिन से अधिक दिनों की घटनाएँ नहीं होना चाहिये। प्रत्येक अङ्क में शृङ्गार या वीर रस में कोई एक प्रधान रहना चाहिये और दूसरे रस गौण रह सकते हैं। अद्भुत रस अङ्क के अन्त में आना चाहिये। अङ्क इतना रसपूर्ण न हो कि व्यापार गति का बाधक हो जाय। दो अङ्कों के बीच में एक वर्ष तक का समय आ सकता है। रूपक के दो भेद दिये हैं—रूपक या नाटक और उपरूपक। रूपक दस हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, इहामृग, अङ्क, वीथी, और प्रहसन। उपरूपक अठारह माने गये हैं; नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका। रूपकों के भेद वस्तु, नायक, और रस के आधार पर किये गये हैं और यही तीनों रूपक के तत्त्व माने जाते हैं।

यह प्राच्य शास्त्रीयता है। साहित्य के रूपों के नियम निश्चित थे। साहित्यकार उन्हें मानते थे और साहित्यशास्त्री उन्हीं के अनुसार साहित्य-समीक्षा करते थे। महाकाव्यों की कथाएँ वाल्मीकीय 'रामायण', 'महाभारत', 'पुराण' और 'कथासरितसागर' से आती थीं। महाकाव्य के लेखकों ने प्रायः 'रामायण' का अनुकरण किया है। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, हर्ष, विल्हण, और परिमल कालिदास सब ने महाकाव्य के नियमों का पालन किया है। नाटक भी शास्त्रीय नियमों का पालन करते रहे; जैसे, 'शकुन्तला', 'मृच्छकटिक', 'अनर्घराघव', 'मुद्राराक्षस', 'वेणीसंहार', 'नागानन्द', 'प्रसन्नराघव', 'प्रबोधचन्द्रोदय', और 'अमृतोदय',। जब तब लेखक नियमों का उल्लङ्घन भी करते रहे। क्षेमेन्द्र 'औचित्यविचारचरचा' में भवभूति की उपेक्षा करता है कि उसने अपने नायक राम की कमज़ोरियों का अपने ग्रन्थ में वर्णन किया। भवभूति ने कड़ी आलोचनाओं से दुःखित होकर कहा था "समय का अन्त नहीं और पृथ्वी भी बड़ी है। किसी न किसी समय और कहीं न कहीं मुझ जैसा उत्पन्न होगा जो मेरी कृति को समझेगा और उसका गुण गावेगा; मुझ जैसा ही आनन्द उठावेगा।" भवभूति की यह भविष्य वाणी अब ठीक पड़ रही है। उसके नाटकों का जो आज आदर है वह पहले नहीं था। और भी नाटककारों ने नियमों को तोड़ा; जैसे भास ने रङ्गमञ्च पर मृत्यु दिखाई और राजशेखर ने विवाह कृत्य दिखाया। जैसा हम पाश्चात्य शास्त्रीयता के विषय में ऊपर कह चुके हैं वैसा ही यहाँ भी कहा जा सकता है। शास्त्रीय आलोचक ये बातें भूल जाता है। पहले साहित्य एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें परिवर्तन और विभिन्नता की कोई हद नहीं। दूसरे आलोचना साहित्यिक उत्पादन के पीछे-पीछे रहती है। जिस साहित्य के आधार पर शास्त्रीय नियम निर्धारित हुए थे उससे भिन्न शैली का साहित्य पीछे से आया। शास्त्रीय नियमों को लागू करने का अर्थ यह हो सकता है कि पीछे का साहित्य आगे के

साहित्य को निर्धारित करे। साहित्य वृद्धि की चीज़ है। वृद्धि से मतलब वैज्ञानिक विकास का नहीं है, कि आजकल का साहित्य पुराने साहित्य से बढ़ा-चढ़ा और ज्यादा सम्पूर्ण है। साहित्य में इस प्रकार विकास नहीं होता। प्राचीनकाल में सम्पूर्ण कला का उत्पादन हुआ, मध्यकाल में भी सम्पूर्ण कला का उत्पादन हुआ और आधुनिककाल में भी सम्पूर्ण कला का उत्पादन होता है। बात यह है कि एक काल की कलात्मक सम्पूर्णता से दूसरे काल की सम्पूर्णता भिन्न होती है और उसके जाँचने के नियम उसी काल की कला देती है। विकासवादी आलोचक जो पुराने साहित्य को आधुनिक साहित्य का अविकसित रूप मानता है, उतना ही गलत जाता है जितना कि शास्त्रीय आलोचक जो यह समझ बैठता है कि कलात्मक सम्पूर्णता प्राचीनकाल में हो गई थी और उसी कला पर आधारित नियम सदा के साहित्य पर लागू हैं। प्रतिभा नियमों के बन्धनों को तोड़ कर क्रियाशील होती है और अपनी आलोचना के नियम आप देती है। शास्त्रीय नियमों में वही नियम आलोचना को मान्य हो सकते हैं जो सौन्दर्यशास्त्रविषयक हैं और जो सदा के लिये सार्थक हैं—रसोत्पादन, वस्तुविन्यास, और गद्य-काव्य की काव्य में अन्तर्गणना।

३

शास्त्रीय के लिये अंग्रेज़ी संज्ञा क्लासिकल है। क्लासिकल संज्ञा रोम की राजकीय व्यवहारनीति से आई थी। मनुष्य, समाज में अपनी आमदनी के अनुसार क्लासों में विभक्त थे। कुछ मनुष्य दूसरी क्लास के, कुछ तीसरी क्लास के और कुछ चौथी क्लास के कहलाते थे; परन्तु जो पहली अथवा सबसे ऊँची क्लास के थे वे केवल क्लास के कहलाते थे। सबसे ऊँची क्लास के सम्बन्ध में 'पहली' संज्ञा का प्रयोग निष्प्रयोजन समझा जाता था। पहली क्लास का मनुष्य क्लासिकल कहा जाता था और बाकी सब निम्न क्लास के कहे जाते थे। इसी से क्लासिकल लेखक पहली श्रेणी का लेखक माना जाता था और क्लासिक पहली श्रेणी की कृति मानी जाती थी। पुनरुत्थान के समय यूनानी और रोमी विद्याओं के प्रति अधिक आदरभाव के कारण यूनानी और रोमी लेखकों को सब लोग क्लासिकल-लेखक कहते थे और उनकी कृतियों को क्लासिक्स कहते थे। आलोचना में क्लासिकल संज्ञा का प्रयोग बहुत दिनों तक ऐसे लेखकों और उनकी कृतियों के लिये रहा जो यूनानी और रोमी लेखकों और उनकी कृतियों का अनुकरण करते थे। परन्तु धीरे-धीरे क्लासिकल संज्ञा अर्थ में विस्तृत हुई जैसे ही कि लेखकों ने यूनानी और रोमी कृतियों का अन्धानुकरण करने की जगह उनकी वृत्ति ही का अनुकरण किया। शास्त्रीय वृत्ति की मुख्य विशेषता किसी वस्तु के वाह्य वैषयिक सौन्दर्य की खोज है।

दूसरी संज्ञा जिसके अर्थ का विस्तार भी क्लासिकल संज्ञा की तरह हुआ है, रोमांसिक है। दोनों संज्ञाएँ आलोचनात्मक वाद-विवाद में कला और साहित्य की दो विपरीत शैलियों की द्योतक हुईं; और इन दोनों में से एक संज्ञा दूसरी से प्रभावित हुई

जैसे ही कि उनमें से किसी एक का अर्थ विस्तृत अथवा सङ्कुचित हुआ। क्लासिकल संज्ञा का पूरा अभिप्राय समझने के लिये हमें दोनों संज्ञाओं पर साथ-साथ विचार करना उचित हो जाता है।

ओल्ड फ्रेञ्च के रोमान्स शब्द का अर्थ वर्नाक्यूलर अथवा वह ग्राम्य लैटिन है जो संस्कृत लैटिन से बिगड़ कर बनी थी। यह शब्द आसानी से ऐसी कथा अथवा कहानी के लिये प्रयुक्त होने लगा जो रोमान्स भाषा में लिखी जाती थी। ये कहानियाँ बहुधा क्षात्र-धर्मसम्बन्धी साहसिक शौर्य की होती थीं और एक सभ्यता के आदर्शीकृत जीवन से दूसरी सभ्यता की भाषा और रूढ़ियों में अनुवादित होती थीं। विषयवस्तु प्रायः रहस्य और कामप्रेरणा से परिपूर्ण होती थी। कहानी में न कोई सुसङ्गठित कार्यव्यापार होता था और न कोई चरित्र-चित्रण ही कौशलपूर्ण होता था। अपनी प्रभावोत्पादकता के लिये कहानी घटनाओं, वातावरण, वर्णन और वृत्ति पर निर्भर होती थी। जब रोमान्सिक संज्ञा का प्रयोग पहले पहल आलोचना में हुआ तो वह उन विशेषताओं की द्योतक हुई, जो रोमान्स भाषा में लिखी हुई कहानियों में पाई जाती थी, जैसे दूरस्थता, अयथार्थता, भावनात्मकता, अनियमितता, तर्कहीनता, रहस्यपूर्णता और कामुकता। इन विशेषताओं के विपरीत भावों का साहचर्य क्लासिकल संज्ञा के साथ हुआ; और जैसे कि शास्त्रीय कला की मुख्य विशेषता वाह्यरूप के सौन्दर्य की खोज मानी गई, रोमान्सिक कला की मुख्य विशेषता आध्यात्मिक सौन्दर्य की खोज मानी गई—आन्तरिक आत्मा रूप नियत करे न कि चित्रित वस्तु के वाह्य ब्यौरे। रोमान्स के फिर से जागरण के साथ रोमन्सिक संज्ञा में कल्पना की क्रियाशीलता के भाव का समावेश हुआ और इसके परिणामस्वरूप शास्त्रीय संज्ञा ने प्रकृत सत्य के आश्रय पर जोर दिया।

शास्त्रीयता और रोमान्सिकता आधुनिक आलोचना में दो विपरीत वृत्तियों की द्योतक हैं। प्रकृतता और नियमबद्धता शास्त्रीय वृत्ति को निश्चित करती हैं; जैसे कल्पनात्मकता और मुक्तता रोमान्सिक वृत्ति को निश्चित करती हैं। उदाहरण के लिये शिक्षा को लीजिये। मध्यकाल में सातों शुद्ध कलाओं को दो भागों में विभक्त किया जाता था, ट्रिवियम और क्वाड्रिवियम। ट्रिवियम में व्याकरण, भाषणकला और तर्क का समावेश था और क्वाड्रिवियम में गणित, ज्योतिष, रेखागणित और सङ्गीत का। शिक्षण की ऐसी प्रथा और आजकल के नियत पाठक्रमों की प्रथा शास्त्रीय कहलाई जायगी। इसके अतिरिक्त रोसो, गटे और कार्लायल की शिक्षण प्रथा रोमान्सिक कहलाई जायगी। इस प्रथा के अनुसार नियत पाठक्रमों का विलोप हो जाता है और बच्चे की शक्तियों का उसकी स्वाभाविक उत्सुकता की तुष्टि से विकास किया जाता है। धार्मिक क्षेत्र में प्रचलित विश्वास और पूजा-पद्धति को स्वीकार कर लेना और परम्पराधिकृत नीति से व्यवहार करना शास्त्रीयता है। इसके अतिरिक्त, विश्वास और पूजा-पद्धति की स्वतन्त्रता और आचरण को ऐसी सदसद्विवेक बुद्धि से नियमित करना जिसने जीवन-मूल्यों की परीक्षा करके उनका

समन्वय किया हो और जो प्राणिमात्र से एकस्वर होकर उत्कृष्ट हो गई हो, रोमान्सिकता है। राजनीति और समाज के क्षेत्र में स्थिति पालन और पदाधिकार तथा परम्परा का सम्मान शास्त्रीय वृत्तियाँ हैं। इसके अतिरिक्त उदारता और योग्यता, मौलिकता और व्यक्तित्व का आदर रोमान्सिक वृत्तियाँ हैं। इस सम्बन्ध में माइकेल रोबर्ट्स का विश्लेषण बड़ा सहायक है। वह पहले दो प्रकार की मनोवृत्तियों का एक-दूसरे से पृथक्करण करता है—धार्मिक और नैसर्गिक। एक प्रकार का मनुष्य होता है जो समझता है कि कोई वस्तु निर्पेक्षतया सत्य है, शिव है, अथवा सुन्दर है। दूसरे प्रकार का मनुष्य होता है जो समझता है कि कोई वस्तु उसी अपेक्षा में सत्य, शिव, अथवा सुन्दर है जिसमें कि वह मानव-हित की वृद्धि करती है। पहले प्रकार का मनुष्य निर्पेक्ष मूल्यों में श्रद्धा रखता है, और दूसरे प्रकार का मनुष्य मानव-हित को अन्तिम मूल्य समझता है। पहली मनोवृत्ति धार्मिक है और दूसरी नैसर्गिक। इन मनोवृत्तियों को हम और आगे विभक्त कर सकते हैं जैसे कि वे हमारी प्रज्ञात्मक माँगों की पूर्ति करती हैं अथवा भावात्मक माँगों की पूर्ति करती हैं। जब धार्मिक मनुष्य वाह्य मानदण्डों को स्वीकार कर लेता है, जिसका अर्थ है कि वह प्रज्ञात्मक माँगों का आदर करता है, तब वह शास्त्रीय है। जब धार्मिक मनुष्य अपनी अन्तर्दृष्टि के प्रामाण्य पर ही भरोसा करता है जिसका अर्थ है कि वह अपने अन्तर्वेगों का नेतृत्व पूरी तरह स्वीकार कर लेता है, तब वह मौलिक (फण्डामेण्टलिस्ट) है। इसी प्रकार जब नैसर्गिक मनुष्य अपनी प्रज्ञात्मक तुष्टि को ही मूल्य देता है, तब वह मानववादी (ह्यूमैनिस्ट) है। और जब नैसर्गिक मनुष्य अपने अन्तर्वेगीय निर्णय पर ही भरोसा करता है, तब वह रोमान्सिक है। शास्त्रीय मनुष्य क्योंकि वह एक अवैयक्तिक आदर्श का आधार लेता है, चरित्र (कैरेक्टर) विकसित करता है; और रोमान्सिक मनुष्य क्योंकि वह अपनी मूल प्रवृत्तियों पर विश्वास रखता है, व्यक्तित्व विकसित करता है। फलतः ऐसी व्यवस्था जो शास्त्रीय मनुष्य अपने जीवन में प्रदर्शित करता है, यान्त्रिक होती है। इसके अतिरिक्त, ऐसी व्यवस्था जो रोमान्सिक मनुष्य अपने जीवन में प्रदर्शित करता है, आङ्गिक होती है। शास्त्रीय और रोमान्सिक मनोवृत्तियाँ एक-दूसरे का वर्णन नहीं करतीं। वे दोनों एक ही काल में सम्भव हैं गोकि बौद्धिक परिस्थिति की विशिष्टता के कारण किसी काल में एक मनोवृत्ति प्रधान और दूसरी गौण हो जाती है। प्रायः एक मनोवृत्ति के बाद दूसरी प्रधान होती है। जब रोमान्सवादी के अन्तर्वेगों का निर्देश सीमा से कहीं अधिक मुक्त और दुर्दम हो जाता है, तो इस बात की आवश्यकता होती है कि उन्हें इस तरह अनुशासित किया जाय कि वे सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न न कर दें; और ऐसी दशा में रोमान्सिकता शास्त्रीयता के लिये रास्ता साफ कर देती है। इसी प्रकार जब अनुशासन और नियम कट्टरता से लागू होने लगते हैं और अत्याचारपूर्ण हो जाते हैं, तब मनुष्य उनके अत्याचार से अपनी मूल प्रवृत्तियों और संवेगों के आश्वासन में मुक्ति पाते हैं; और ऐसी दशा में शास्त्रीयता रोमान्सिकता के लिये मार्ग प्रशस्त कर देती है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के अतिरेक को ठीक कर देती हैं। मनोवैज्ञानिक विचार से शास्त्रीयता

अन्तर्व्यावर्तन से और रोमान्सिकता वहिर्व्यावर्तन से सम्बन्धित की जा सकती है। प्रत्येक मनुष्य में दो विरोधी मनोवृत्तियाँ पाई जाती हैं। कभी-कभी उसकी ऐसी चेष्टा होती है कि वह अपने पर से सब चेतन नियन्त्रण हटा दे और फिर से सामूहिक मन (कलैक्टिव माइण्ड) में प्रवेश कर जाय, जहाँ पर उसे आद्य प्रतिमाओं की सञ्चित राशि मिलती है। यही स्वप्न-संसार है। कभी-कभी उसकी ऐसी चेष्टा होती है कि अपने पर चेतन नियन्त्रण स्थापित करे और रूप, सौन्दर्य, अथवा आचरण के किसी आदर्श से अपने को शासित करे। इन्हीं दोनों विरोधी मनोवृत्तियों के सङ्घर्ष में कलाकृति का सृजन होता है। जब चेतन आदर्श अन्दर से उमड़-उमड़ कर आई हुई प्रतिमाओं पर विजय पा जाता है, तो शास्त्रीय कला का सृजन होता है; और जब आन्तरिक प्रतिमाओं का प्रचण्ड कोलाहल किसी चेतन आदर्श से व्यवस्थित नहीं हो पाता, तो रोमान्सिक कला सृजन होता है। इस प्रकार शास्त्रीय कला के सृजन में कलाकार का जीवन बाहर की दिशा में फिरा होता है जैसे कि रोमान्सिक कला के सृजन में कलाकार का जीवन अन्दर को फिरा होता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि शास्त्रीयता जीवन से सम्बद्ध है और स्वयं अपनी इच्छा से जीवन की कमियों को स्वीकार कर लेती है; इसके विपरीत रोमान्सिकता जीवन की कमियों से ऐसे संसार को पलायन है जहाँ स्वेच्छा और मूलप्रवृत्तियों का निरंकुश राज्य है। कलामीमांसा के विचार से, शास्त्रीय मनोवृत्ति व्यवस्थित रूप और नियम के परिपालन में आनन्द लेती है। उसे आशा का पूर्ण होना अच्छा लगता है, उसे पद्धति से प्रेम है और उसे परिवर्तन और अनियमितता से घृणा है। उसी से कला और जीवन की सब रूढ़ियों का उद्गम है। अपनी उच्चतम मर्यादा में वह शास्त्रीय वस्तुकला का निर्माण करती है तथा मिल्टन और पोप की परिमार्जित कविता का प्रणयन करती है। समष्टि के हित में अंशों की अधीनस्थता, निग्रहण, छाँट, समाप्ति, अलङ्कारों की उत्कण्ठा, और सम्पूर्णता की भावना ये ही शास्त्रीयता की विशेषताएँ हैं। अपनी निकृष्टतम गति में वे सब रूढ़िबद्धता में परिभ्रष्ट हो जाती हैं और हमें जड़ता की ओर अग्रसर करती हैं। नियम का पालन करना मौलिकता और रचनात्मक शक्ति के अभाव का बहाना हो जाता है। इसके विपरीत रोमान्सिक मनोवृत्ति, आकस्मिक विचित्रता और अनियमितता में आनन्द लेती है। वह नीरसता और अपरिवर्तनशीलता की उपेक्षा करती है। उसकी खोज आनन्दमय अनेकरूपता और नियम के अपवाद की होती है। छाँट की ओर नहीं, वरन् वैपुल्य की ओर उसकी रुचि होती है। वह समष्टि से विमुख हो अंश का पक्षपात लेती है। वह अपूर्णता की परवाह नहीं करती क्योंकि वह सब प्रकार के प्रतिबन्धों से अपने को मुक्त समझती है। वह अव्यक्त को व्यक्त करने का प्रयास करती रहती है और सदा दूर की किसी वस्तु की ओर दृष्टि लगाये रहती है।

आधुनिक आलोचना शास्त्रीयता और रोमान्सिकता को एक-दूसरे का विरोधी नहीं मानती है। वह रोमान्सिकता और यथार्थता को एक-दूसरे का विरोधी मानती है।

रोमान्स मनुष्यों को ऐसे चित्रित करता है जैसे वे होना चाहते हैं; यथार्थ उन्हें ऐसे चित्रित करता है जैसे वे हैं। रोमान्स जीवन का आदर्शीकरण करता है; यथार्थ जीवन को समझता है। रोमान्स का ज़ोर आन्तरिक अनुभव पर होता है जैसे ब्लेक के छायावाद में, बाइरन के आत्माभिमान में, और नीटशे के निराशावाद में; यथार्थ का ज़ोर बाह्यानुभव पर होता है अर्थात् वह जीवन को ऐसा वर्णित करता है जैसा वह हमें इन्द्रियों द्वारा प्रतीत होता है जैसे फ्लोबर्ट के मध्यश्रेणी जीवन के चित्रण में, वा ज़ोला के मानुषी स्वभाव के पाशविक पहलू पर ध्यान देने में या डिकिंस के मानवहित और विशेषतया इङ्गलैण्ड के सामाजिक सुधार की ओर रुचि में। रोमान्स जीवन से, उसकी निकटतम परिस्थितियों से, उसकी क्षुद्र निर्विशेषता से, वा उसके नैराश्य से पलायन है; यथार्थ जीवन की तुच्छ से तुच्छ अवस्थाओं को ग्रहण करता है, न कुरूपता से झिझकता है, न अधम से, न अश्लील से, और अकथनीय को कह डालने का प्रयास करता है। रोमान्स अपनी पुष्टि धर्म से, व्यक्त्यर्थप्राधान्यवाद से और अनुभवातीत तत्त्वज्ञान से लेता है; यथार्थ अपनी पुष्टि विज्ञान से, मानवहितप्राधान्यवाद से, और चेष्टाप्रधान मनोविज्ञान से लेता है। रचनाकौशल के विचार से, रोमान्स चरित्र-चित्रण को अधिक महत्त्व देता है और यथार्थ कार्य-प्रदर्शन को। गोकि यह भेद यों निष्फल हो जाता है कि चरित्र-घटना के निर्धारण के अतिरिक्त कोई और वस्तु नहीं है और घटना चरित्र के निदर्शन के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। आगे, रोमान्सिक लेखक अपने विषय से अपने ब्यौरे निकालता है और यथार्थवादी लेखक अपने ब्यौरों से विषय पर पहुँचता है। इस पिछले भेद की पुष्टि मनोविज्ञान भी करता है। एक प्रकार का मनुष्य होता है जो धीरे-धीरे रचनात्मक संश्लेषण करने में समर्थ होता है, और दूसरी तरह का मनुष्य होता है जो समष्टि का दर्शन सीधे एक क्षण में करता है और अपने ब्यौरे प्रयुक्त करता है। पहले प्रकार के मनुष्य को हम मननशील कहते हैं और दूसरे प्रकार के मनुष्य को अन्तर्दर्शक कहते हैं। यथार्थवादी पहले प्रकार का मनुष्य होता है और रोमान्सवादी दूसरे प्रकार का। यदि रोमान्स और यथार्थवाद का शास्त्रीयवाद से भेद करें तो हम कह सकते हैं कि जैसे रोमान्सवाद जीवन को भावनामय देखता है, यथार्थवाद जीवन को ज्यों का त्यों देखता है; शास्त्रीयवाद जीवन को वैसा देखता है जैसा वह होना चाहिये। सुधरा हुआ शास्त्रवाद संस्कृति के यूनानी और रोमी मानदण्डों को महत्त्व नहीं देता वरन् जीवन को पुराने अनुभव के प्रकाश में देखता है। परम्परा और अनुशासन के मानने से शिष्टता आती है। व्यक्तिगत मत को सन्दिग्ध माना जाता है। कला को उदासीन और अवैयक्तिक होना चाहिये। भावना से, जो मनुष्य-मनुष्य की भिन्न होती है, शास्त्रीयता डरती है और तर्कसम्मत बुद्धि को जो सब मनुष्यों के अनुभवों का सामान्य गुणक है, शास्त्रीयता ठीक समझती है।

४

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक वातावरण सुधरी हुई शास्त्रीयता के लिए विशेषतया उपयुक्त था। इस काल के मनुष्यों का विचार था कि सभ्यता समाज के ऊपरी दायरे तक सीमित है। इस दायरे से बाहर के सब मनुष्यों को वे अशिष्ट और पाशविक समझते थे। प्रत्यानयन का समाज अनियताचार के कारण भ्रष्ट हो गया था और इसी भ्रष्टाचार की प्रतिक्रिया में शिष्ट समाज प्रत्येक व्यापार में प्रशमन पसन्द करने लगा था। उन्हें उत्साह से ही नहीं वरन् धार्मिक गम्भीरता से भी भय था। उनके धार्मिक सिद्धान्त सदाशय और उपयोगिता के थे और प्रत्येक विचार को सिद्ध करने के लिए उनकी लगन तर्क की ओर रहती थी। उनका साहित्य अनन्तर्वेगीय था और उनका पद्य नीरस था। आवेगों से उन्हें घृणा थी और रचनात्मक शक्ति पर उनका कोई विश्वास न था। वे अभिव्यक्ति की चारुता और शुद्धता के लिये सब कुछ त्यागने को तैयार थे। इस धारणा की पुष्टि उन्हें प्राचीन साहित्य से मिलती थी। फलतः उन्होंने अपने आलोचनात्मक सिद्धान्त प्राचीन साहित्य से लिये और इन्हीं सिद्धान्तों को उन्होंने इतना व्यापक बनाने की कोशिश की जितनी वे कर सकते थे। उनमें इतना समझने की बुद्धि नहीं थी कि साहित्य भी जीवन की तरह वृद्धि की ओर अग्रसर होता है, और वे सिद्धान्त जो नया साहित्य सुझाता है उतने ही, अथवा उतने से भी अधिक, महत्त्वपूर्ण हैं जो पुराना साहित्य सुझाता है। उनमें यह भी समझने की क्षमता न थी कि प्रतिभा प्रकृति की देन है, और उसे नियम बनाकर उनसे नियन्त्रण करना ऐसी शक्ति को नियन्त्रित करने की धृष्टता दिखाना है जो नियन्त्रित नहीं हो सकती। वर्ड्सवर्थ पर्यालोचकों के अभ्यास पर शोक करता हुआ कहता है कि प्रत्येक लेखक जो महान् और मौलिक है, अपनी कृति में कुछ ऐसी बातों का समावेश करता है जो उसके पूर्वजों में मिलती हैं और ये बातें पुराने मान-दण्डों से जाँची जा सकती हैं; परन्तु जो बातें विशिष्ट रूप से उसकी ही हैं, उन्हें जाँचने के मानदण्ड वह स्वयं सुझाता है।

ऐसे ही सीधे सिद्धान्तों की अनभिज्ञता के कारण पुराने समय में आलोचकों ने साहित्य के मूल्य पर ऐसे निर्णय दिये जो मौलिक साहित्य के उत्पादन में बाधक साबित हुए। धीरे-धीरे आलोचकों ने लेखकों को नियम देने के बजाय उनसे नियम लेना सीखा। जैसा हम पहले कह चुके हैं, आदि के आलोचक किसी कृति की तुलना ग्रीक अथवा लैटिन की अत्युत्तम कृतियों से करते थे और समीक्षा के लिए उन नियमों का प्रयोग करते थे जो ग्रीक अथवा लैटिन के साहित्य पर आधारित थे। फ्रान्स के आलोचक बोयलो ने यह स्वीकार किया कि कोर्निल के करुण प्रशंसनीय थे, फिर भी उसने उनका इस विचार से तिरस्कार किया कि अरिस्टॉटल के कथनानुसार करुण के स्थायीभाव शोक और भय हैं, प्रशंसा नहीं। कोर्निल की यह आलोचना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। उस समय के साहित्यिक समाज ने कोर्निल को मौलिकता से शून्य कहा और फ्रेञ्च एकेडेमी को इसी पक्ष में अपना निर्णय

देने के लिये मजबूर किया। कोर्निल पर इस निर्णय का कोई बुरा प्रभाव न पड़ा। उसने एक ऐसा करुण लिखना आरम्भ किया जिसमें कोई आशय न था परन्तु जिसमें नियमों का सयत्न पालन हुआ था। नियमों का इससे अधिक और क्या तिरस्कार हो सकता था? रायमर शास्त्रीयता का कट्टर अनुयायी अवश्य था परन्तु गम्भीर आलोचक शास्त्रीय वृत्ति के होते हुए भी शास्त्रीय नियमों की पूर्णता के अविश्वासी थे। ड्राइडन, पोप, एडीसन और जॉन्सन को मानना पड़ा कि साहित्यिक उत्कृष्टता तरह-तरह की हो सकती है, एक ही तरह की नहीं। स्विफ्ट ने जिस कुत्सनापूर्वक हास्य के साथ प्राचीन और आधुनिक लेखकों के झगड़े को अपनी 'द बैटिल ऑफ़ द बुक्स' में लिया, उससे विदित होता है कि आधुनिक-लेखक आलोचकों और साहित्य के प्रेमियों को ऐसी तुष्टि दे रहे थे जिससे शास्त्रीय लेखक शास्त्रीयता के प्रति अपनी ऐकान्तिक आस्था में हिलने लगे थे। इस बात की सिद्धि से कि नियमों के दो भिन्न गण हो सकते हैं, आलोचकों को यह सूझ हुई कि साहित्यिक सौन्दर्य ही मुख्य प्रयोजन है और रचना के नियम केवल साधन हैं। इस प्रकार आलोचना का झुकाव ऐसे नियमों के परिपालन की ओर से जो पुराने साहित्य पर आधारित थे, सौन्दर्य के उन नियमों की ओर हुआ जो कलाविषयक सब कृतियों की रचना को नियन्त्रित करते हैं।

रचनाकौशल सम्बन्धी नियमों की ओर से साहित्यिक सौन्दर्य के नियमों की ओर आना—आलोचना का यह झुकाव स्वाभाविक है। दोनों पद्धतियों का सामान्य गुणक सार्वजनिक सम्मति है। रचनाकौशल सम्बन्धी नियम उन कृतियों से निकाले गये थे जो सर्वोत्कृष्ट थीं और जिनकी सराहना सब लोग करते थे। और वही वास्तव में सुन्दर है जिसकी सराहना देश और काल से सीमित नहीं है। पुरानी साहित्यिक कृतियों में सौन्दर्य था। भ्रान्ति इस बात में थी कि उन्हें यह न सूझा कि सौन्दर्य के अनन्त आविर्भाव हो सकते हैं और समय अपनी प्रगति में उन आविर्भावों का प्रदर्शन करता है। नियमों की अपर्याप्ति निस्सन्देह एक महत्त्वपूर्ण कारण था जिसने आलोचना को सौन्दर्यमीमांसाविषयक मानदण्डों की ओर झुकाया। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कारण इस सिद्धान्त की आनुक्रमिक सिद्धि थी कि समस्त कला अभिव्यक्ति है। यूनानियों का विश्वास था कि साहित्य रचनात्मक शक्ति की अपरिहार्य अभिव्यक्ति नहीं है किन्तु वह जीवन के उपादानों का वास्तविक अथवा काल्पनिक अनुकरण है। अतः कलात्मक उत्कृष्टता की जाँच उनके मतानुसार जीवन का अनुकरण थी; जहाँ तक कला में जीवन का अनुकरण ठीक हो, वहाँ तक कला उत्कृष्ट मानी जाय। रोम के मनुष्य व्यावहारिक थे। उनके विचार इस उद्देश्य पर केन्द्रित थे कि वे एक वृहद् रोमी साम्राज्य की स्थापना करें और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये नवयुवकों को उपयुक्त शिक्षा दें। स्वभावतः उन्होंने साहित्य को एक ऐसी उदात्त कला मानी जो मनुष्यों को उच्चादर्शों से प्रेरित कर सकती है। अतः साहित्य की परख के लिये उनका मानदण्ड राजनीतिक और सामाजिक उपयोगिता था। मध्यकालीन लेखक अपने साहित्य और अपनी कला को धार्मिक और नैतिक उद्देश्यों की पूर्ति का

साधन समझते थे। अतः उनका आलोचनात्मक मानदण्ड उपदेशपरक था। पुनरुत्थान और नवशास्त्रीय काल के मनुष्य कला को शिल्पवत् समझते थे, जिसकी सिद्धि शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन और यूनानी तथा रोमी कला की परम्परा के अनुसरण से हो सकती है। उसका आलोचनात्मक मानदण्ड शास्त्रीय था। आधुनिक काल की प्रवृत्ति कला को अभिव्यक्ति मानने की है। मैडेम डै स्टील साहित्य को समाज की अभिव्यक्ति मानती है। शैली कविता को काल्पना की अभिव्यक्ति मानता है। सेण्ट ब्यूव का सिद्धान्त है कि साहित्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। जौन स्टुआर्ट मिल का विचार है कि कविता अन्तर्वेगों की अभिव्यक्ति है। टेन ने यह सिद्ध किया कि साहित्य जाति, परिस्थिति और काल की अभिव्यक्ति है। एनातोल फ्रान्स और जल्स लैमेटर ने यह विचार विस्तृत किया कि साहित्य मन के तत्क्षणिक संस्कारों की अभिव्यक्ति है। क्रोचे कला को सहजज्ञानात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति मानता है। टॉल्सटॉय की धारणा है कि कला ऐसे अन्तर्वेग की अभिव्यक्ति है जिसकी अनुभूति कलाकार को हुई हो और जो दर्शक अथवा पाठक को निवेदित हुई हो। रस्किन कविता को वस्तु की ऐसी सङ्गीतात्मक अभिव्यक्ति मानता है जिससे पाठक में कल्पना द्वारा श्रेष्ठ अन्तर्वेगों की जागृति सम्भव हो। बोसाङ्के और लैस्लज़ि एबर्क्रोम्बी कला को सौन्दर्य मीमांसाविषयक अनुभव की अभिव्यक्ति मानते हैं। इन सब परिभाषाओं में कविता, अथवा साहित्य, अथवा कला किसी न किसी ऐसी वस्तु की अभिव्यक्ति है जो मनुष्य के मन के भीतर अथवा बाहर हो। प्रत्यक्ष है कि कला के मूल्य मापने के आधुनिक मानदण्ड अभिव्यक्ति के नियम हैं। अब कला की स्थापना पूरी तरह से कला-मीमांसाविषयक आधार पर हो जाती है और इस स्थापना के साथ-साथ ही आलोचना एकदेशीय प्रामाण्य के नियमों से ऊपर उठकर व्यापक प्रामाण्य के कलामीमांसाविषयक सिद्धान्तों को ग्रहण करती है।

५

कलामीमांसा (एस्थैटिक्स), अन्तर्दृष्टि (इण्ट्यूटिव) अथवा व्यञ्जक (एक्स-प्रेसिव) ज्ञान का विज्ञान है। वह साधारण विज्ञान अथवा प्राज्ञ (इण्टिलैक्चुअल) ज्ञान से अलग पहचाना जा सकता है। प्राज्ञ ज्ञान प्रत्ययों (कन्सैप्ट्स) अथवा सजातीय (स्पैसीफ़िक) उदाहरणों के साधारणीकरणों पर आधारित है; अन्तर्दृष्टि ज्ञान केवल संवेदनाओं (सैंसेशंस) पर आधारित है और उनकी अन्तःकरण द्वारा एकीकृत अभिव्यक्ति मात्र है। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि मीमांसा व्यक्तिकरण (इण्डीविजुलाइ-जेशन) करती है, जैसे विज्ञान साधारणीकरण करता है। क्योंकि प्रत्ययों की उपलब्धि एक ही जाति के व्यक्तियों के सादृश्य के प्रत्यक्षीकरण से होती है, बिना कलामीमांसा की सहायता के असम्भव है। इस प्रकार कलामीमांसा विज्ञान की उपकारक है।

फिर भी, कलामीमांसाविषयक व्यक्तीकरण अथवा अन्तर्दृष्टि में प्रत्ययों का समावेश हो सकता है। निस्सन्देह ऐसी भी अन्तर्दृष्टियाँ जिनमें प्रत्यय नहीं होते, जैसे सूर्यास्त का

दृश्य, ग्राम्य-दृश्य, प्रदेश, अथवा स्वयंप्रवृत्त शोक। परन्तु सुसंस्कृत मनुष्य की अन्तर्दृष्टियाँ बहुधा प्रत्ययों से समाविष्ट होती हैं। शेक्सपिअर की हैम्लैट की अन्तर्दृष्टि, जैसे वह डैन्मार्क के कूट वातावरण में क्लौडिअस के विनाश के लिये आगे बढ़ता है, बहुत से प्रत्ययों से भरी हुई है, विशेषतया स्वगतवचनों में। 'पैरैडाइज लॉस्ट' में एडम की अन्तर्दृष्टि वा 'पैरैडाइज़ रिगेण्ड' में क्राइस्ट की अन्तर्दृष्टि प्रत्ययों से विस्तृत है। परन्तु ऐसी कृतियों में प्रत्यय किसी अन्तर्दृष्टि के सरल तत्त्व की तरह देखे जाते हैं और ज्ञान की किसी विशेष व्यवस्था के अङ्गों की तरह नहीं देखे जाते। ऐसे उदाहरण जिनमें ज्ञान की किसी विशेष व्यवस्था के निर्माण के लिये अन्तर्दृष्टियों का उपयोग किया गया हो, प्लैटो या शोपनहावर की दार्शनिक कृतियों में मिलते हैं। जैसे ही वे अपनी व्यवस्थाओं का निर्माण करते हैं, वे अन्तर्दृष्टियों का अधिकता से प्रयोग करते हैं; परन्तु उनकी कृतियों में से प्रत्येक का परिणाम उसी प्रकार प्रत्यय की सिद्धि है, जिस प्रकार किसी प्रत्ययपूर्ण करुण नाटक या महाकाव्य का परिणाम अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि होती है।

अन्तर्दृष्टि की प्रत्ययों से स्वतन्त्रता स्थापित करना ही अन्तर्दृष्टि के ठीक बोध होने के लिये पर्याप्त नहीं है। बहुत से व्यक्ति यह जानते हैं कि अन्तर्दृष्टि प्रज्ञा (इण्टिलैक्ट) पर निर्भर नहीं है, फिर भी वे उसके उचित अर्थ को नहीं समझ पाते। कभी-कभी अन्तर्दृष्टि से प्रत्यक्षीकरण वा प्राकृतिक वस्तुओं का ज्ञान समझा जाता है। प्रत्यक्षीकरण अन्तर्दृष्टि अवश्य है। बस भेद इतना है कि प्रत्यक्षीकरण प्रकृत वस्तु का होता है और अन्तर्दृष्टि प्रकृत और अप्रकृत दोनों प्रकार की वस्तुओं की होती है। यदि किसी कारण से मनुष्य का मन अपने सब अनुभवों को बिल्कुल भूल जाय और इसके परिणामस्वरूप प्रकृत और अप्रकृत वस्तुओं के पहचानने की क्षमता उसमें नष्ट हो जाय, तो उसके सब प्रत्यक्षीकरण अन्तर्दृष्टियाँ होंगे। अन्तर्दृष्टि में हम बतौर अननुभवशाल पुरुष के अपने संस्कारों का विषयीकरण करते हैं। अगली भ्रान्ति यह समझने की है कि अन्तर्दृष्टि की क्रिया में हम अपने संवेदनों को देश (स्पेस) और काल (टाइम) से व्यवस्थित करते हैं। ऐसी

एस्थैटिक्स अँगरेजी में अब कलामीमांसा के अर्थ में प्रयुक्त होता जा रहा है। इस शब्द का अनुवाद सौन्दर्यशास्त्र हो सकता है परन्तु हमें यह अनुवाद बिल्कुल ठीक न मालूम हुआ। इसीलिये हमने इसका अनुवाद कलामीमांसा किया। एस्थैटिक्स संज्ञा भी है और विशेषण भी। जहाँ एस्थैटिक्स विशेषण के अर्थ में आया है वहाँ अनुवाद कलामीमांसा-सम्बन्धी अथवा कलामीमांसा-विषयक है। अँगरेजी एस्थैटिक्स कभी-कभी कलामीमांसा-सम्बन्धी वृत्ति के लिये भी आता है। जहाँ एस्थैटिक्स इस अर्थ में प्रयुक्त है वहाँ उसका अनुवाद कलामीमांसा-सम्बन्धी वृत्ति है। हमारी समझ में एस्थैटिक्स शब्द को अपना लेना चाहिये। हमने जहाँ-तहाँ एस्थैटिक्स शब्द का प्रयोग किया भी है। सौन्दर्य कला ही में होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य में प्रकृति कलाकार का स्थान ले लेती है और सौन्दर्य के अनुभव में मानसिक प्रतिक्रिया वही होती है जो कलात्मक सौन्दर्य के अनुभव में।

अन्तर्दृष्टियों में जैसी कि किसी फूल के रङ्ग की अथवा किसी शोक की आह की न हम देशीयता करते हैं न कालिकता। हमारी जिन अन्तर्दृष्टियों में देश अथवा काल का समावेश होता है, उनमें देश अथवा काल वस्तु सदृश होता है, रूपात्मक लक्षण की तरह नहीं होता। जब हम कोई सुन्दर चित्र देखते हैं, तो हमें देश की चेतना नहीं होती; जब हम कोई सुन्दर कहानी सुनते हैं, तो हमें कला की चेतना नहीं होती। अन्तर्दृष्टि स्वभाव का निरूपण करती है, देशीयता अथवा कालिकता का नहीं। अन्तर्दृष्टि को हमें संवेदना से भी अलग पहचानना चाहिये। संवेदना प्रकृति है। जब अन्तःकरण (स्पिरिट) संवेदना पर क्रियाशील होता है और उसे रूप प्रदान करता है, तब वह स्पष्ट अन्तर्दृष्टि हो जाती है। प्रत्यक्ष है कि अन्तर्दृष्टि में प्रकृति और अन्तःकरण का योग होता है। कभी-कभी भ्रान्ति से अन्तर्दृष्टि संवेदनाओं का साहचर्य (एसोसियेशन) समझी जाती है। अन्तर्दृष्टि संवेदनाओं का साहचर्य अवश्य है, परन्तु स्मृति में प्राप्त संवेदनाओं का नहीं या ऐसी संवेदनाओं का नहीं जो स्वतः खिची आयें। अन्तर्दृष्टि उत्पादक (प्रोडक्टिव) साहचर्य है जो वास्तव में अन्तःकरण की क्रियाशीलता से संश्लेषण के रूप में उपस्थित होता है। अन्त में हमें अन्तर्दृष्टि को प्रतिरूप अथवा प्रतिमूर्ति (रेप्रेज़ेण्टेशन) से अलग पहचानना चाहिये। यदि प्रतिरूप को संवेदनाओं का ऐसा चेतन विस्तार समझा जाय जो मानसिक दृष्टि को संवेदनाओं से कटा हुआ अलग दिखाई दे तो ऐसा प्रतिरूप अन्तर्दृष्टि है। यदि प्रतिरूप को केवल जटिल संवेदनाएँ समझा जाय तो वह अन्तर्दृष्टि नहीं है। यदि संवेदनाओं को हम पहले दर्जे का मनोत्पादन मानें तो उनके सम्बन्ध में हम प्रतिरूप को सीमित अर्थ में ही दूसरे दर्जे का मनोत्पादन कह सकते हैं। यदि दूसरे दर्जे के आशय में रूपात्मक भेद का समावेश है, तो प्रत्येक प्रतिरूप, क्योंकि वह संवेदनाओं से विस्तृत है, अन्तर्दृष्टि है। परन्तु यदि दूसरे दर्जे के आशय में मात्रा सम्बन्धी भेद है तो प्रतिरूप अन्तर्दृष्टि नहीं है। और फिर, यदि दूसरे दर्जे से मतलब अधिक जटिलता का हो तो प्रतिरूप ऐसे अर्थ में केवल प्रकृति है, अतः संवेदना है अन्तर्दृष्टि नहीं है। क्योंकि प्रत्येक अन्तर्दृष्टि का विषयीकरण मानसिक अभिव्यक्ति में होता है, अन्तर्दृष्टि आन्तरिक अभिव्यक्ति है। जिस संवेदना का विषयीकरण नहीं हो पाता वह कोरी संवेदना है। अन्तःकरण अभिव्यक्त करने में ही अन्तर्दृष्टि करता है। अतः जानना अभिव्यक्त करना है। कभी-कभी यह सुनने में आता है कि अमुक व्यक्ति जानता बहुत कुछ है परन्तु वह अपने ज्ञान को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। यह मनोवैज्ञानिक रीति से अयुक्त है। यदि किसी को अपने सञ्चित द्रव्य के विषय में भ्रम हो तो हम उससे कह सकते हैं कि उसे गिनो। हिसाब लगते ही भ्रम दूर हो जायगा। इसी प्रकार यदि किसी को अपने विचारों और प्रतिमाओं के विषय में भ्रम हो तो हम उससे कह सकते हैं कि उसे अभिव्यक्त करो। अभिव्यक्ति की कसौटी पर चढ़ते ही उसके ज्ञान की परीक्षा हो जायगी कि उसका इतना ज्ञान खरा है इतना ओखा।

कला अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति है। अन्तर्दृष्टि ऐसे संस्कारों की विस्तृति है जिनका अन्तःकरण द्वारा एकीकरण हो चुका है। कला वाह्य अभिव्यक्ति है, क्योंकि कला का उद्भव उस मूल प्रवृति में है जो अन्तर्दृष्टि को बहिःस्थ करने में तत्पर होती है। कला अपनी सम्पूर्णता को तब प्राप्त होती है, जब वह अन्तर्दृष्टि को ज्यों की त्यों अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है, जब वह आभ्यन्तर दर्शन का अपने माध्यम में फ़ोटोग्राफ़ होती है। यह निश्चय रूप से असम्भव है। कला आध्यात्मिक अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिये ऐसे प्रतीकों का प्रयोग करती है जो अनाध्यात्मिक हैं। किसी भी अनाध्यात्मिक माध्यम में आध्यात्मिक वस्तु को व्यक्त करने में उस वस्तु की हानि अवश्य होगी। स्पष्ट है कि समस्त कला सम्पूर्ण आध्यात्मिक अनुभव को निवेदन करने की दशा तक पहुँचने का प्रयास करती है। क्रोचे कला को शुद्ध अन्तर्दृष्टि से सीमित करता है। वह अन्तर्दृष्टि की वाह्य अभिव्यक्ति को कला मानने से इनकार करता है, क्योंकि वाह्य अभिव्यक्ति तो उसके मतानुसार व्यावहारिक इच्छा (प्रैक्टीकल विल) का फल है, उस इच्छा का जिसकी पूर्ति के द्वारा हम अपनी अन्तर्दृष्टियों को अपने और दूसरों के लिये सदा सुरक्षित रखना चाहते हैं। क्रोचे का यह मत इस तथ्य का साक्षी है कि कला की सम्पूर्णता स्वयं अन्तर्दृष्टि है। उसका यह मत पेटर के इस कथन की भी पुष्टि करता है कि सर्व सौन्दर्य अन्त में सत्य की सूक्ष्मता है, जिसे हम अभिव्यक्ति कह सकते हैं, अथवा जिसे हम आभ्यन्तर दर्शन के हित में भाषा की सूक्ष्मतर उपयुक्तता कह सकते हैं। कला के विषय में यह मत कि वह अन्तर्दृष्टि की विस्तृति है वा अन्तर्दृष्टि की अन्तर्दृष्टि है, ग़लत है। कलात्मक प्रतिभा तो अनुभव की आध्यात्मिक व्यवस्थिति है। विविध प्रकार के अनुभवों की एकीकृत व्यवस्थिति से उत्पन्न हुई मन की जितनी जटिल स्थितियों को कलात्मक प्रतिभा अभिव्यक्त करेगी, उतनी ही उत्कृष्ट होगी। साधारण पुरुष अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी भ्रमणक्षेत्र में ही नहीं वरन् अन्तर्दृष्टियों को सुगमता से व्यक्त करने की क्षमता में भी असमर्थ होता है। इस विचार से कलाकार और साधारण पुरुष में भेद केवल मात्रा सम्बन्धी (क्वाण्टिटेटिव) है, गुणसम्बन्धी (क्वालिटेटिव) नहीं और यह उक्ति कि कवि जन्म से होता है, यों समझनी चाहिये कि कुछ मनुष्य जन्म से बड़े कवि होते हैं और कुछ मनुष्य छोटे कवि। यदि कवि को जाति में भिन्न माना जाय तो उसे कोई मनुष्य न समझ सकेगा; और यदि वह ऐसे बने जैसे कि आरम्भ की उन्नीसवीं शताब्दी के रोमान्सिक कवि बनते थे तो वह उपहास्य होगा।

सर्व ज्ञान कला और विज्ञान या तत्त्वज्ञान के भीतर आ जाता है। इनके साथ इतिहास की गणना भी हो सकती है। प्रकृत संसार घटित वस्तुओं का संसार है, मूर्त्तता का संसार है, ऐतिहासिक तथ्य का संसार है। प्रकृत संज्ञा में भौतिक तथ्य और आध्यात्मिक अथवा मानुषिक तथ्य दोनों का समावेश है। समस्त प्रकृत संसार अन्तर्दृष्टि है, वह ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि है यदि उसे ऐसे प्रकट किया जाय जैसे वह यथार्थ में है।

वह कलात्मक अन्तर्दृष्टि है यदि उसे सम्भाव्य के रूप में प्रकट किया जाय अर्थात् कल्पना के विषय के रूप में। जब कि कला व्यक्तिशः अन्तर्दृष्टि है; विज्ञान सर्वशः प्रत्यय है। विज्ञान आत्मा का है, अर्थात् उस वास्तविकता का है जो व्यापक है। विज्ञान, तत्त्वज्ञान है। भौतिक विज्ञान सम्पूर्ण नहीं हैं क्योंकि वे उन प्रतिपत्तियों की राशियाँ हैं जिनका समाहरण स्वेच्छा से हुआ है और जो स्थिर हो गई हैं। वे मापती हैं, गिनती हैं, वर्गीकरण करती हैं, एकरूपताओं की स्थापना करती हैं, नियमों का प्रतिपादन करती हैं, और उत्पत्तियों की खोज करती हैं; परन्तु यह सब करती हुई वे निरन्तर उन तथ्यों में प्रवेश करती हैं जिनका ज्ञान अन्तर्दृष्टि अथवा इतिहास द्वारा होता है। ये अन्तर्दृष्टि अथवा इतिहास द्वारा ज्ञात तथ्य विज्ञानों के प्रतिबन्धक हैं। इन्हीं की प्रतिबन्धकता के कारण विज्ञान द्वारा खोजा हुआ सत्य सदा के लिये अमर सत्य नहीं होता। एक समय का प्रामाणिक सत्य आगे चलकर पौराणिक विश्वास अथवा स्वच्छन्द मिथ्यामति के स्तर पर आ जाता है। वैज्ञानिक लोग स्वयं कहते हैं कि उनकी उपपत्ति के आधार पौराणिक तथ्य, शाब्दिक हितोपाय अथवा रूढ़ियाँ हैं। गणितविषयक विज्ञान तो स्पष्टतया कल्पनाओं पर आधारित हैं। भौतिक विज्ञानों में जो कुछ सच है वह या तो तत्त्वज्ञान है या ऐतिहासिक तथ्य है। यह सिद्ध है कि ज्ञान के दो प्रधान रूप अन्तर्दृष्टि और प्रत्यय हैं—कला और विज्ञान या तत्त्वज्ञान। इतिहास प्रत्यय के सम्पर्क में आई हुई अन्तर्दृष्टि की उत्पादित वस्तु है अर्थात् मूर्त्त और व्यक्तिगत होता हुआ इतिहास दार्शनिक विशेषता पाई हुई कला से उत्पादित है। अन्तर्दृष्टि हमें भौतिक संसार का ज्ञान देती है और प्रत्यय हमें आध्यात्मिक संसार का ज्ञान देता है; और दोनों के अन्तर्गत आत्मा का समस्त औपपत्तिक (थ्यौरैटिक) ज्ञान आता है।

अब औपपत्तिक वृत्ति का व्यावहारिक वृत्ति से सम्बन्ध स्थापित करना शेष है। व्यवहार का स्रोत इच्छा अथवा क्रियात्मक शक्ति है। आध्यात्मिक शक्ति के औपपत्तिक धर्म से हम वस्तुओं को समझते हैं और उसी शक्ति के व्यावहारिक धर्म से हम उन्हें परिवर्तित करते हैं। परन्तु पहला धर्म दूसरे धर्म का प्रारम्भपद है। जैसे अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यय द्वारा प्राप्त ज्ञान का उपकारक है, वैसे ही औपपत्तिक ज्ञान व्यावहारिक क्रियाशीलता का उपकारक है। एक-एक करके सब वस्तुओं और वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को जाने बिना सङ्कल्प करना सम्भव नहीं है। यह कहा जा सकता है कि व्यावहारिक मनुष्यों की वृत्ति उपपत्ति करने की नहीं होती है, कि उनकी समस्त शक्ति एकदम क्रिया में लग जाती है। यह ग़लत है। व्यावहारिक मनुष्य को चाहे किसी दार्शनिक व्यवस्था का कोई ज्ञान न हो, परन्तु जिस क्षेत्र में वह काम करता है उसमें उसके प्रत्यक्षीकरण और उसके प्रत्यय बिल्कुल साफ़ होते हैं। यदि ऐसा न हो तो वह सङ्कलप करने में असमर्थ होगा। जहाँ वस्तुओं का ज्ञान और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान अपूर्ण होता है वहाँ या तो क्रिया होती ही नहीं और यदि होती है तो रुक जाती है।

सफल क्रियाशील मनुष्य के व्यवहार में औपपत्तिक क्षण का ध्यान ही नहीं हो पाता, समस्त कार्यक्रम शीघ्रता से होता है । जब औपपत्तिक क्षण दीर्घ हो जाता है, तब व्यावहारिक मनुष्य करुण पात्र बन जाता है। हैम्लैट की तरह कर्म की इच्छा और परिस्थिति के विषय में स्पष्टता के बीच वह अकर्मण्य हो जाता है। और यदि उसकी रुचि शुद्ध मनन की ओर हो या वह अन्वेषण के आनन्द में तुष्टि पाता हो तो वह कलाकार या तत्त्ववेत्ता हो जाता है; दोनों ही कर्मण्यता में असद् अथवा न्यून होते हैं। यह प्रत्यक्ष सत्य इस बात को साबित करता है कि कला व्यवहार से बिल्कुल स्वतन्त्र है। व्यवहार एस्थैटिक्स अथवा कलामीमांसाविषयक नहीं है। संस्कारों के सार्थक विस्तार में एस्थैटिक व्यापार समाप्त हो जाता है। संस्कारों के सार्थक विस्तार से परे कोई वस्तु एस्थैटिक नहीं है। यदि कलात्मक अभिव्यक्ति स्वयंप्रवर्तित न हो बल्कि एस्थैटिक अनुभव को स्थिर करने का चेतन प्रयास हो तो ऐसी कला भी कला नहीं है। एस्थैटिक व्यापार अर्थात् आन्तरिक अभिव्यक्ति के एकदम वाह्य अभिव्यक्ति में अनूदित होने से कलात्मक तथ्य की सिद्धि होती है। इस विचार से कला के प्रयोजन की खोज उपहास्य हो जाती है। अभिव्यक्ति मुक्त अन्तर्प्रेरणा है। कलाकार किसी विशेष प्रकार की अथवा किसी विशेष मूल्य की विषयवस्तु की खोज में नहीं रहता। यदि कोई आलोचक किसी कलाकृति की इस विचार से निन्दा करता है कि उसकी विषयवस्तु हानिकारक अथवा अनीतिक है तो उसका विचार कलामीमांसाविषयक नहीं माना जायगा, अयोग्य माना जायगा। यदि कुरूपता, दुराचार, अथवा दुराग्रह की अभिव्यक्ति सुनिपुण हो, तो कला उत्तम मानी जायगी और आलोचक अपना निर्णय उस कला के अनुकूल देगा। कलाकार जीवन के अनुभव में किसी प्रकार का निरोध नहीं दिखाता, ऊँच-नीच, भला-बुरा, सफलता-विफलता सब उसको ग्राह्य हैं और सब को व्यवस्थित करके वह सुन्दर बना देता है। कुरूपता, बुराई और विफलता, सुन्दरता, भलाई और सफलता की तरह गोकि सापेक्ष हैं पर जैसे सुन्दरता, भलाई, और सफलता की प्रतीति होती है वैसे ही कुरूपता, बुराई और विफलता की भी प्रतीति होती है और यदि कोई कलाकार इनसे प्रेरित होता है और उनकी अभिव्यक्ति को सुन्दर बनाता है तो कला की दृष्टि से वह कोई दुराग्रह का प्रदर्शन नहीं करता। यदि इसे कोई बुरी कला का समर्थन समझे तो वह भ्रान्ति में है। कला बुरी तभी कही जायगी जब विषयवस्तु अभिव्यक्ति के पद को नहीं पहुँच पाती, और कला अनुष्ण और असार कही जायगी यदि उसकी विषयवस्तु सम्पूर्णता से नहीं समझी गई और अभिव्यक्ति में सुव्यवस्थित नहीं है। कलाकार को एक ही नैतिक बन्धन है, निष्कपटता का, आन्तरिक दर्शन के प्रति अभिव्यक्ति में अन्त तक सच्चा रहे आने का। तत्त्वतः कला विज्ञान से, उपयोगिता से, नैतिकता से युक्त है। कला अनेकदा विज्ञान के, उपयोगिता के, और नैतिकता के सानुकुल होती है—यह अतत्त्वतः है। इस सानुकूलता में कोई अनिवार्यता नहीं है; कला में और विज्ञान या उपयोगिता या नैतिकता में कोई तादात्म्य नहीं।

औपपत्तिक क्रियाशीलता द्विगुण है, एस्थैटिक और तार्किक। इसी प्रकार व्यावहारिक

क्रियाशीलता द्विगुण है, आर्थिक (एकौनौमिक) और नैतिक। हम कह सकते हैं कि अर्थ व्यावहारिक जीवन की एस्थैटिक्स है और नीति उसका तर्क है। जब हम किसी प्रयोजन की सिद्धि का सङ्कल्प नैतिक धर्म से पूर्णतया उदासीन होकर करते हैं, तब हमारा सङ्कल्प आर्थिक होता है; जब हम किसी उपपन्न (रैशनल) प्रयोजन की सिद्धि का सङ्कल्प करते हैं, तब हमारा सङ्कल्प नैतिक होता है। नैतिकता से सङ्कल्प करना आर्थिकता से सङ्कल्प करना भी है, गोकि आर्थिकता से सङ्कल्प करना अनिवार्यतः नैतिकता से सङ्कल्प करना नहीं है। मैकीएवैली का सीज़र बोर्जिया, शेक्सपिअर का इआगो और बुकैशियो का सर साइपैलैटो अपने प्रयोजनों की सिद्धि में बड़े प्रबल सङ्कल्प से संलग्न होते हैं। उनकी क्रियाशीलता आर्थिक है, नैतिक नहीं। नैतिक मनुष्य में आर्थिक मनुष्य का-सा साहस और अभिनिवेश तो होता है ही; उसमें इन गुणों के साथ-साथ सन्त या वीर की-सी धर्मपरायणता भी होती है। यदि आर्थिक मनुष्य विफल होता है, तो उसका पछतावा आर्थिक ही होता है; परन्तु यदि नैतिक मनुष्य विफल होता हैं, तो उसका पछतावा नैतिक भी होता है और आर्थिक भी होता है। नैतिक मनुष्य में आर्थिक मनुष्य का भी समावेश होता है। जैसे विज्ञान का आधिपत्य एस्थैटिक अन्तर्दृष्टियों पर है, ठीक वैसे ही नीति का आधिपत्य सङ्कल्प-प्रवृत्तियों पर है। हम प्रत्यय पर तब पहुँचते हैं जब प्रज्ञा बहुत से एस्थैटिक कलामीमांसा-सम्बन्धी तथ्यों में कोई सामान्य गुण का निरीक्षण करती है; इसी प्रकार हम किसी नैतिक नियम तक तब पहुँचते हैं जब प्रज्ञा बहुत से आर्थिक कार्यों में किसी सामान्य गुण का निरीक्षण करती है। जैसे प्रत्येक तार्किक कथन का कलामीमांसा-सम्बन्धी पहलू होता है वैसे ही प्रत्येक नैतिक कार्य का उपयोगी पहलू होता है। जैसे कलामीमांसा-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि प्रतिबोध विषय या प्रकृति को जानती है और तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी प्रत्यय प्रतिबोधाधार (नौमिनॉन) या अन्तःकरण को जानता है; ऐसे ही आर्थिक क्रियाशीलता प्रतिबोध विषय या प्रकृति का सङ्कल्प करती है और नैतिक क्रियाशीलता प्रतिबोधाधार या अन्तःकरण का सङ्कल्प करती है। नैतिकता का सार अपने ही का सङ्कल्प करना है।

कलामीमांसा-सम्बन्धी, तार्किक, आर्थिक, और नैतिक—ये चारों वृत्तियाँ एक-दूसरे पर आलम्बित हैं। तार्किक वृत्ति का आलम्ब कलामीमांसा-सम्बन्धी वृत्ति पर है, आर्थिक वृत्ति का आलम्ब तार्किक वृत्ति पर है, और नैतिक वृत्ति का आलम्ब उसी तरह आर्थिक वृत्ति पर है जिस तरह समस्त व्यावहारिक वृत्ति का आलम्ब समस्त औपपत्तिक वृत्ति पर है। कलामीमांसा-सम्बन्धी वृत्ति सबसे अधिक स्वतन्त्र है और नैतिक वृत्ति सबसे कम। मानुषिक क्रियाशीलता की इन चारों वृत्तियों के अनुरूप प्रतिभा के चार रूप होते हैं—कलाकार यानी ऐसे मनुष्य जो अपनी एस्थैटिक अन्तर्दृष्टियों के लिये प्रख्यात होते हैं; जो एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न तत्त्वों में ऐक्य स्थापित कर देते हैं; तत्त्ववेत्ता या वैज्ञानिक मनुष्य जो तार्किक प्रत्ययों के लिये प्रख्यात होते हैं, जो प्रत्ययों की सम्पादित

व्यवस्था से उच्चतम प्रत्यय तक पहुँच सकते हैं; आर्थिक मनुष्य नैतिक विरक्ति के लिये प्रख्यात होते हैं, जो अपने प्रयोजन की सिद्धि में विस्मय दिलाने वाली संलग्नता से कार्य करते हैं; और अन्त में वीर पुरुष जो अपने नैतिक सङ्कल्प के लिये प्रख्यात होते हैं, जो अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को भी अपने आदर्श के लिये त्याग सकते हैं। पाँचवीं प्रकार की प्रतिभा अस्तित्व में ही नहीं है क्योंकि पाँचवीं प्रकार की मानुषिक क्रियाशीलता सम्भव नहीं है। उदाहरण के तौर पर कानून सम्बन्धी तथ्य आर्थिक और तार्किक क्रियाशीलताओं का सम्मिश्रण है; क्योंकि कानून ऐसे सूत्र (फॉरम्यूला) के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है जिसमें किसी विशेष व्यक्ति अथवा जाति द्वारा सङ्कल्प किया हुआ आर्थिक सम्बन्ध स्थिर किया जाता है। समाजशास्त्र तार्किक और नैतिक क्रियाशीलताओं का सम्मिश्रण माना जा सकता है। धर्म (रिलिजन) क्या है ? वह भी ज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है; या तो वह व्यावहारिक आकांक्षाओं और आदर्शों की व्याहृति है या वह ऐतिहासिक कथाओं की शृङ्खला है या ऐसा विज्ञान है जो माने हुए प्रत्ययों पर आधारित है। धर्म की जगह को अब तत्त्वज्ञान ले रहा है। पुरानी चाल का धर्म, विज्ञान की प्रगति के साथ अब गायब हो रहा है। हेतुप्राधान्यवादी धर्म अनुपपत्ति भी साफ जाहिर है, वह परस्पर-विरुद्ध बातों को मिलाने का प्रयत्न करता है। तत्त्वज्ञान, धर्म को किसी विशेष समय की संस्कृति के चिह्न की तरह समझता है, वह उसे ऐसी नश्वर ऐतिहासिक वस्तु मानता है, जो समय पर आती है और समय पर चली जाती है, वह उसे ऐसी मानसिक अवस्था मानता है, जो अगली मानसिक अवस्था को चिह्नित करती है। तत्त्वज्ञान कला, इतिहास और भौतिक विज्ञानों के साथ-साथ ज्ञान का भागधर है। जो व्यापक और रूपात्मक नहीं है, उसका तत्त्वज्ञान सम्बन्धी विज्ञान नहीं हो सकता। अतः अध्यात्मविद्या (मेटाफ़िज़िक्स) और गूढतत्त्ववाद (मिस्टीसिज़्म) असम्भव है। अन्तःकरण की चारों प्रकार की वृत्तियों में से एस्थैटिक, तार्किक और नैतिक वृतियों की प्रतिपत्ति सब ने की है, क्योंकि वे यथादर्श हैं। शुद्ध आर्थिकता असाधारण है, काव्य अथवा इतिहास में उल्लिखित ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत कम है जिन्होंने बिना किसी नैतिक आदर्श के सफलता से काम किया हो। आर्थिक क्रियाशीलता मानुषिक व्यवहार में सदा नैतिक क्रियाशीलता से मिली रहती है; क्योंकि मनुष्य तत्त्वतः नैतिक जीव है, उसका अर्थ नैतिक प्रयोजनों का अर्थ है। यह अर्थशास्त्र के विकास से भी स्पष्ट है जो पहले ऐतिहासिक था, फिर गणितविषयक हुआ, और अब उपयोगी क्रियात्मकता के प्रत्यय के स्तर को पहुँच रहा है।

कलामीमांसा का यह विवेचन क्रोचे के ऊपर आधारित है। उसने ही योरुप और अमेरिका की आधुनिक आलोचना पर प्रभाव डाला है। आई० ए० रिचार्ड्स अपनी 'प्रिन्सीपिल्स ऑफ़ लिट्रेरी क्रिटीसिज़्म' में उस पुराने सिद्धान्त को त्यागता है, जो कलामीमांसा-सम्बन्धी वृत्ति को और रुचि अथवा भाव की अवधारणा (जजमेण्ट) को एकरूप करता है। दोनों की एकरूपता का विचार उसके मतानुसार कैण्ट से शुरू हुआ। कैण्ट ने जैसे ही सत्य, सुन्दर, और शिव का विचार किया उसने सत्य को औपपत्तिक

बुद्धि से, सुन्दर को भावात्मक मनोवृत्ति से, और शिव को क्रियात्मक मनोवृत्ति से सम्बन्धित किया। आई० ए० रिचार्ड्स को मान्य है कि सत्य का सम्बन्ध औपपत्तिक बुद्धि अथवा विचार (थॉट) से है और शिव और इच्छा (विल) में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है; परन्तु उसे यह मान्य नहीं कि सुन्दर और भाव में कोई सम्बन्ध है। उसका कहना है कि सुन्दर को भाव से सम्बन्धित करने के प्रयास में सारे विषय का विवेचन गड़बड़ा गया है। यह प्रयास आजकल आमतौर से छोड़ दिया गया है। जैसे ही यह बात स्पष्ट हो गई कि सुन्दर को भाव से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता, तत्त्ववेत्ताओं को इस बात की फ़िक्र हुई कि मानसिक क्रियाशीलता की कोई ऐसी वृत्ति ढूँढ़ी जाय जो सुन्दर के अनुभव को स्पष्ट करे। इसी वृत्ति को उन्होंने कलामीमांसा-सम्बन्धी वृत्ति कहा। सत्य तो ज्ञानात्मक मनोवृत्ति के क्षेत्र में आया, शिव क्रियात्मक मनोवृत्ति के क्षेत्र में पड़ा, सुन्दर को तत्त्ववेत्ताओं ने कलामीमांसा-सम्बन्धी अथवा ध्यानात्मक मनोवृत्ति को दिया। क्योंकि एस्थैटिक (कलाभीमांसा-सम्बन्धी वृत्ति) संज्ञा की अन्वेषणा ऐसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये हुई, इस निष्कर्ष का साक्ष्य एस्थैटिक्स (कलामीमांसा-सम्बन्धी वृत्ति) की उस प्रचलित परिभाषा में मिलता है जिसके अनुसार एस्थैटिक वस्तुओं के साथ व्यापार का वह ढङ्ग है जो न तो उनके स्वभाव की खोज करता है, कि वस्तु का सत्य क्या है, और न उनको इच्छा पूर्ति का साधन मानता है कि वस्तु किस प्रकार हमें उपयोगी हो सकती है। कलामीमांसा-सम्बन्धी वृत्ति (एस्थैटिक) इस प्रकार आदर्शवाद का अङ्ग निश्चित की गई और कलामीमांसा-सम्बन्धी (एस्थैटिक्स) अनुभव को असम्बन्धित कहा गया। कलामीमांसा-सम्बन्धी अनुभव का विशिष्ट स्वभाव दो तरीकों से स्थिर किया गया। कुछ मनुष्यों की यह मति हुई कि एक विचित्र प्रकार का मानसिक तत्त्व अर्थात् एस्थैटिक अन्तर्वेग हमारे कलामीमांसा-सम्बन्धी अनुभव को निर्दिष्ट करता है, और कुछ दूसरे मनुष्यों की यह मति हुई कि कलामीमांसा-सम्बन्धी अनुभव का विशेष लक्षण आत्मप्रेषण (एम्पैथी) है। परन्तु मनोविज्ञान में कलामीमांसा-सम्बन्धी (एस्थैटिक) अन्तर्वेग जैसे मानसिक तत्त्व का कोई स्थान नहीं है और आत्मप्रेषण और बहुत से मानसिक अनुभवों की विशेषता है, एस्थैटिक अनुभव की ही नहीं। क्रोचे की तरह आई० ए० रिचार्ड्स का एस्थैटिक का प्रतिपादन बिल्कुल औपपत्तिक है। एस्थैटिक अनुभव साधारण औपपत्तिक अनुभव जैसा है, बस उसका रूप एक विशेष प्रकार का होता है। रूप की विशेषता ऐसे गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं रखती जैसे उदासीनता (डिसइण्टरेस्टैडनैस), वियोग (डिटैचमैण्ट), फैसला, अवैयक्तिकता, और आन्यिक व्यापकता (सबजैक्टि यूनीवर्सैलिटी) जो अक्सर अनुभव के खास गुण माने जाते हैं। यह गुण तो आई० ए० रिचार्ड्स के मतानुसार अनुभव के निपात से सम्बन्धित हैं, निवेदन की दशा या उसके असर की विशेषताएँ हैं। यही गुण ऐसे मानसिक अनुभव को परिभाषित करते हैं जिसका तात्त्विक रूप उसके विशेष मूल्य पर अवलम्बित है। जो मूल्य सीधे

जीवन से ही अनुभव में आता है वही अनुभव को उसकी कलामीमांसा-सम्बन्धी (एस्थैटिक) विशेषता देता है। कलामीमांसा-सम्बन्धी अनुभव में प्रकार-प्रकार की प्रेरणाएँ समतोलन (बैलैंन्स) पा जाती हैं। जो मनुष्य कलामीमांसा-सम्बन्धी वृति से जीवन का अनुभव करता है उसके अनुभव में निरोध (इन्हिविशन) नहीं होता। वह अपनी शारीरिक और मानसिक व्यवस्था में ऐसे स्थान बना लेता है, जहाँ तरह-तरह की प्रेरणाओं के विभिन्न हक एकताल हो जाते हैं। ऐसे अनुभव जिनमें या तो अनुरूप प्रेरणाओं की तुष्टि होती है या थोड़ी बहुत प्रेरणाओं की तुष्टि होती है— निम्नश्रेणी के अनुभव हैं। उच्चतम श्रेणी के अनुभव वे हैं जिनमें विरुद्ध प्रेरणाओं का सन्तुलन हो जाता है। ऐसे अनुभवों में रूढ़ि और अन्धविश्वास जो हमारी प्रेरणाओं के अटोक साहाय्य में बाधा लाते हैं, प्रभावहीन हो जाते हैं। ऐसे अनुभवों में ऐसी प्रेरणाओं की साथ-साथ तुष्टि होती है जिनका साथ-साथ होना साधारण पुरुष को विस्मय ही नहीं वरन् अकाण्डक्षोभ देता है। कलामीमांसा-सम्बन्धी अनुभव में हमारी मानसिक क्रियशीलता मूलतः विभिन्न नहीं होती; बस मन प्रेरणाओं के साहाय्य में रूढ़िगत काम करने से मुक्त हो जाता है। कलामीमांसा-सम्बन्धी अनुभव ही सौन्दर्य के अनुभव कहे जाते हैं। जैसा स्पष्ट है, यह अनुभव साधारण अनुभव से बढ़े-चढ़े होते हैं; उनमें और एस्थैटिक अनुभवों में जटिलता का और निर्मायक तत्त्वों के सम्बन्ध में घनिष्ठता का अन्तर होता है। जितने अधिक मूल्य या सुन्दरता का अनुभव होगा उसमें उतनी ही जटिलता होगी और उसके निर्मायक तत्त्वों में उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध होगा। जटिलता का अर्थ यहाँ एक साथ तुष्टि पाने वाली प्रेरणाओं की विभिन्नता और उनकी संख्या से है।

यहाँ तक तो आई०ए० रिचार्ड्स क्रोचे से सहमत हैं परन्तु निवेदन (कम्यूनीकेशन) के विषय में दोनों में बड़ा मतभेद है। क्रोचे के मत से निवेदन एक व्यावहारिक तथ्य है, वह क्रियात्मक मनोवृत्ति का व्यापार है, वह किसी अनुभव को सुरक्षित रखने अथवा उसे फैलाने की इच्छा से निष्पन्न होता है, और इन्हीं कारणों से वह कला से वाह्य है; इसके विरुद्ध आई० ए० रिचार्ड्स का कहना है कि निवेदन कला का तात्त्विक धर्म है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य ने सामाजिक मन विकसित किया है। जो कुछ वह करता है, चेतन रूप से या अचेतन रूप से, सब दूसरों से निवेदित करता है। चलने की क्रिया, पहनने की क्रिया, खाने की क्रिया, रहने-सहने की क्रिया, सब दूसरों से निवेदित होती हैं। एस्थैटिक-क्रिया भी इन्हीं के अनुरूप निवेदित होती है। वही एस्थैटिक अनुभव ठीक माना जाता है जो निवेदन में सफल होता है। अतः कलामीमांसा-सम्बन्धी अनुभव के प्रत्यय में ही निवेदन की आवश्यकता समाविष्ट है जैसे नाटकीय अनुभव के प्रत्यय में रङ्गमञ्च का विचार समाविष्ट है। बौसाङ्क्वे कला के लिये निवेदन की अनिवार्य आवश्यकता का दार्शनिक समर्थन करता है। हम किसी एस्थैटिक आकार (सैम्बलैन्स) से उसकी आत्मा को इसीलिये खींच ले जाते हैं कि उसे किसी दूसरे आकार में प्रविष्ट करें, क्योंकि आत्मा का

शरीर में प्रवेश करने का स्वभाव है। परन्तु क्रोचे और आई० ए० रिचार्ड्स एस्थैटिक्स को अनात्मिक प्रकृति (ऑब्जैक्टिव रियैलिटी) से सम्बद्ध करने में सहमत हैं और मन की इच्छा के अनुसार प्रकृति का आदर्शीकरण एस्थैटिक्स के लिए गलत समझते हैं। दोनों ही को भाव का रचनात्मक धर्म मान्य नहीं है; क्रोचे भाव को आर्थिकता से एक कर देता है और आई० ए० रिचार्ड्स जो भाव को सुख-दुःख से सीमित करता है, भाव को केवल इस बात का द्योतक मानता है कि अभिवैयक्तिक क्रियाशीलता किस प्रकार आगे बढ़ रही है, सफलता की ओर या विफलता की ओर। यदि कलाकार अपने अनुभव को सफलता से अभिव्यक्त कर पाता है तो उसे सुख की अनुभूति होती है और यदि वह अपने अनुभव को अभिव्यक्त करने में विफल होता है तो उसे दुःख की अनुभूति होती है। यह अनुभूति जो अभिव्यक्ति की क्रिया के बाद में पूरी मात्रा में स्फुट होती है, कलाकार को बतला देती है कि कलासृजन में वह सफल हुआ या विफल। आई० ए० रिचार्ड्स का सिद्धान्त स्टाउट के सिद्धान्त के अनुरूप है जो सुख को ईहन के ठीक-ठीक अग्रसर होने की क्रिया का सहवर्ती मानता है। आई० ए० रिचार्ड्स बहुत से पाश्चात्य और प्राच्य साहित्यशास्त्रज्ञों की तरह सुख की अनुभूति को अलग से कला का अन्तिम प्रयोजन नहीं मानता। उसके मतानुसार कला सुख के हेतु नहीं है, केवल अभिव्यक्ति अथवा निवेदन के हेतु है। क्रोचे के मतानुसार कला आन्तरिक अभिव्यक्ति अर्थात् अन्तर्दृष्टि के हेतु है। आई० ए० रिचार्ड्स का मत इस विषय में ठीक है। क्रोचे तो कला को आन्तरिक अभिव्यक्ति से सीमित करके उसका वांस्तविक अस्तित्त्व ही मेट देता है।

क्रोचे ने जो कला की परिभाषा दी है कि वह अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति है, वह तभी ठीक मानी जा सकती है जब हम अन्तर्दृष्टि को मन अथवा माध्यम में रूप का प्रत्यक्षीकरण समझें। यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी गई है कि प्रत्येक कला का आदर्श मन में प्रत्यक्षीकृत रूप का माध्यम में ठीक-ठीक व्यक्त करना है। रूप के समझने में आलोचना बड़ी विभिन्नता दिखाती है। कोई कलाकार उसे किसी अर्थ में लेता है और कोई कलाकार किसी और अर्थ में और एक ही कलाकार भिन्न-भिन्न अवसरों पर उसे भिन्न-भिन्न अर्थों में लेता है।

पहले, रूप शास्त्रीय अथवा परम्परागत हो सकता है, आकृति, रूपरेखा, या साधारण विधि। ऐसे रूप का निर्धारण कलाकृतियों के निरीक्षण और अध्ययन से होता है और कलाकार निर्धारित रूप को नमूने या ढाँचे की तरह ग्रहण करके नई रचनाओं की सृष्टि करते हैं। वह रूप पूर्वनिश्चित होता है और कलावस्तु को उसके वश में आना होता है। महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, गीति, इन सबके रूप पूर्वनिश्चित रूप हैं और लेखकों को इच्छित काव्य के उत्पादन के लिए अपनी वस्तु को उसी काव्य का पूर्वनिस्चित रूप देना होता है।

दूसरे, रूप से किसी वस्तु का वास्तविक सार अथवा उसके अस्तित्व की पूर्ति का नियम भी समझा जाता है। जब कला का लक्ष्य ऐसे रूप का प्रत्यक्ष निरूपण होता है तो कला के संसार और तथ्य के संसार में कोई अन्तर नहीं रह जाता। कला वास्तविक संसार का शुद्ध सत्य हमारे सम्मुख लाती है। हमें वस्तुओं और अपनी अन्तरात्माओं के व्यक्तित्वों का ठीक-ठीक ज्ञान देती है। हमें अपने और वस्तुओं के व्यक्तित्वों की सुधि नहीं हो पाती, क्योंकि हमारे मन औपपत्तिक अथवा व्यावहारिक क्रियाशीलता में निमग्न रहते हैं। यही निमग्नता एक परदे की तरह प्रकृति और हमारे बीच में तथा हमारे और हमारी चेतना के बीच में आ जाती है और प्रकृति के और अपने वास्तविक रूप को देखने से हमें वञ्चित रखती है। हमारा जीवन वस्तुओं के उपयोगी पहलू को ग्रहण करके सन्तुष्ट हो जाता है और वस्तुओं के दूसरे पहलुओं के संस्कार धीमे, अस्पष्ट, और धूँधले हो जाते हैं। किसी वस्तु का हमारा ज्ञान उस वस्तु की प्रकृति का केवल व्यावहारिक पहलू है। वाह्य वस्तुओं का सार ही नहीं वरन् हमारी मानसिक अवस्थाओं का सार भी हम से छिपा रहता है। उनके आन्तरिक सत्य से, उनकी वैयक्तिक विशेषता से, उनके वास्तविक जीवन से हम बिल्कुल अपरिचित रहते हैं। जब हम किसी को प्रेम करते हैं और कहते हैं कि अमुक को हम प्रेम करते हैं, जब हम किसी से घृणा करते हैं और कहते हैं कि अमुक से हम घृणा करते हैं, दोनों सूरतों में हमारे वास्तविक अनुभव को प्रेम और घृणा व्यक्त नहीं करते। स्वयम् शब्द ही हमको धोखा देते हैं। वस्तुओं के नाम पर उन्हें किसी हेतु से अनुभव करने की छाप लगी रहती है। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को छोड़कर बाकी सब संज्ञाएँ जाति-धर्म की द्योतक हैं और वस्तुओं के बहुत ही साधारण व्यापारों और उनके बड़े सामान्य पहलुओं को व्यक्त करती हैं। साधारणतः हम अपने भावों के केवल अवैयक्तिक पहलू ही समझ पाते हैं, उन्हीं पहलुओं को जिन्हें भाषा ने अन्तिम रूप में हमेशा के लिए व्यक्त कर दिया है, क्योंकि भाव सब मनुष्यों के लिए एक सी दशाओं में एक सा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार, हम जातित्वों और प्रतीकों के घेरे में भ्रमण करते रहते हैं, और अपने और वस्तुओं के मध्यवर्त्ती मण्डल में जीवन व्यतीत करते हैं। वस्तुओं के प्रति ही नहीं, अपने प्रति भी पारदेशिक होते हैं। कभी-कभी मानो शून्यमानसता की अवस्था में, प्रकृति ऐसी आत्मा को जन्म देती है, जो जीवन से अधिक से अधिक मात्रा में विरक्त होती है। वैराग्य ऐसी आत्मा की इन्द्रिय और चेतना की निर्मिति में ही अन्तर्जात होता है। ऐसी आत्मा का वैराग्य जीवन का शुद्ध रूप में अनुभव करने से प्रकट होता है। यदि आत्मा में यह वैराग्य पूर्ण हो तो वह आत्मा एक ऐसे कलाकार की आत्मा होगी, जो संसार में पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ। ऐसा कलाकार सब वस्तुओं को उनके तात्त्विक रूप में देखेगा, भौतिक संसार के शब्दों, रङ्गों और रूपों का और आन्तरिक जीवन की सूक्ष्मतम गतियों का असली रहस्य वह साक्षात् देखेगा। तथ्य की पूर्ण निर्मिति का निरीक्षण और उपयुक्त माध्यम में उसका पुनरुत्पादन—यही कला की निष्पत्ति है। इस व्यापार में कला हमें

सत्य का ज्यादा सरल दर्शन देती है और प्रकृति एवं मानव जीवन के हमारे ज्ञान को दृढ़ करती है।

तीसरे, रूप से मतलब आदर्श रूप से भी होता है। इस रूप के प्रत्यक्षीकरण में कला यथार्थत्त्व से आगे बढ़ जाती है। कोलरिज ने कहा था कि यदि कलाकार यथार्थ का अनुकरण करे तो यह व्यर्थ की प्रतिस्पर्द्धा होगी, क्योंकि नकल असल को कभी पहुँच ही नहीं सकती। कलाकार प्रकृति को अधिक सुन्दर रूप में हमारे सामने उपस्थित करता है। कला एक दूसरे परिवर्तित संसार की सृष्टि करती है जिसका प्रयोजन एक ऐसी तुष्टि होती है जो निर्णीत तथ्य की तुष्टि से भिन्न होती है। परिवर्तित संसार जिसकी सृष्टि कला करती है, परिचित संसार के आधार पर रचा जा सकता है, किसी वस्तु के अपूर्ण उदाहरणों से कलाकार उस वस्तु की पूर्णता के प्रत्यय को पहुँच जाता है। इस प्रत्यय के पहुँचने में वह वस्तु के कुछ ब्योरों को त्याग देता है, कुछ ब्योरों को ग्रहण कर लेता है, कुछ ब्योरे और शामिल कर देता है। इस प्रत्यय के अनुरूप वस्तु का परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप कल्पित करना ही आदर्शीकरण कहलाता है। आदर्शीकरण कल्पना द्वारा हो सकता है और आदर्शीकरण अनुमानात्मक बुद्धि द्वारा भी हो सकता है। अनुमानात्मक बुद्धि द्वारा कला किसी वस्तु के नियम तक पहुँच जाती है, उस साधारणीकृत सामान्य तत्त्व को पहुँच जाती है जिसके आधार पर वह वस्तु अपने वर्ग की दूसरी वस्तुओं के सदृश होती है। वस्तु के पाये हुए नियम की सिद्धि उस वर्ग की किसी देखी हुई वस्तु में नहीं मिलती। वस्तु के प्रत्यय की प्राप्ति चाहे कल्पना द्वारा हुई हो चाहे आगमनात्मबुद्धि द्वारा हुई हो, कला का उद्देश्य प्रत्यय को मूर्त्तिमय करना है। कला में आदर्शीकरण की शुरूआत प्लैटो से ही समझनी चाहिये। प्लैटो प्रत्यय को ही सारभूत तथ्य मानता था। प्रत्येक वस्तु का, चाहे वह मूर्त्त हो चाहे अमूर्त्त, प्रत्यय होता है। प्लैटो के प्रत्यय वे ही हैं जिन्हें आधुनिक तत्त्वविद्या नियम कहती है, जिन्हें अरिस्टॉटल कैटेगरीज़ अथवा ऐसे व्यापक रूप कहता था जिन के द्वारा हम वस्तुओं का ध्यान करते हैं, जिन्हें भौतिक विज्ञान प्रकार (टाइप) अथवा जाति (स्पीशीज़) कहता है। प्रत्ययों का एक अलग संसार है जिसका इन्द्रिय का संसार अनुकरण है। जैसे इन्द्रिय के संसार में वस्तुओं की श्रेणी-बद्धता है वैसे ही प्रत्ययों के संसार में प्रत्ययों की श्रेणी-बद्धता है। जैसे दृश्यजगत् में अस्तित्त्वों का उच्चतम से निम्नतम तक अनुक्रम है, वैसे ही उसके आदर्श अदृश्य जगत् में प्रत्ययों का उच्चतम से निम्नतम प्रत्ययों का तथावत् अनुक्रम है। यह अदृश्य जगत् स्वयं अमूर्त्त परब्रह्म है। परब्रह्म उसी प्रकार प्रत्ययों की समष्टि है जिस प्रकार विश्व या दृश्य जगत् वस्तुओं की समष्टि है। प्राकृतिक वस्तुएँ अपने आदर्श प्रत्ययों के प्रतिरूप हैं उनका अपने आदर्श प्रत्ययों से वही सम्बन्ध है जो आहार्य्यधर्म का तात्त्विक धर्म से सम्बन्ध है। प्रत्यय को अपने अनुरूप प्राकृतिक वस्तु से मिलाने वाला कारण दैविक कल्याण (डिवाइन गुडनेस) है। गोकि प्रकृति प्रत्यय को किसी प्रकार रोक नहीं सकती, क्योंकि प्रत्यय सर्वथा

अप्रतिबद्ध है, फिर भी वह प्रत्यय की क्रियाशीलता में बाधा डालती है। प्रकृति, प्रत्यय की क्रिया का आवश्यक साधन भी है और उसकी क्रिया की नित्य रुकावट भी है। प्रकृति की सहकारिता प्रतिरोध है। वह उस शक्ति का विरोध करती है जो सम्पूर्ण है और इसी कारण असद्, परिवर्तन और असम्पूर्णता का आद्य कारण है। कलाकार वैराग्न के कारण उस शक्ति को प्राप्त कर लेता है जिसके द्वारा वह निःसीम प्रत्यय का अन्तर्दर्शन कर सकता है और उस अन्तर्दर्शन को अपने माध्यम में यथाशक्ति व्यक्त कर सकता है। आदर्श रूप की यह पहुँच आध्यात्मिक है।

चौथे और अन्त में, रूप से मतलब कलात्मक रूप का हो सकता है। यही वास्तविक रूप है जो कलाकार के उस इन्द्रियार्थ माध्यम से प्रतिबद्ध होता है जिसमें वह काम करता है। कलाकार का प्रकृति और जीवन-विषयक दर्शन उसी प्रकार अपने को उसके माध्यम से उपयुक्त कर लेता है जिस प्रकार हमारे अनुभव का प्रत्यक्षीकरण अपने को हमारी भाषा से उपयुक्त कर लेता है। यह कहना ग़लत न होगा कि प्रत्येक कलाकार जीवन का अनुभव अपने माध्यम द्वारा करता है। मान लो कि किसी सामुद्रिक तूफ़ान के अनुभव को सङ्गीत और चित्रकला में अलग-अलग व्यक्त किया गया है। सङ्गीतकलाकार प्रचण्ड वेग से बहती हुई वायु के शब्द पर और वज्रध्वनि पर ज़ोर देता है और चित्रकार बिजली की चमक और उठती हुई और गिरती हुई लहर पर ज़ोर देता है; बिजली की चमक और ऊँची उठती हुई और नीची गिरती हुई लहर की अभिव्यक्ति में सङ्गीतकलाकार वैसे ही असफल रहता है जैसे प्रचण्ड वेग से बहती हुई वायु के शब्द और बज्रध्वनि की अभिव्यक्ति में चित्रकार असफल रहता है। सङ्गीतकलाकार के और चित्रकलाकार के तूफ़ानविषयक अनुभव की विशेषताएँ उनके माध्यमों से निश्चित होती हैं। सब कलाओं की अलग-अलग सीमाएँ हैं। हीगल कला को भाव या विचार (आइडिया) की प्रकृति (मैटर) पर प्रवेक्षित विजय के रूप में परिभाषित करता है। यह परिभाषा कला के स्वभाव, उदय और विकास को पूरी तरह स्पष्ट कर देती है और क्रोचे की परिभाषा की तरह कला को मनुष्य के मन से ही सीमित नहीं कर देती। कला ऐसा भाव है जो प्रकृत वस्तु में प्रवेश कर के उसे अपने अनुरूप परिवर्तित कर देता है। परन्तु, क्योंकि प्रकृत वस्तु जिसका कला प्रयोग करती है प्रयोग में वश्य या दुर्दम होती है, उसकी वश्यता या दुर्दमनीयता की मात्राओं के अनुसार कलाओं के भेद हो जाते हैं। वास्तुकला में भाव, प्रकृति पर विजय पाने में करीब-करीब असफल रहता है। वास्तुकला का आधार मूर्त्त होता है और भाव के लिये अदम्य पड़ता है। इसी से वास्तुकला ऐसी लाक्षणिक कला है जिसमें भाव सीधे व्यक्त हुए बिना रूप द्वारा प्रतीयमान होता है। वास्तुकला मूर्त्ताधार में रेखा, आकाश (स्पेस) और पिण्ड द्वारा भाव व्यक्त करती है। यूनानी मन्दिर जिसमें सम छत और साधने वाले खम्भे होते हैं, परिच्छिन्नत्व की व्यञ्जना करता है और गौथिक अधिमन्दिर जिसमें मेहराबदार छत और बड़ी ऊँची-ऊँची पुश्तों से सधी हुई दीवारें, कलश, गुम्बज, मीनारें और रोशनी के लिए झरोखे होते हैं, अपरिच्छिन्नत्व की

व्यञ्जना करता है। यूनानियों के देवता ससीम होते थे, अतः उनके मन्दिर का निर्माण ससीमता का द्योतक होता था; और गौथिक ख़ुदा असीम था, अतः उनका मन्दिर असीमता का द्योतक होता था। वास्तुकला गाम्भीर्य, तपस्या और आत्मा की उच्चाकांक्षाओं को व्यक्त कर सकती है, परन्तु भौतिक संसार के जीवन की असंख्य गतियाँ और भौतिक संसार की शोभा की असंख्य झलकें व्यक्त करने में वास्तुकला सदा असमर्थ रहेगी। मूर्तिकला भी वास्तुकला की तरह पत्थर, मिट्टी, धातु आदि निकृष्ट आधार का प्रयोग करती है, परन्तु उसमें इस आधार द्वारा अभीष्ट रूप, रङ्ग, आकार और विशेष प्रकार के भाव भी व्यक्त करने की शक्ति होती है। केवल गति देना उसकी शक्ति के बाहर है। लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, तीनों मानों के उपयोग करने के कारण कभी-कभी वह जीवधारियों की प्रतिच्छाया बड़ी सफलता मे सङ्कटित कर सकती है। हीगल एथैना प्रोमेकस की फीडिया की मूर्ति के विषय में जिक्र करता है कि जब वह खोली गई तो एथैन्स निवासियों ने चिल्ला कर कहा, यह तो महाप्रभा सजीव देवी है। मूर्तिकला, वास्तुकला से अधिक श्रेष्ठ है जबकि वास्तुकला में बहुत से ब्योरे व्यर्थ होते हैं, मूर्तिकला में सब ब्योरे भाव के साधक होते हैं। मूर्तिकला में भाव एकदम स्पष्ट हो जाता है; परन्तु जीवन और संसार की विचित्र शोभाओं के व्यक्त करने में मूर्तिकला वास्तुकला से बहुत कम आगे बढ़ती है। इस कमी को चित्रकला काफ़ी मात्रा में पूरी करती है। यह कला तीन मानों की जगह दो मान अर्थात् लम्बाई और चौड़ाई ही इस्तेमाल करती है। अतः इसमें मूर्त्तता कम हो जाने के कारण काल्पनिकता के लिए अधिक अवकाश होता है। एक मान अर्थात् गहराई या ऊँचाई इस कला में पूर्णतया मानसिक हो जाती है। जीवन की प्रावाहिकता से चित्रकला सार्थक क्षण छाँट लेती है और उन्हें भौतिक रूप प्रदान करती है। भाव इस कला में भी प्रकृति और विस्तार से बँधा हुआ है। परन्तु मूर्तिकला की तरह चित्रकला उन्हीं वस्तुओं को पुनरुपस्थित कर सकती है जो सन्निकर्ष में हैं। घटनाओं की गति को वह घटनाओं के बहुत से चित्रों द्वारा प्रदर्शित करती है जैसे सिनेमा में। एक पूर्ण चित्र में गति का प्रदर्शन करने में चित्रकला असमर्थ है। सङ्गीत आध्यात्मिक कला है। इस कला का प्रकृत आधार नाद है। नियम से संयोजित नादों की गति से सङ्गीतकलाकार भाव प्रकट करता है। सङ्गीतकला मानव हृदय के अन्तिम सार को व्यक्त कर सकती है और उसकी भावनाओं की अनन्त विचित्रताओं को हमें महसूस करा सकती है। नाद निरर्थक होने के कारण अन्तर्वेगों को अधिक स्पष्टता से व्यक्त कर सकता है; परन्तु इसी कारण से उन मानसिक भावों को जिन्हें वह उन निरर्थक नादों द्वारा व्यक्त करती है, अस्पष्ट और अनिश्चित छोड़ देती है। यह अस्पष्टता और अनिश्चितता कविता में दूर हो जाती है। क्योंकि कविता सार्थक नादों का प्रयोग करती है और उनको ऐसा क्रम देती है जिससे सङ्गीतात्मक लय पैदा हो जाती है। कविता में विचार और सम्बन्धित भाव अथवा अन्तर्वेग दोनों सार्थक शब्दों और लयों द्वारा ठीक-ठीक अनूदित हो जाते हैं। कविता दूसरी और कलाओं से

अधिक व्यञ्जक है। इसमें शक नहीं कि कविता ऐसी वस्तुओं के अनुकरण में चित्रकला से पिछड़ जाती है जिनके भाग और रूप आकाश में फैले हुए हैं, क्योंकि उसके प्रतीक क्रमिक होते हैं और समय में प्रगति करते हैं। परन्तु जैसे कि चित्रकार किसी शरीर की क्रिया को उसकी प्रगति में से सबसे अधिक व्यञ्जक क्षण को छाँट कर दिखाता है, वैसे ही कवि किसी शरीर को उसके उस लक्षण को छाँट कर दिखाता है जो उस शरीर का स्पष्टतम चित्र सामने ले आता है। परन्तु यदि कवि किसी शरीर के स्पष्टतम लक्षण को न छाँट सके और उस शरीर का हमें सुस्पष्ट दर्शन देने में असफल रहे, तो भी वह अपने ऐसे प्रतीकों द्वारा जो उसके वाञ्छित अर्थ के द्योतक हों, हमें उस शरीर का प्रशंसनीय वर्णन दे सकता है। फिर भी कविता कृत्यों के वर्णन करने में ही फलीभूत होती है, कारण यह है कि काव्यात्मक अभिव्यञ्जना में शब्द अनुक्रम में चलते हैं और क्रिया में शरीर अनुक्रम में चलता है। और, क्योंकि कविता में शरीर और कृत्यों दोनों का अनुकरण करने की प्रशंसनीय क्षमता है, कविता सब कलाओं में श्रेष्ठ कला है। इसी कला में भाव और प्रकृति के सङ्केन्द्रण की वह सिद्धि सम्भव है जो कि कलात्मक यथार्थ का रहस्य है। विभिन्न कलाओं का तुलनात्मक वर्णन लैसिङ्ग ने अपने 'लाओकून' नामक रोचक निबन्ध में किया है। इस निबन्ध में साहित्यिक शोभा और आलोचनात्मक निपुणता दोनों अच्छी तरह दीख पड़ती हैं। निबन्ध का नाम तीन मूर्तिकलाकारों के उस प्रसिद्ध मूर्त्त समुदाय से आता है, जो सोलहवीं शताब्दी में रोम में खोदा गया था। निबन्ध उस समय के ऊपर बहस करता हुआ शुरू होता है जिस समय पर वह मूर्त्त समुदाय गढ़ा गया था। लैसिङ्ग सब तरह के साक्ष्यों की छान-बीन करता है। वह पुरातत्त्वज्ञों और शास्त्रीय पण्डितों के लेखों का अध्ययन करता है। परन्तु उसकी धारणा है कि कलात्मक साक्ष्य भी इस प्रश्न को ठीक-ठीक सुलझा सकती है। इस दृश्य को मूर्तिकलाकारों ने तो मूर्त्त समुदाय में दिया ही है, उसका वर्णन वर्जिल में भी मिलता है। गोकि उसका यह निष्कर्ष कि वे मूर्तिकलाकार जिन्होंने इस मूर्त्तसमुदाय को गढ़ा था, शुरू के सीज़रों के समय में रहते थे, ऐतिहासिक प्रमाणों से पुष्ट नहीं हो पाया, फिर भी समय सम्बन्धी बहस इस बात पर बड़ा प्रकाश डालती है कि किस प्रकार माध्यम की विभिन्नता रूप को परिवर्तित कर देती है। कहानी का शास्त्रीय वर्णन यह है—ट्रोय का लाओकून नामक पुरोहित नेपच्यून देवता पर एक सांड को बलि चढ़ा रहा था। देवार्पण के लिये सांड का बध करते समय दो वृहत्काय सर्प समुद्र से निकले। उन्होंने लाओकून के दोनों लड़कों पर जो वेदी के निकट खड़े थे, आक्रमण किया। लड़कों का पिता अपने पुत्रों की रक्षा के लिये जल्दी से झपटा, परन्तु सर्प उसकी ओर बढ़े और अपने जटिल चपेटों में लेकर उसे ऐसा मसल डाला कि वह अतिव्यथित होकर मर गया। वर्जिल और मूर्तिकलाकारों, दोनों ने इस वर्णन को परिवर्तित किया है। दोनों लाओकून और उसके दोनों बेटों को सर्पों के चपेटों में मसले हुए प्रदर्शित करते हैं। यह सादृश्य इस अनुमान को दृढ़ करता है कि या तो कवि ने मूर्तिकलाकारों का अनुकरण

किया या मूर्तिकलारों ने कवि का अनुकरण किया। पिछला अनुमान अधिक सही मालूम होता है। यदि ब्योरों की आलोचनात्मक परीक्षा की जाय तो पहले, वर्जिल में लाओकून भयानक चीखें मारता है, परन्तु मूर्त्त समुदाय के चेहरे बिल्कुल शान्त हैं। इससे स्पष्ट है कि मूर्तिकलाकारों ने कवि का अनुकरण किया। मूर्तिकला में चीखता हुआ चेहरा कुरूप हो जाता है और जुगुप्सित प्रतीत होता है; इसके अतिरिक्त कविता में चीखता चेहरा क्लेश का व्यञ्जक होता है। कलाकार चीखों को आहों में परिवर्तित करने के लिये अपने माध्यम के कारण विवश हो गये। यदि कवि कलाकारों का अनुकरण करता तो वह बड़ी सुगमता और रमणीयता से आहों को वर्णित कर सकता था। दूसरे, वर्जिल में सर्प दो बार लाओकून की कमर और दो बार उसकी गर्दन के चपेटे लेते हैं; इसके अतिरिक्त मूर्त्त समुदाय में चपेटे शरीर और गर्दन से जांघों और पैरों की ओर बदल दिये गये हैं। इससे फिर यह सिद्ध होता है कि कलाकारों ने कवि का अनुकरण किया। शरीर के प्रमुख और अवदात भागों के सम्पीडन के वर्णन से कवि हमारी कल्पना को एकदम जाग्रत करता है; परन्तु कलाकारों की कृति में इन भागों का प्रच्छादन सारे प्रभाव को नष्ट कर डालता है। जैसी कृति है उसमें पीड़ा की आह दिखाती हुई गर्दन की समवृत्ति कितनी व्यञ्जक है और पेट का दु:सह आकुञ्चन कितना व्यञ्जक है, वे कलाकार जिन्होंने इन भागों को नग्न दिखाया वे अपनी कला में वास्तव में प्रवीण थे। फिर सूच्यग्रस्तूप के रूप में कृति का ऊपर उठना कितना सुन्दर और प्रभावोत्पादक है। यदि चपेट गर्दन की ओर होती तो कृति सौष्ठवहीन हो जाती और जाँघ और पैरों के चपेट रुके हुए पलायन और गतिहीनता का द्योतन करते हैं और आकुञ्चन का प्रभाव भी वैसा ही रहा आता है जैसा कि कवि के वर्णन में। यदि कवि कलाकारों का अनुकरण करता तो वह पिता और पुत्रों के एक गाँठ में जकड़ जाने को बड़ी स्पष्टता से दिखा सकता था। परन्तु कवि ने जकड़ कर वर्णन को दबा दिया है और इसके प्रत्यक्षीकरण के लिये कल्पना पर भरोसा किया है। तीसरे, वर्जिल में लाओकून अपने माथे की याजकीय माला पहने है और इसके अतिरिक्त मूर्त्त समुदाय में पुरोहित का माथा नङ्गा है। यदि कवि कलाकारों का अनुकरण करता तो वह माथे में प्रदर्शित पीड़ा का वर्णन करता। परन्तु कवि पुरोहित को याजकीय माला पहनाता है, क्योंकि काव्यात्मक वर्णन में पीड़ावह माथे की कल्पना माला के नीचे की भी जा सकती है। एक ही विषय पर दो भिन्न माध्यमों में उत्पादित कृतियों की तुलना से यह बात अच्छी तरह देखी जा सकती है कि किस प्रकार रूप, माध्यम की विभिन्नता से परिवर्तित हो जाता है। इसी कारण कलात्मक रूप का प्रत्यक्ष निरूपण और स्पष्ट प्रणयन एक ही विषय हैं। हमें ज्ञात है कि आन्तरिक दर्शन प्रकृत माध्यम में कभी ज्यों का त्यों नहीं आ सकता; इसीलिये कला की मुख्य समस्या यही है कि माध्यम को ऐसे नियन्त्रित किया जाय कि उसमें भाव स्पष्ट चमक पड़े।

पहले अर्थ में रूप, खाका, आकृति, अथवा मान्य विधि है। इस अर्थ में रूप

ऊपरी साधारण और रेखा चित्रवत् है, और किसी वस्तु के हृदय और उसकी अन्तरात्मा का विरोधी है, उन सब गुणों के विपरीत है जो तात्विक और महत्त्वपूर्ण होते हैं। कला और काव्य में इस रूप का अनुसरण करना प्रतिभाहीनता का द्योतक है। ऐसे कलाकारों और कवियों को यान्त्रिक नैपुण्य मिल सकता है, परन्तु ये कलात्मक अथवा काव्यात्मक उत्कटता से सदा वञ्चित रहेंगे। ऐसे रूप का अनुसरण करना कलासम्बन्धी तत्त्वज्ञान के भी विरुद्ध है। मनुष्य का अनुभव परिवर्तनशील है; न सब मनुष्य एक-सा अनुभव करते हैं और न एक मनुष्य ही किसी विशिष्ट वस्तु के बारे में सदा एक-सा अनुभव करता है। क्योंकि कलात्मक रूप अनुभव के रूप का फ़ोटो है और अनुभव सदा बदलता रहता है, कलात्मक रूप सदा बदलना चाहिये। कलात्मक रूप को स्थिर कर देना कला को फैक्टरी की उत्पादित वस्तु बना देता है। समस्या-पूर्ति में कविता लिखने और उससे कवि-सम्मेलनों और मुशायरों में वाह-वाह की आवाज़ों से तुष्टि पाने से कवियों को शाब्दिक और छान्दिक पटुता सम्बन्धी लाभ हो सकता है, परन्तु उनकी काव्यात्मक शक्ति का आविर्भाव नहीं हो सकता। इस प्रकार के सम्मेलनों और मुशायरों को नवयुवकों तक सीमित कर देना चाहिये और कवियों की प्रारम्भिक शिक्षा का ही साधन मानना चाहिये। इन्हें इससे अधिक महत्त्व देना काव्य के हित में नहीं है। काव्य के आलोचक को भी किसी कृति के मूल्य निर्धारण करने में ऐसे रूप को महत्त्व न देना चाहिये।

दूसरे अर्थ में रूप की धारणा कला को मूलतथ्य और मानसिक अनुभव से सीमित कर देना है जैसा कि क्रोचे और आई० ए० रिचार्ड्स करते हैं। क्रोचे तो कला को मन से बाहर आने ही नहीं देता; और आई० ए० रिचार्ड्स कलात्मक अनुभव को साधारण अनुभव का विकसित रूप समझता है; साधारण अनुभव का विकसित रूप होने के कारण कलात्मक अनुभव अधिक मूल्यवान् होता है। आई० ए० रिचार्ड्स निवेदन को कलात्मक क्रियाशीलता के लिए तात्विक समझता है। इस अर्थ में रूप को समझना किसी वस्तु के वास्तविक सार को ग्रहण करना है, उसके भौतिक और मानसिक रहस्य तक पहुँचना है। प्रत्येक वस्तु संसार में द्विध्रुवस्थ है, उसे अमूर्त्त प्रत्यय समझ सकते हैं और उसे मूर्त्त पदार्थ समझ सकते हैं। आर० जी० कौलिङ्गवुड की वैदग्ध्यपूर्ण उक्ति है कि कोई चित्रकार किसी स्त्री के घनत्व में अनुरक्त हो सकता है या उसके स्त्रीत्व में। किसी शरीर के अवयवों का सम्बन्ध समझना और उन सम्बन्धों की समस्त व्यवस्था को समझना, तथा इस व्यवस्था से मन का नैसर्गिक स्वभाव निर्दिष्ट करना और मन की गति को स्पष्ट देखना—शरीर को मन में और मन को शरीर में देखना, भौतिक और मानसिक अस्तित्वों का समन्वय, यही वस्तु का सार है। इस सार के जानने के लिये मन की औपपत्तिक और व्यावहारिक वृत्तियों को रोक कर उसकी सारी शक्तियों को वस्तु पर केन्द्रित करना होता है। इस प्रकार ज्ञान-सार की मानसिक अभिव्यक्ति क्रोचे के मतानुसार कला है और इस प्रकार ज्ञान-सार की किसी वाह्य माध्यम में अभिव्यक्ति आई० ए० रिचार्ड्स के मतानुसार कला है। परन्तु कला की ये दोनों धारणाएँ ठीक नहीं हैं। इस प्रकार की कला वास्तविक

संसार का भाग हो जाती है और कला की दुनिया और साधारण दुनिया में कोई अन्तर नही रह जाता है। कला की दुनिया एक दूसरी दुनिया है जो इसी दुनिया के आधार पर अवश्य बनी हुई है परन्तु उसकी रीति और उसका उद्देश्य दूसरा होता है, वह दुनिया एक विशेष प्रकार की तुष्टि का साधन है जो तुष्टि ज्ञान-तथ्य की तुष्टि से भिन्न होती है। ज्ञान-सार की मानसिक अथवा प्राकृतिक अभिव्यक्ति कलाकार को ऋषि बना देती है और उसे कला के क्षेत्र से पृथक् कर देती है। कलाकार वास्तविक तथ्य की स्पष्टता को अपने व्यक्तित्त्व और माध्यम के मिश्रण द्वारा व्यक्त कर उसे रमणीय और रोचक बनाता है। कला का आलोचक कला को व्यक्तवस्तु के सार के मानदण्ड से ही नहीं जाँचता, वरन् वस्तु का सार व्यक्त करते हुए जब कला सौन्दर्य की अनुभूति दे, तब ही वह कला को ठीक कला समझता है।

कला की तीसरी धारणा तत्वज्ञान सम्बन्धी या अनुभवातीत है। वस्तु के आदर्श सत्य को वस्तु में देखना और ऐसे अनुभव को माध्यम द्वारा व्यक्त करना कला है। यही प्लैटोवाद है। सिड्नी, स्पैन्सर, शेक्सपिअर, ड्रायडन, डेवनैएट, वर्ड्सवर्थ और शैली सब प्लैटोवाद से प्रभावित रहे हैं। शैली अपने 'डिफ़ैन्स ऑफ़ पोयट्री' नामक निबन्ध में लिखता है, "दैविक मन कवि को सहज गान के लिये उत्तेजित करता है और उसे जीवन की ऐसी प्रतिमाओं की रचना के लिये अग्रसर करता है, जो नित्य सत्य का दर्शन देती हैं।'...... कविता मानव-प्रकृति के ऐसे अपरिवर्तशील रूपों के अनुसार कार्यों की रचना हो, जो रचयिता के मन में विद्यमान् होते हैं, और जो मन (रचयिता का) दूसरे सब मनों का प्रतिरूप होता है।" इस पिछले उद्धृत वाक्य में प्लैटोवाद तो व्यक्त है ही, दो और कलासम्बन्धी सिद्धान्त व्यक्त हैं—कला की व्यापकता और उसकी सामाजिक झङ्कार। कला व्यापक सत्य देती है और उसका सत्य सब मनुष्यों के मन में प्रतिध्वनि पाता है। जो कला की दूसरी धारणा के विषय में कहा जा चुका है, वही इस धारणा के विषय में कहा जा सकता है। यह धारणा भी कला के सार को नहीं पहुँचती। वस्तु सुन्दर हैं, जब उनमें नित्य सत्य की झलक है; और कला सुन्दर है, जब वह नित्य सत्य की झलक को प्रदर्शित करती है। नित्य सत्य या ऐकान्तिक सौन्दर्य पहले विद्यमान् है और कला उसके पीछे आती है। फिर, यह ऐकान्तिक सौदर्न्य न परिभाषित है और न कथनीय है। और, यह भी विचार है कि ऐकान्तिक सौन्दर्य की धारणा समस्त कला को सौन्दर्यहीन बना देती है। कला के संसार में प्रवेश करना नित्य सत्य या सौन्दर्य के दर्शन से निराश होना है, क्योंकि अव्यक्त होते हुए वह कला में मिल ही नहीं सकते। कला तब ही कला है जब उसमें सौन्दर्य का अनुभव हो। कलात्मक सौन्दर्य ऐसी तुष्टि है जो उस प्रत्यक्षानुभव से होती है जिसमें कलाकार की विषय-वस्तु भावनामय हो माध्यम द्वारा रूप में विकसित होती है। यह सौन्दर्य कला का सत्य सौन्दर्य है और इसी से कला की समीक्षा हो सकती है। नित्य सौन्दर्य तत्त्वज्ञान की चीज है, वह अनुभवातीत है, और उसकी आलोचनात्मक सार्थकता

कोई नहीं। जब उस सत्य और सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण ही नहीं तो उसके अनुसरण में विषय-वस्तु को रूप देना असम्भव ही है। उसमें केवल श्रद्धा होना प्लैटो की तरह समस्त कला का बहिष्कार करना है।

चौथे अर्थ में रूप ठीक कलात्मक रूप है। यह रूप माध्यम में धीरे-धीरे कलाकार के मानसिक अनुभव को विकसित करता है। मन और प्राकृतिक माध्यम दोनों से यह निकलता है। रूप की इस धारणा के अनुसार—और यही ठीक धारणा है—कला द्विलिङ्गीय उत्पादन है। न अकेले मन से और न अकेले प्राकृतिक माध्यम से कला का सृजन हो सकता है। जैसे बच्चा पिता और माता से पैदा होता है और पिता और माता दोनों के सदृश होता है तथा उनसे पृथक् स्वतन्त्र और भिन्न सत्ता भी रखता है वैसे ही कला भी मन और माध्यम से उत्पन्न होकर उनके सदृश भी होती है और उनसे अलग स्वतन्त्र और भिन्न सत्ता भी रखती है। मन को पुरुष और प्राकृतिक माध्यम को स्त्री समझना चाहिए। जैसे बच्चों के सृजन में पिता और माता दोनों को उत्ताप होता है इसी प्रकार कला के सृजन में मन को उत्ताप होता है और माध्यम भी एक प्रकार से उत्ताप की दशा में होता है। वह अपने उन गुणों को कलाकार के सम्मुख खोलता है जिनके प्रयोग से कलाकार अपने मन को माध्यम में प्रविष्ट कर देता है। कलाकार के अनुभव का रूप तो आन्तरिक अथवा बाह्य जीवन से निर्दिष्ट होता ही है, परन्तु वह माध्यम में व्यक्त होते समय धीरे-धीरे परिवर्त्तित होता जाता है। उत्ताप की दशा में अभिव्यक्ति के लिये एक विचार दूसरे विचार को, एक भाव दूसरे भाव को, एक प्रतिमा दूसरी प्रतिमा को, एक शब्द दूसरे शब्द को, और एक वाक्यांश दूसरे वाक्यांश को सुझाता है। इस प्रकार कला रचनात्मक परिक्रिया में अपना रूप निकालती है। उत्पादन के विचार से हम कला को रचनात्मक आविर्भाव कह सकते हैं और कलाकार के विचार से उसे रचनात्मक आत्माभिव्यक्ति कह सकते हैं। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि कला के लिए भाव या अन्तर्वेग अनिवार्यत: आवश्यक है। भाव और अन्तर्वेग के लिए क्रोचे और आई० ए० रिचार्ड्स कोई स्थान नहीं देते। वे भूल जाते हैं कि समस्त मानसिकता ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक तीनों एक साथ हैं। कला-सृजन में मन में उत्ताप और अन्तर्वेग आविर्भूत होते हैं जिनकी शान्ति और तुष्टि वाह्य रचना से होती है। मन विषयवस्तु पर लगा हुआ उन मानसिक वृत्तियों का प्रयोग करता है जो विषय से सम्बन्धित होती हैं और निर्माण के कार्य को अग्रसर करती हैं। कला उत्पादन भावों और अन्तर्वेगों से प्रभावित रहती है। यह कहना कि कला भाव या अन्तर्वेग की अभिव्यक्ति है, ज्यादा ठीक नहीं है। कला की विषयवस्तु भाव या अन्तर्वेग के अतिरिक्त और बहुत-सी मानसिक और सांसारिक जीवन की वस्तुएँ हो सकती हैं। कला में व्यक्त भाव या अन्तर्वेग वह भाव या अन्तर्वेग है जो कला की वस्तु से या उसके माध्यम की प्रकृति से उठता है। विषयवस्तु से उठा हुआ भाव या अन्तर्वेग माध्यम से उठे हुए भाव या

अन्तर्वेग का विरोधी हो सकता है या सहायक हो सकता है। सहायक है, तो ठीक है ही; और यदि विरोधी है, तो कलाकार उचित साधन से उन्हें एक-दूसरे के उपयुक्त करने का प्रयास करता है। इस प्रकार शनैः-शनैः कलाकार अपने मन के विचारों, भावों, और अन्तर्वेगों को अपने माध्यम में प्रविष्ट करता है। इसी क्रिया को आरोपण (इम्प्यूटेशन) कहते हैं। आरोपण द्वारा निर्जीव कलाधार सजीव हो जाता है और वह उन गुणों को प्रदर्शित करता है जो उसकी प्रकृति के बाहर हैं। मन और आधार के आवेशमय सम्मिश्रण से आधार को सजीव, व्यञ्जक, और अर्थपूर्ण रूप देना ही कला है। इसी से कलाकार ऐसे विषय छाँटता है जो रूप पा सकते हैं। असीम, अनन्त इसमें रूप है ही नहीं और न इनका व्यक्तिकरण हो सकता है और न इन्हें मूर्त्त रूप दिया जा सकता है। ये धारणाएँ कलात्मक सौन्दर्य के क्षेत्र से बाहर हैं। सौन्दर्य के लिए किसी न किसी प्रकार की जटिलता आवश्यक है। जब भिन्न प्रकार के बहुत से अवयवों में एकत्व आता है, तो सौन्दर्य आ जाता है। एकत्व इस ढङ्ग से आये कि समस्त में भागों को भूल जायें; जैसे, मनुष्य के रूप में इतने भाग हैं पर जब हम मनुष्य को देखते हैं तो भागों को नहीं देखते प्रतीत होते, समस्त मनुष्य को ही देखते प्रतीत होते हैं। जहाँ जितने अवयव एकीकृत होंगे वहाँ उतनी ही अधिक सुन्दरता का प्रदर्शन होगा। ऐकान्तिक सौन्दर्य अनेकत्व में एकत्व है। रेखागणित सम्बन्धी विन्दु में कोई सौन्दर्य नहीं। रेखा सौन्दर्य की ओर अग्रसर होती है। त्रिभुज, आयत, और वर्ग, सौन्दर्य की ओर और भी अग्रसर होते हैं।

जिस कलामीमांसा-सम्बन्धी क्रियाशीलता में कलाकार अपने को अपने माध्यम में मिलाकर उसे व्यञ्जक रूप प्रदान करता है, उसकी बहुत-सी विशेषताएँ हैं। इस क्रियाशीलता में कलाकार का मन ध्यान योग की अवस्था में होता है। वह वस्तु के व्यावहारिक और औपपत्तिक मूल्यों से उदासीन होता है। वह उसी के आन्तरिक गुणों से उसी के ब्यौरों से पूर्णतया सीमित रहता है। इन गुणों और ब्योरों को काट-छाँट कर उसका मन अभिव्यञ्जना के हित में उपयोग करता है। आधार के वाह्य गुणों और प्रयोगों से भी उसका मन कोई प्रयोजन नहीं रखता, उसके केवल मूर्तिसाधक और नम्य गुणों का अभिव्यञ्जना के हित में उपयोग करता है। मन सोचता अवश्य है परन्तु उसका सोचना वस्तु और माध्यम के व्यञ्जक गुणों से बाहर नहीं जाता। मन की यही शक्ति कल्पना है। कल्पना नियन्त्रित विचार शक्ति है। वह साधारण विचारशक्ति के बन्धनों से मुक्त होती है, ऐसे बन्धनों से जैसे निर्धारण, विश्वास और तथ्यों से अनुरूपता। कल्पना में अपनी ही व्यवस्था और सङ्गतता होती है। यह सङ्गतता बाहर की किसी दूसरी वस्तु से निर्दिष्ट नहीं होती वरन् कलाकृति की आन्तरिक बनावट से ही निर्दिष्ट होती है। कल्पनात्मक सङ्गतता ही कला को स्वप्न और ख्याली पुलाव अथवा मनमोदकता से पृथक् करती है वरना तो मन की इन क्रियाओं में भी न औपपत्तिक निमग्नता है और न व्यावहारिक। बहुत से सौन्दर्यशास्त्रज्ञ मन की उन सब क्रियाशीलताओं को एस्थैटिक

कहते हैं जो अनौपपत्तिक और अव्यावहारिक होते हुए स्वतः आनन्दक होती हैं, चाहे वे सार्थक व्यञ्जकता में सिद्ध न हों। हम सार्थक व्यञ्जकता को जो कल्पना द्वारा निष्पन्न होती है, एस्थैटिक क्रियाशीलता के लिये आवश्यक समझते हैं।

कलामीमांसा-सम्बन्धी एस्थैटिक अनुभव में सौन्दर्य की अनुभूति होती है। सौन्दर्य, प्रज्ञावादियों (इण्टिलैक्चुअलिस्ट्स) के मतानुसार सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का निर्धारण है, जैसे सत्य सम्पूर्ण प्रकृतता का निर्धारण है और शिव सम्पूर्ण कल्याण का निर्धारण है। अन्तर्वेगवादियों (इमोशनलिस्ट्स) के मतानुसार सौन्दर्य, सत्य और शिव मूल्य हैं। यही मत हमें मान्य है। मूल्य दो वस्तुओं में ऐसा परस्पर सम्बन्ध है जिसमें आने से एक वस्तु दूसरी वस्तु के लिए महत्त्व पा जाती है; जैसे चुम्बक के लिये लोहा, और प्राणी के लिए वायु मूल्यवान् है। कला मनुष्य के लिए मूल्यवान् है क्योंकि वह उसकी निर्मायिक अर्थात् रूप देने की प्रेरणा की तुष्टि करती है; जैसे, सत्य मनुष्य के लिए मूल्यवान् है क्योंकि वह उसकी जिज्ञासाविषयक प्रेरणा की तुष्टि करता है, और शिव मनुष्य के लिये मूल्यवान् है क्योंकि वह उसकी सामाजिकताविषयक प्रेरणा की तुष्टि करता है। सौन्दर्य कलाकार की अनात्मिक अवस्था में उसकी एस्थैटिक प्रेरणा की तुष्टि करता है। सौन्दर्य वस्तु का गुण नहीं है और न वह मन की किसी विशिष्ट शक्ति का उत्पादन है। मन में कोई ऐसी शक्ति नहीं जो केवल अपनी क्रिया से ही वस्तु को सौन्दर्य दे दे; जैसे वह वस्तुओं को रङ्ग दे देती है। केवल एस्थैटिक प्रेरणा है जो मन को कुछ क्रियात्मक दिशाओं में चालू कर देती है, जो भेद में ऐक्य स्थापित कर देती है, जो रूपहीन वस्तु को रूप दे देती है। मनुष्य की संवेदनशीलता में रूप एक स्थायी तत्त्व है। मनुष्य रूप के लिये अन्दर से ही रुचि रखता है। उसके विचार, उसके अन्तर्वेग, उसके आदर्श, उसके विश्वास और उसका समस्त आन्तरिक जीवन रूप द्वारा व्यक्त होकर सिद्ध होता है। हमारे बाह्य कार्य हमारे आन्तरिक जीवन के रूप हैं। वह आन्तरिक नियन्त्रण है जिसे वस्तु व्यक्त होने में अपने ऊपर स्थापित करती है। रूप निरर्थक प्रकृति को सार्थक बनाता है। कलाकार की रचना रूप ही है। रूप ही में सौन्दर्य है। विषयवस्तु की सूक्ष्मता सौन्दर्य की आभा को और उज्ज्वल कर देती है परन्तु सौन्दर्य रूप ही में है, कृति के अङ्गों के विन्यास में है। कला दो प्रकार की होती है--रूपात्मक (फ़ौर्मल) और प्रतिनिध्यात्मक (रैप्रीजेण्टेटिव), क्योंकि माध्यम की वस्तु विषयवस्तु से पृथक् है। कला रूपात्मक तब होती है जब उसमें कला के माध्यम सम्बन्धी सामग्री से पृथक् कोई विषयवस्तु नहीं होती, जैसे शुद्ध सङ्गीत। नहीं तो कला प्रतिनिध्यात्मक होती है। रूपात्मक कृति और प्रतिनिध्यात्मक कृति दोनों सार्थक होती हैं। सङ्गीत और वस्तुकलाएँ रूपात्मक हैं, यद्यपि वास्तुकला में उपयोगिता का तत्त्व भी आ जाता है। काव्य प्रतिनिध्यात्मक कला है। कला कोरे रूप में सौन्दर्य की अनुभूति देती है; परन्तु जब कला की सामग्री के अवयवों के सम्बन्ध विषयवस्तु के अवयवों के सम्बन्ध के सूचक होते हैं तो सौन्दर्य की अनुभूति और भी बढ़ जाती है। कला की आधार विषयक सामग्री के सम्बन्धों से निकला रूप सुन्दर है और विषयवस्तु

विषयक सामग्री के सम्बन्धों से निकला हुआ रूप सुन्दर है तथा दोनों रूपों का एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध सुन्दर है। सुन्दरता रूप में है। विषयवस्तु के महत्त्व से कला में उत्कटता आती हैं, सौन्दर्य रूप के अनुभव तक ही सीमित है। रूपात्मक और प्रतिनिध्यात्मक मानदण्डों से हम गद्य और कविता की पहचान कर सकते हैं। जहाँ विषयवस्तु रूप को नियन्त्रित रखे, वहाँ गद्य है, जहाँ रूप विषय को नियन्त्रित रखे वहाँ कविता है। रूप से नियन्त्रित वस्तु हमें सौन्दर्य की अनुभूति देती है और कला की सामग्री में रूप का आरोपण ही एस्थैटिक क्रियाशीलता का सार है। कला में हमारी निर्मायिक प्रेरणा की तुष्टि की क्षमता अथवा सौन्दर्य सदा विद्यमान् है। प्रकृति में वे ही दृश्य सुन्दर हैं जिनके देखने से मनुष्य को अपनी निर्मायिक प्रेरणा की तुष्टि की प्रतीति होती है। सौन्दर्य प्रकृति के कुछ दृश्यों अथवा कलाकृतियों और हमारे मन के मध्य एक विशिष्ट सम्बन्ध का द्योतक नाम है।

सौन्दर्य की अनुभूति में आनन्द की अनुभूति भी होती है। कलाकार का अन्तर्वेग ध्याननिमग्न कलाग्राही की चेतना में प्रतिबिम्बित होता है। जब यह प्रतिबिम्बित अन्तर्वेग एक ओर तो मन का समतोलन ले आये और दूसरी ओर अपना आस्वादन दे, तब ही कला में सौन्दर्य की अनुभूति होती है। कला का आनन्द आत्मसंग्रह के साथ होता है, जब आत्मा व्यावहारिक और औपपत्तिक वासनाओं से मुक्त होती है। यह आनन्द किसी बाहरी और दूर के उद्देश्य से सम्बन्धित नहीं है। यह आनन्द अनौपपत्तिक और अव्यावहारिक होते हुए अलौकिक है और इसीलिये दीर्घकालीन है जैसा कीट्स के पद—'ए थिंग ऑफ् ब्यूटी इज ए ज्वाय फ़ार एवर' से विदित है। परन्तु इस आनन्द में दो कमियाँ हैं। एक तो यह कि यह आनन्द निरन्तर नहीं है क्योंकि वह कला-विषयों के अनुभव से होता है और कला-विषय बदलते रहते हैं। दीर्घकालीन इस अर्थ में है कि जब कलाकृति का अनुभव होगा तभी आनन्द होगा। दूसरी कमी यह है कि यह आनन्द इन्द्रियों द्वारा होता है, अन्तरात्मा से नहीं, जैसे रहस्यवादी (मिस्टिक) का आनन्द। कला हमें इन्द्रियों और कल्पना के स्तर पर प्रभावित करती है। कला में अनुभव आध्यात्मिक नहीं होता है। कलाकार अपने को बाह्य वस्तुओं में व्यक्त करता है, वह अपने को अपने जीवन में व्यक्त नहीं करता। उसे अपनी आत्मा का प्रत्यक्षीकरण सिद्ध नहीं होता। असली आनन्द कलाकार को तब प्राप्त हो सकता है जब वह उसी विरक्तता, उसी निःस्वार्थता और उसी समतोलन से रहे जिस विरक्तता, निःस्वार्थता और समतोलन को कला चाहती है, संक्षेप में जब वह अपने जीवन को कला बनाले।

अन्त में, एस्थैटिक अनुभव में व्यापकता और निवेदनीयता (कम्यूनीकेबिलिटी) होती हैं। सौन्दर्य निजी अनुभव नहीं है। शारीरिक संवेदनाएँ निजी हैं, क्योंकि वे अपने शरीर से उठती हैं। मानसिक स्थितियाँ निजी हैं, मानसिक प्रक्रियाओं की चेतना निजी है। सौन्दर्य सार्वजनिक है जैसे सत्य सार्वजनिक है और शिला सार्वजनिक है। सौन्दर्य को हम

निर्मायक प्रेरणा की तुष्टि बता चुके हैं। यह निर्मायक प्रेरणा सब मनुष्यों में होती है। कला मूर्त्त रूप उपस्थित करती हैं। यह मूर्त्त रूप कलाकार के मन से बाहर भौतिक संसार में उपस्थित होता है। जिस किसी में निर्मायक प्रेरणा जागृत होती है, और वह सभी में जागृत होती है—ऐसे मनुष्यों को छोड़ दिया जाय जो रात-दिन पशुओं की तरह इन्द्रिय-भोग के उपकरणों को एकत्रित करने में जीवन व्यतीत करते हैं, वही कला को देख कर अपनी निर्मायिक प्रेरणा की तुष्टि कर सकता है और सौन्दर्य का अनुभव कर सकता है। सौन्दर्य तात्त्विक रूप से सार्वजनिक है, वह बहुत मनुष्यों के निर्मायक अनुराग को उत्तेजित करता है। रूप देना और उसका अनुभव करना सब संस्कृत मनुष्यों की प्रेरणा है। इसी से कला के मूल्याङ्कन का मानदण्ड अनात्मिक है, आत्मिक नहीं। कला वही कला कहलाई जा सकती है जो सब को निवेदनीय हो। जो कलाकार अपनी कला के विषय में यह कहता है कि वह चाहे दूसरों के लिये सुन्दर न हो, उसके लिये सुन्दर है, वह अपने मुँह से अपनी कला की असफलता को घोषित करता है—यह दूसरी बात है कि वह इतना बढ़ा-चढ़ा कलाग्राही है कि जो उसको सुन्दर है, वह दूसरों को भी सुन्दर है। सुन्दर वही है जो संस्कृत सहृदयों को सुन्दर है, जैसे अरिस्टॉटल के कथनानुसार शिव वही है जो नीतिपरायण मनुष्यों को शिव हो। कलाकार में निवेदन की चेतन प्रवृत्ति नहीं होती जैसा कि अक्सर समझा जाता है और जैसा कि कभी-कभी मिल्टन, वर्ड्सवर्थ और शैली जैसे कवियों की उक्तियों से प्रतीत होता है कि वह जानबूझ कर दूसरों के लिये सौन्दर्य उत्पादित करता है, आशङ्कनीय है। वह तो अपने अनुभव को अपने माध्यम में व्यक्त करने में संलग्न रहता है। मनुष्य सामाजिक जीव है और उसकी अधिकांश क्रियाएँ सामाजिक सार्थकता रखती हैं। जैसे वह नित्य अपना कार्य करता है, जैसे वह अपने को कपड़ों से आभूषित करता है, जैसे वह चलता फिरता है, उसकी सब क्रियाएँ दूसरे को चेतन या अचेतन रूप से निवेदित होती हैं। अपने अनुभव की सामाग्री को रूप देना ही अचेतन रूप से दूसरों के निवेदनार्थ होता है। वही अनुभव सफल कला में आविर्भूत होता है जो सब को ग्राह्य होता है। कलात्मक उत्पादन का वाह्य वस्तु होना, जिसे सब कोई देख सकते हैं, सुन सकते हैं, और ग्रहण कर सकते हैं, भी इस बात का द्योतक है कि कला सार्वजनिक वस्तु है। निजी कलाकृतियाँ नहीं होतीं। इस विवेचन से सिद्ध है कि निवेदन कला का आवश्यक उद्देश्य है, यद्यपि वह प्रायः अचेतन रूप में ही रहता है। अपने यहाँ के रसास्वादन और ध्वनि के सिद्धान्त रसिक और सहृदय की उपस्थिति मान कर निवेदनीयता के सिद्धान्त को दृढ़ करते हैं।

निवेदन क्या है? कुछों लोगों का मत है कि निवेदन अनुभवों का वास्तविक हस्ता-न्तरकरण है। ब्लेक का विश्वास मालूम होता है कि मन की स्थितियाँ शक्तियाँ हैं जो अब इस मन में और फिर उस मन में या बहुत से मनों में प्रवेश कर जाती हैं। निवेदन के और दूसरे व्याख्याता भी ऐसी ही परासम्बन्धी व्याख्याओं का सहारा लेते हैं। उनका कहना है कि

मानव मन जैसा हम उन्हें समझते हैं, उनसे कहीं वृहद् हैं, कि किसी मन के भाग दूसरे मन के भाग बनने के लिये जा सकते हैं, कि मन एक-दूसरे में प्रवेश कर जाते हैं और आपस में मिल जाते हैं, कि विशिष्ट मन केवल मायिक आभास हैं, कि सब मनों के अन्तर्गत एक ही मन है जिसके दूसरे मन बहुत से पहलू हैं। परन्तु इस प्रकार की व्याख्याओं का समर्थन अनुभव नहीं करता। निवेदन में एक अनुभव ज्यों का त्यों दूसरे के पास नहीं जाता। जो होता है वह यह है कि किन्हीं निर्दिष्ट दशाओं में दो पृथक् मनों में बहुत कुछ समान अनुभव उपस्थित होते हैं। अन्यचित्तज्ञान (टैलीपैथी), मोहन (हिप्नौटिज़्म), और अप्रत्यक्षदर्शन (क्लेअरवोयेन्स) की बात जाने दीजिये। वैधिक रीति से हमें मनों की पृथकता माननी पड़ती है। बहुत अनुकूल परिस्थिति में उनके अनुभव, यदि हम कड़ी दृष्टि से जाँच न करें तो, समान हो सकते हैं। निवेदन तब होता है जब हम वाह्य उपकरणों पर इस प्रकार क्रियाशील होते हैं कि उस क्रियाशीलता से परिवर्तित उपकरण दूसरे मन को प्रभावित करने में सफल होते हैं और उस मन में एक ऐसा अनुभव होता है जो हमारे अनुभव के समान होता है तथा किसी कदर हमारे अनुभव से निश्चित होता है। ऐसे अनुभव को जो दो आदमियों के प्रत्यक्ष हो, एक आदमी दूसरे आदमी से आसानी से निवेदित कर सकता है। मानो, एक आदमी ने बाज़ीगर देखा है और दूसरे ने नहीं देखा है और बाज़ीगर दोनों के सम्मुख उपस्थित है, तो जिसने पहले बाज़ीगर देखा है वह दूसरे से कह सकता है कि यह बाज़ीगर है और दूसरा समझ लेता है कि वह बाज़ीगर है। परन्तु यदि वही आदमी दूसरे आदमी से बाज़ीगर की अनुपस्थिति में बाज़ीगर का अनुभव निवेदित करे तो तभी वह दूसरे आदमी को अपना अनुभव निवेदन करने में सफल होगा जब वह वर्णनकला में प्रवीण हो और दूसरे में बड़ी संवेदनशीलता और ग्रहणक्षमता हो। साधारणतौर से निवेदन ऐसे दो आदमियों में ही आसान होता है जिनमें बड़ी घनिष्ठता हो, जो बहुत दिनों तक साथ-साथ एक ही परिस्थिति में रहे हों, जिनके अनुभवों की पुञ्जि बहुत कुछ एक-सी हों। ऐसे आदमियों के लिये भी इस बात की और आवश्यकता है कि वे अपने पुराने अनुभवों को उचित विवेक के साथ याद ला सकें। यदि ऐसी समानताएँ नहीं तो निवेदन सम्भव नहीं। कठिन उदाहरण वे हैं जिनमें निवेदन करने वाला ही सुनने वाले के अनुभव के कारणों को बहुत कुछ स्वयं देता और नियन्त्रित करता है, जिनमें सुनने वाला अपने पुराने अनुभवों के तत्त्वों को समाविष्ट हो जाने से कठिनाई से रोक पाता है। ऐसे कठिन उदाहरणों में निवेदन का माध्यम नानांशक होना चाहिये। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को सन्दर्भ में सार्थक कर देता है। इसी से तो गद्य की जगह पद्य ही काव्य के अनुभवों के निवेदन के लिये श्रेष्ठ है। निवेदन की कठिनाई विषय-वस्तु की कठिनाई नहीं समझनी चाहिये। कठिन विषय, जैसे गणित और भौतिक विज्ञान के, बड़ी सुगमता से निवेदित हो सकते हैं। जहाँ निवेदन करने वाला सुनने वाले के प्रत्युत्तर (रैस्पौन्स) को नियन्त्रित करता है वहाँ तो निवेदन कठिन होता ही है। कठिनाई वहाँ भी होती है, जहाँ निर्देशों से सूचित बातों के

लिये नहीं, जैसे विज्ञान में, वरन् प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने के लिये जैसे काव्य में, निवेदन किया जाता है। ऐसे निवेदन को गहरा निवेदन कह सकते हैं।

निवेदन की सुगमता तीन बातों पर निर्भर है। पहली बात यह है कि कलाकार का पुराना अनुभव उसे प्राप्य हो; ज्यों का त्यों प्राप्य नहीं, वरन् विवेकपूर्ण। ज्यों का त्यों अनुभव तो पागलों को प्राप्य होता है। मौलिक अनुभव कुछ प्रेरणाओं पर आधारित था। यदि उन प्रेरणाओं के समान कुछ प्रेरणाएँ फिर दुबारा न उपस्थित हों तो वह अनुभव फिर जागृत नहीं हो सकता। किसी अनुभव में थोड़ी प्रेरणाएँ हो सकती हैं और किसी में बहुत सी प्रेरणाएँ हो सकती हैं। जिस अनुभव में थोड़ी प्रेरणाएँ होती हैं उसकी जागृति के मौके कम होते हैं। जब तक कि वे प्रेरणाएँ फिर प्रबल न हों, अनुभव की जागृति असम्भव है। जिस अनुभव में बहुत सी प्रेरणाएँ होती हैं उस अनुभव की जागृति के मौके बहुत होते हैं। ऐसे अनुभव की प्रेरणाओं में कुछ प्रेरणाएं एक व्यवस्था पा जाती हैं, दूसरी प्रेरणाएँ दूसरी व्यवस्था पा जाती हैं, तीसरी प्रेरणाएँ तीसरी व्यवस्था पा जाती हैं और इस प्रकार वह अनुभव इन संयुक्त प्रेरणाओं से नानांशक हो जाता है। यदि प्रेरणाओं की कोई एक व्यवस्था फिर दुबारा लक्षित हो जाय तो सारा अनुभव जागृत हो जाता है। नानांशक अनुभव भी वह जल्दी जागृत होता है जिसकी प्रेरणाओं अथवा प्रेरणाओं की नाना व्यवस्थाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सुव्यवस्थित अनुभव, चाहे भागों में, चाहे समस्त सङ्कत मौकों पर, आसानी से प्राप्त होता है। अनुभव शिराविषयक प्राबल्य से आई हुई जागरुकता की अवस्था में अच्छी तरह व्यवस्थित होता है। स्वभाव से हीन जागरुकता की अवस्थाएँ साधारण मनुष्यों की अपेक्षा कलाकार को अधिक संख्या में सुलभ होती हैं। इसीलिये कलाकार के अनुभव सुव्यवस्थित होते हैं और वह अपने पहले अनुभवों को आसानी से जगा लेता है। उसका नया अनुभव भी जागरुकता की अवस्था में सुव्यवस्थित होता है और यदि कलाग्राही भी जागरुकता की अवस्था में हो और कलाकार के अनुभव की प्रेरणाएँ पर्याप्त मात्रा में उसकी भी रही हों तो कलाकार का अनुभव उसके लिये सुगमता से निवेदित हो जाता है। दूसरी बात जिससे निवेदन सुगम हो जाता है, वह निवेदित अनुभव की विशिष्टता है। यह विशिष्टता रोग, उत्केन्द्रता, या नियमातिरिक्तता के कारण नहीं होती। यह विशिष्टता ऐसे अनुभवों के नियमित दिशाओं में सूक्ष्म विकास से आती है जो मानव जाति के आम रास्ते में होते हैं और जो सबकी पहुँच के भीतर होते हैं। व्यवस्था में ये अनुभव समकालीन बहुत से मनुष्यों के अनुभवों से बढ़े-चढ़े होते हैं। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं पर रूढ़ियाँ, रिवाज, और नियम आसानी से नहीं बदलते हैं। कवि अपनी अधिक संवेदनशीलता के कारण यह देख लेता है कि उसके समय की रूढ़ियाँ, रिवाज, और नियम उस काल के जीवन के अनुकूल नहीं हैं और साधारण मनुष्यों से पहले अपने को पुनर्व्यवस्थित कर लेता है। उसके मन का विकास औरों से पहले होता है। यह विकास मन के उन नये, सुनम्य, और अस्थिर भागों की ओर से होता है जिनके लिये पुनर्व्यवस्था आसान होती

है। पुनर्व्यवस्था भी ऐसी होती है जो समस्त शरीर और मन के हित में होती है। ऐसी पुनर्व्यवस्था से आतान (स्ट्रेन) कम हो जाता है और प्राणी को सुख मिलता है। पुनर्व्यवस्था में आतान का कम होना इस बात का प्रमाण है कि विकास हितकारी है। शैली ने अपने को आदर्श सौन्दर्य को स्त्रियों के रूप में पाने के आधार पर पुनर्व्यवस्थित किया। इस पुनर्व्यवस्था से उसका जीवन दिन पर दिन दुःखमय होता गया और वह अकाल मृत्यु का शिकार हुआ। इस प्रकार का विशिष्ट अनुभव व्यापक रूप से निवेदनीय नहीं होता है। शैली के 'एलास्टर' पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अनुभव की वही विशिष्टता निवेदनीय होती है जो नियमित दिशा में है। इसका उदाहरण शेक्सपिअर है और कीट्स भी होता यदि वह बहुत दिनों तक जीवित रहता। अनुभव की प्राप्यता और व्यवस्थित अनुभव भी नियमित दिशा में विशिष्टता के बाद तीसरी बात जिससे निवेदन सुगम हो जाता है, वह अनुभव की उपयुक्त माध्यम में अभिव्यक्ति है। इसके लिए कलाकार को रचनाकौशल में अभ्यस्त होना चाहिए।

रचनाकौशल (टैक्नीक) आन्तरिक धारणा की प्रतीकों में अभिव्यक्ति है। इसीलिए जो लक्षण आन्तरिक धारणा के होंगे वही लक्षण रचनकौशल के होंगे। आन्तरिक धारणा के दो लक्षण होते हैं—पहले तो भावमय विचार, और दूसरे उनका ऐक्य। आन्तरिक धारणा की वस्तु टुकड़ों-टुकड़ों में व्यक्त की जाती है; परन्तु जब वह इस तरह व्यक्त की जा रही है, अन्त में वह ऐक्य में स्थापित होने की क्षमता भी व्यक्त करती जा रही है। और जब समस्त वस्तु व्यक्त हो जाती हैं तो वह वास्तव में विन्यस्त ऐक्य है। रचनाकौशल में भावमय विचारों के अनुरूप वाक्सरणि और ऐक्य के अनुरूप रूप होता है। वाक्सारणि आन्तरिक धारणा की वस्तु का प्रतीक है और रूप उसके ऐक्य का प्रतीक है। इस प्रकार रचनाकौशल के भी दो लक्षण हुए—पहले तो वाक्सरणि और दूसरे रूप। वाक्सरणि में शब्दों के अर्थ और उनकी आवाज़, दोनों निर्दिष्ट हैं। सङ्केतित अर्थ और उच्चरित शब्द दोनों मिलकर अभिव्यक्त अनुभव अथवा कलाकृति के वस्तु हुए और वे दोनों शारीरिक विकास प्राप्त कर रूप का आविर्भाव करते हैं। वस्तु और रूप में केवल प्रत्ययात्मक पार्थक्य है। वस्तु और रूप एक हैं यह कहना ठीक है, परन्तु जब दोनों एक हैं तो दोनों लोप हो जाते हैं और केवल कलाकृति ही रह जाती है। परन्तु जब हम कहते हैं कि अमुक कृति का रूप है तभी हम टेढ़े तरीके से यह कहते समझे जाते हैं कि उस कृति की विषय-वस्तु है। वास्तव में वस्तु और रूप एक ही चीज के दो पहलू हैं और जब हम दोनों पहलुओं पर विचार करते हैं तो यह कहने में कोई सार्थकता नहीं कि वे एक हैं। वस्तु और रूप दोनों पहलुओं पर विचार करने से कला के रचनाकौशल सम्बन्धी विषय के मीमांसन में बड़ी सहायता मिलती है। यदि मनुष्य अपने अनुभव को ज्यों का त्यों सीधे निवेदित कर सकता तो इन विचारों की आवश्यकता न होती। परन्तु, क्योंकि अनुभव टेढ़े तरीके से प्रतीकपद्धति, द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, उसकी अभिव्यक्ति

की पहली अवस्था उसको टुकड़ों में तोड़ना होता है; और जैसे ही कि टुकड़ों को क्रम से व्यक्त करने के लिये उपयुक्त प्रतीकों का प्रयोग किया जा रहा है, कलाकार इस बात को भी पूरी तरह से ध्यान में रखता है कि पीछे से टूटा हुआ समस्त अनुभव फिर से एक हो जाय। वास्तव में अनुभव का कोई विशेष ब्योरा तब तक ठीक व्यक्त नहीं हो सकता जब तक कि वह इस प्रकार व्यक्त नहीं किया जाता कि वह आखिरी समस्त अभिव्यक्ति से घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित न हो। इस प्रकार रूप को कोई बाह्य चीज़ न समझना चाहिए जिसको पीछे से कलावस्तु पर आरोपित किया जाता है; कला के रूप का अन्तिम स्थापन कलाकृति के अस्तित्व की समस्त परिक्रिया में निहित होता है। रचनाकौशल का सिद्धान्त है कि कार्यसाधक ही व्यञ्जक है और इसी सिद्धान्त पर आधारित कला में रूप-सौष्ठव होता है।

प्रत्येक कला की आधाररूपी वस्तु होती है जिसे साध कर उसे रूप देता हुआ कलाकार उसके रूप में अपने अनुभव के रूप को व्यक्त करता है। उसका अनुभव कलाधार के उपयोग से पहले ही रूप पा गया हो, यह सम्भव है; परन्तु यह रूप कलाधार के उपयोग के साथ-साथ भी विकसित हो सकता है और कलाधार के उपयोग से पहले वाला रूप परिवर्तित भी हो सकता है। पिछली दोनों बातें ज्यादा होती हैं। काव्य के आधार शब्द हैं। काव्य शब्दों को इस तरह इस्तेमाल करता है कि हमारे भाव और विचार हमारी कल्पना में इन्द्रियोत्तेजक अनुभवों के रूप नाट्य करने लगते हैं और वे अन्त में अपने को रूप में व्यवस्थित कर लेते हैं। रचनाकौशल द्वारा काव्य भाषा को आन्तरिक अनुभव के समतुल्य होने के लिए विवश कर देता है। काव्य की यह शक्ति कविता में अधिक दृष्टिगोचर है। कविता भाषामें आन्तरिक अनुभव का फोटो देने में उद्यत होती है, और इस उद्देश्य को वह शब्दों के अर्थविषयक और आवाज़विषयक दोनों धर्मों का उपयोग करके पाती है।

शब्दों के दो तरह के अर्थ होते हैं--सरल और प्रतीयमान। किसी शब्द का सरल अर्थ वही है जिसे हम शब्दकोष में पाते हैं; जो वाक्य निर्माण की प्रक्रिया में सहायक होता है, जो विचार की व्यवस्था को निश्चित करता है। किसी शब्द का सरल अर्थ इस शब्द की परिभाषित अथवा तार्किक विशेषता है। शब्द का सरल अर्थ वह अर्थ है जो उसके मूल्य की समस्त सम्भव विभिन्नताओं में व्यापक होता है, वह प्रत्येक शब्द के शक्य मूल्य का आसन्न और सिद्ध सूत्र है; वह उसका खरा और स्पष्ट दर्शन है। कविता शब्दों का उनके सरल अर्थों में प्रयोग करती है, परन्तु शब्दों के असरल मूल्यों पर अधिक एकाग्र होती है। शब्दों का असरल या काव्यात्मक मूल्य उनके अर्थ की असामान्य योग्यता के अतिरिक्त कोई दूसरी चीज नहीं है। यह असामान्य योग्यता विशिष्ट साहचर्यों में संदर्भ से व्यञ्जित उत्कटता के कारण आती है। शब्द को मूल्य देने में कवि उस शब्द को उसके सरल अर्थ से हटाकर उसे ऐसे अर्थ का व्यञ्जक करता है जिससे वह शब्द वैयक्तिक शक्ति और विशिष्ट जान पा

जाता है। शब्दों मूल्य का स्त्रोत अनुभव है। किसी शब्द का मूल्य जीवन के व्यापारों के सम्बन्ध में उसके प्रयोग से आता है। जीवन के कोई दो व्यापर एक से नहीं होते परन्तु उनको व्यक्त करने के लिए शब्द एक से हो सकते हैं। जीवन का कोई कार्य या व्यापार अपने को नहीं दुहराता, परन्तु भाषा को अपने को दुहराना पड़ता है। इसी कारण थोड़े-थोड़े भिन्न कार्यों और व्यापारों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होते-होते शब्द अनेक विभिन्न अर्थों का सूचक हो जाता है; और जितने समय तक वह शब्द भाषा में जीवित रहता है उतने समय तक ही वह विभिन्न कार्यों और कार्यों की विभिन्न विशेषताओं का सूचक हो जाता है। फिर, किसी शब्द से चिह्नित कोई जीवन-कार्य दूसरे अनुभूत कार्यों में फँसा हुआ पुनरुपस्थित हो सकता है। इस प्रकार किसी शब्द की विभिन्न व्यञ्जकता एक ही कार्य से सीमित नहीं रहती, वरन् दूसरे अनुभवों से सम्बन्धित अवस्थाओं और परिस्थितियों तक बढ़ जाती है, और धीरे-धीरे उस शब्द में व्यञ्जकता की एक अद्भुत राशि इकट्ठी हो जाती है। ऐसे समृद्ध शब्दों ही में सौन्दर्य की अनुभूति होती है। सुन्दर शब्द, जैसा कि यूनानी-आलोचक लॉञ्जायनस ने कहा था, भावों और विचारों के प्रकाश हैं। यों तो कवि को सभी शब्द प्रिय होते हैं पर सुन्दर शब्द विशेष रूप से प्रिय होते हैं। ये उनके घनिष्ठ सम्बन्धी, सखा और मित्र होते हैं। इस प्रसङ्ग में हमें एक सच्ची कहानी याद आ जाती है। रामानुजम् जो प्रोफेसर हार्डी के साथ गणित में अनुसन्धान करते थे, एक बार बीमार हो गये। उन्हें देखने के लिए प्रोफेसर हार्डी एक बस में आये जिसका नम्बर सत्तरहसौ उन्तीस था। प्रोफेसर हार्डी ने बातों में कहा, "रामानुजम्, मैं एक ऐसी गाड़ी में आया जिसका नम्बर बड़ा मनहूस है।" रामानुजम् ने पूछा, "वह क्या है ?" प्रोफेसर हार्डी ने कहा, "सत्तरहसौ उन्तीस।" रामानुजम् ने एकदम कहा, "नहीं, नहीं प्रोफेसर हार्डी। यह नम्बर मनहूस नहीं बल्कि बड़ा चित्ताकर्षक है।" प्रोफेसर हार्डी ने पूछा, "कैसे ?" रामानुजम् ने कहा, "सत्तरहसौ उन्तीस अंकगणित की पहली ही वह अभाज्य संख्या है जो भिन्न-भिन्न दो संख्याओं के घनों का योग होती है। देखिये, बारह का घन और एक का घन भी जुड़कर सत्तरहसौ उन्तीस होता है और दस का घन और नौ का घन भी जुड़कर सत्तरहसौ उन्तीस होता है।" प्रोफेसर हार्डी सुनकर चकित रह गये। उन्होंने रामानुजम् का जीवन चरित्र लिखते समय इस घटना के विषय में लिखा है कि रामानुजम् अङ्कगणित की अभाज्य संख्याओं के साथ इस प्रकार रहता था जैसे कोई अपने घनिष्ठ मित्रों के साथ रहता है। बस, ऐसे ही कवि सुन्दर शब्दों के साथ रहता है। वह उनके आन्तरिक और वाह्य गुणों से पूर्णतया परिचित होता है। अतिशयोक्ति में हम यह कह सकते हैं कि कवि का जीवन-आनन्द ही शब्दमयी अभिव्यञ्जना है। ऐसे प्रचलित शब्द जो जीवन के विभिन्न कार्यों से सम्बन्धित होकर समृद्ध हो जाते हैं, पाठक को काव्य-रस का आस्वादन देते हैं। कवि कभी-कभी शब्दों को उन्हें थोड़े से बदले हुए अर्थ में प्रयोग करके ऊपर उठा देता है। एरिस्टॉटल ने यह मति कवियों को दी थी, "तुम्हें अपने वाक्यांश

को पारदेशिक (फॉरेन) रूप देना चाहिये, क्योंकि शैली के सम्बन्ध में मनुष्य ऐसे ही प्रभावित होते हैं जैसे वे दूसरे देश के नागरिकों से प्रभावित होते हैं।" इसी कारण कवियों को यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वे पुराने शब्दों को पुनर्जीवन दे दें, उपभाषाओं के शब्दों का प्रयोग कर लें, और नये शब्द गढ़ लें। बहुत से शब्द ऐसे हैं जो कविता में सदियों से प्रयुक्त होते-होते काव्यात्मक वाक्सरणि हो गये हैं जैसे अंग्रेजी में मॉर्न, क्लाइम, और दूसरे शब्द। इन शब्दों में व्यञ्जकता नहीं रह जाती और इनका उपयोग करना अच्छी रुचि के मुआफ़िक नहीं है।

प्राच्य साहित्यशास्त्र में रचनाकौशल पर बड़ा ध्यान दिया गया है। शब्द का जैसा सूक्ष्म अध्ययन यहाँ हुआ है, वैसा योरुप में नहीं हुआ। 'विष्णुपुराण' में शब्द को विष्णु का अंश माना गया है और 'महाभाष्य' में लिखा है कि एक शब्द का यदि सम्यक् ज्ञान हो जाय और उसका सुन्दर रूप में प्रयोग किया जाय तो वह शब्द लोक और परलोक दोनों में अभिमत फल का दाता होता है। शब्द का शास्त्रों में बड़ा महत्त्व है और उसके अर्थज्ञान के हेतु उसके व्यापारों का सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन करीब-करीब सब साहित्यशास्त्रों में मिलता है। शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा, और व्यञ्जना। शक्ति से अभिप्राय शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का है। साक्षात् सङ्केतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं। अभिधा शक्ति से पद-पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का रूप खड़ा होता है। उदाहरण के लिये, 'गधा एक जानवर है,' इस वाक्य में गधा शब्द का अपने अर्थ में साक्षात् सङ्केत है और इस अर्थ का ज्ञान हमें गधा शब्द की अभिधा शक्ति से होता है। शब्द की दूसरी शक्ति लक्षणा है। मुख्यार्थ की बाधा या व्याघात होने पर रूढ़ि या प्रयोजन को लेकर जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा कहते हैं। उदाहरण के लिए, 'यह नौकर गधा है,' यहाँ गधे का अर्थ साक्षात् सङ्केतित नहीं होता। इस वाक्य में अभीष्ट अभिप्राय-सिद्धि के लिए सादृश्य के आधार पर अप्रसिद्ध अर्थ बेवकूफ से इसका अर्थ जोड़ा गया। अतः गधे से बेवकूफ अर्थ का ज्ञान होना उस शब्द की लक्षणा शक्ति द्वारा है। शब्द की तीसरी शक्ति व्यञ्जना है। अभिधा और लक्षणा के अपना-अपना अर्थबोध करा के विरत—शान्त—हो जाने के बाद जिस शक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है, उसे व्यञ्जना कहते हैं। उदाहरण के लिए, 'मैं हूँ पतित, पतिततारन तुम,' यहाँ वाच्यार्थ है, 'मैं पापी हूँ, तुम पापियों का उद्धार करने वाले हो'। परन्तु इस वाक्य का यह अर्थ भी निकलता है, जब तुम पतितों के उद्धार करने वाले हो, तो मुझ पतित का भी उद्धार करोगे। 'गङ्गा पर गाँव है,' इस उदाहरण में अभिधा शक्ति कोई अर्थ नहीं देती, गाँव गङ्गा के ऊपर नहीं हो सकता। लक्षणा शक्ति से गङ्गा पर का अर्थ 'गङ्गा के किनारे पर' लक्षित होता है, और व्यञ्जना शक्ति से 'गाँव के शीतल और पावन होने की अधिकता' का ज्ञान होता है। पाश्चात्य रचनाकौशल के विषय में ऊपर हम कह चुके हैं कि कविता, व्यञ्जक-शब्दों को अधिक पसन्द करती है। शुक्ल जी का मत है कि काव्य की रमणीयता

वाच्यार्थ में होती है किन्तु यह ज्यादा ठीक नहीं है। पाश्चात्य आलोचना की एक उक्ति है कि रूपक सूक्ष्माकार कविता है। यदि अपने जीवन में कोई कवि एक नये व्यञ्जक रूपक का आविष्कार करे तो वह कवियों में बड़ी ऊँची पदवी का हक़दार है। हम यहाँ शास्त्रीय मत का समर्थन करते हैं कि कविता की जान व्यञ्जकता ही में है, व्यञ्जना चाहे रस-भाव की हो चाहे वस्त्वलङ्कार की। इस विषय पर वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की आलोचनात्मक बहस बड़ी शिक्षाप्रद होगी।

कविता, भाषा को भावों और विचारों का यान नहीं बनाती बल्कि वह भाषा को उनका प्रतिनिधि बनाने का प्रयास करती है। इसी प्रयास में वह उन सब गुणों का एक साथ प्रयोग करती है जो भाषा में होते हैं। भाषा का मौलिक रूप तो बोली है, लिखित रूप तो पीछे की चीज़ है। बोला हुआ शब्द प्राथमिक है, वही विचार का प्रतीक है। लिखा हुआ शब्द बोले हुए शब्द का प्रतीक है और इस तरह प्रतीक का प्रतीक है। मन-मन में पढ़ने की वृत्ति ने लिखित शब्द को ही विचारों का सीधा प्रतीक बना दिया है। परन्तु बात यह है कि भाषा विचारों की निवेदनीय प्रतीक पद्धति होने की हैसियत से दो तरह का अस्तित्व रखती है—दृश्यमान चिह्न और श्रोतव्य चिह्न। कविता में भाषा का अस्तित्व बतौर श्रोतव्य चिह्न है। जब हम कविता को मन में पढ़ते हैं तब भी हम उसे मन में सुनते हैं; और कविता को सदा आवाज़ से पढ़ना चाहिये, क्योंकि आवाज़ द्वारा भी कवि अपने अनुभव का कुछ भाग व्यक्त करता है। फिर भी भाषा की दृश्यमान हैसियत को कम महत्त्व नहीं देना चाहिये। श्रोतव्य चिह्नों से हमारी अन्तर्वेगीय ग्रहणशीलता उन्नत होती है, परन्तु लिखी हुई या छपी हुई भाषा में आँख के सहारे विचारों के सूक्ष्म साहचर्य या सार्थकता के आनुक्रमिक विकास का जैसा ग्रहण होता है वैसा सुनी हुई भाषा में नहीं होता। फिर भी काव्यात्मक भाषा की प्रेरणा आँखों और कानों दोनों को साथ-साथ होती है और काव्य-प्रणयन में श्रोतव्य रचनाकौशल की समस्या उठ खड़ी होती है।

श्रोतव्य रचनाकौशल के लिये कवि को श्रवणेन्द्रियमूलक मन को संस्कृत करना चाहिये। वह स्वरशास्त्र में प्रवीण हो। स्वर और व्यञ्जनों के संक्रमण से वह मनोवाञ्छित प्रभाव पैदा कर सके। अनुप्रास ध्वन्यनुकरण, तुक, और पुनरावृत्ति से भाषा को चमत्कृत करने की उसमें क्षमता हो।

स्वर और व्यञ्जनों के संक्रमण के विषय में साधारण सिद्धान्त यह है कि लघु स्वरों का बाहुल्य पद्यांश में गति का वेग लाता है और ऐसे विचारों का व्यञ्जक होता है जिनमें क्षिप्रता, वेग, कोमलत्व, तुच्छता, और चापल्य का सम्बन्ध हो। इसके विरुद्ध दीर्घस्वरों का बाहुल्य पद्यांश को मन्द गति देता है और ऐसे विचारों का व्यञ्जक होता है जिनमें दीर्घता, अवकाश, समय, दूरी, दौर्बल्य, थकावट, विश्राम, गाम्भीर्य और गौरव का सम्बन्ध हो। मिल्टन का 'लैलैग्रो' और टैनीसन का 'द बुक' लघुस्वरों के बाहुल्य के उदाहरण हैं और मिल्टन का 'इल पैन्सरोसो' दीर्घस्वरों के बाहुल्य का उदाहरण हैं।

दीर्घस्वरों में ओ-स्वर विशेषतया सुस्वर है। हुड के इस पद्यांश को आवाज़ से पढ़िये—

गोल्ड ! गोल्ड ! गोल्ड ! गोल्ड !
ब्राइट एण्ड यलो, हार्ड एण्ड कोल्ड,
मोल्टेन, ग्रेवेन, हैमर्ड एण्ड रोल्ड;
हैवी टु गेट एण्ड लाइट टु होल्ड;
होर्डेड, बार्टर्ड, बॉट एण्ड सोल्ड,
स्टोलेन, बारोड, स्क्वैण्डर्ड, डोल्ड,
स्पर्ण्ड बाइ द यंग बट हग्ड बाई द ओल्ड
टु द वैरी वर्ज आफ़ द चर्च-यार्ड मोल्ड;
प्राइस आफ़ मेनी ए क्राइम अनटोल्ड।[१]

व्यञ्जनों में ल, म, न, और र सुस्वर हैं तथा ट ठ, ग और क कुस्वर हैं। ऐसे शब्द जिनमें कई व्यञ्जनों के साथ एक स्वर हो, ख़ास तौर से परुष होते हैं; जैसे, स्ट्रैच्ड और स्क्रीच्ड। सुस्वरता का उदाहरण यह है :—

मेम्नोनियन लिप्स !
स्मिटेन विद सिंगिग फ़्राम दाई मदर्स ईस्ट,
एण्ड मर्मरस विद म्यूज़िक, नॉट देयर ओन।[२]

कुस्वरता का यह उदाहरण है :—

इर्क्स केयर द क्रापफ़ुल बर्ड ? फ्रेट्स डाउट
द मॉ-क्रैम्ड बीस्ट।[३]

निकटस्थित शब्दों के एक या दो शुरू के व्यञ्जनों की समानता या ऐसे शब्दों के

---

[१] Gold ! gold ! gold ! gold !
Bright and yellow, hard and cold,
Molten, graven, hammered and rolled;
Heavy to get, and light to hold;
Hoarded, bartered, bought and sold,
Stolen, borrowed, squandered, doled :
Spurned by the young but hugged by the old
To the very verge of the church-yard mould;
Price of many a crime untold.

[२] Memnonian lips !
Smitten with singing from the mother's east !
And murmurous with music, not their own.

[३] Irks care the cropful bird ? Frets doubt
the maw-crammed beast.

स्वराघात से उच्चरित अक्षरों की समानता को अनुप्रास कहते हैं; जैसे डीप डैम्नेशन और लव्ज़ डिलाइट। अनुप्रास भाषा का सुन्दर गहना है। कभी-कभी वह अर्थ को भी दीप्त कर देता है, जैसे कार्डीनल वोल्ज़ी के विषय में ये प्रसिद्ध पद—

बिगॉट बाइ बुचर्स, बट बाइ बिशप्स ब्रेड,
हाउ हाइ हिज़ ऑनर होल्ड्स हिज़ हॉटी हेड।[1]

ज्यादा अनुप्रास बुरा हो जाता है; जैसे

ओ विण्ड, ओ विङ्गलेस विण्ड दैट वाक्स्ट द सी,
वीक विण्ड, विङ्ग ब्रोकेन वीयरियर विण्ड दैन वी।[2]

ध्वन्यनुकरण की रमणीयता इन पदों में देखिये :—

द मोन ऑफ़ डव्ज़ इन इम्मेमोरियल एल्म्स,
एण्ड मर्मरिङ्ग ऑफ़ इन्यूमरेबिल बीज़।[3]

या इन पदों में देखिये :—

द ब्राड एम्ब्रोज़ियल एइल्स ऑफ़ लॉफ्टी लाइन,
मेड न्वायज़ विद बीज़ ऐण्ड ब्रीज़ फ्राम एण्ड टु एण्ड।[4]

तुक तो प्रायः सभी भाषाओं में कवित्व का महत्त्वपूर्ण आधार है। वह भाषा को छन्द से भी अधिक ऊपर उठा लेती है और कवित्व के वातावरण को घोषित कर देती है। तुक एक या दो अक्षरों पर अच्छी लगती है। ज्यादा अक्षरों पर या तो बुरा हो जाती है या हास्य हो जाती है; जैसे—

टिज़ पिटी लर्नेड वर्जिन्स एवर वेड
विद परसन्स ऑफ़ नो सार्ट ऑफ़ एजुकेशन,
ऑर जेण्टिलमेन, हू, दो वेल बोर्न एण्ड ब्रेड,
ग्रोज़ टायर्ड ऑफ़ साइण्टिफ़िक कनवर्सेशन,
आई डोण्ट चूज़ टु से मच अपॉन दिस हेड
आइम ए प्लेन मैन एण्ड इन ए सिंगिल स्टेशन

---

[1] Begot by butchers, but by bishops bred,
How high his honour holds his haughty head.

[2] O wind, O wingless wind that walk'st the sea,
Weak wind, wing broken wearier wind than we.

[3] The moan of doves in immemorial elms,
And murmuring of innumerable bees.

[4] The broad ambrosial aisles of lofty line,
Made noise with bees and breeze from end to end.

बट-ओह् ! यी लार्ड्स ऑफ़ लेडीज़ इण्टेलेक्चुअल
इन्फ़ार्म अस ट्रूली, हैव दे नॉट हेनपेक्ड यू आल ?[1]

पद्य में शब्दों की पुनरावृत्ति बड़ी मनोहर होती है। उसकी शोभा स्विनबर्न के इन पदों में देखिये :—

आई हैव पुट माई डेज़ एण्ड ड्रीम्स आउट ऑफ़ माइण्ड
डेज़ दैट आर ओवर, ड्रीम्स दैट आर डन।[2]

या इन पदों में देखिये :—

डिलाइट, द रूटलैस फ्लावर,
एण्ड लव, द ब्लमलैस बावर,
डिलाइट, दैट लिव्ज़ ऐन आवर,
एण्ड लव दैट लिव्ज़ ए डे।[3]

श्रोतव्य रचनाकौशल में सुस्वरता से भी अधिक व्यञ्जकता लय और छन्द की है। पद्य में दो तत्त्व होते हैं; प्रज्ञात्मक और अन्तर्वेगीय। प्रज्ञात्मक तत्त्व तो शब्दों में व्यक्त हो और अन्तर्वेगीय तत्त्व लय में। प्रत्येक लय का अलग धर्म होता है और वह मन की विशिष्ट अवस्था की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त होती है। आइम्बिक लय वर्णन और ध्यानात्मक विषयों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त है। ट्रौकेक लय आइम्बिक लय से अधिक त्वरित और उल्लसित है और उल्लास के विषयों अथवा वेगमय वर्णनों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त है। एनैपैस्टिक लय एकस्वरता के दोष में पड़ जाती है। डैक्टिलिक लय में सांग्रामिक अनुवाद है और उल्लसित और सोत्साह विषयों की अभिव्यञ्जना के लिए उपयुक्त है। लय की उत्पत्ति अन्तर्वेग से है और अन्तर्वेग को उत्तेजित

---

१ 'Tis pity learned virgins ever wed
With persons of no sort of education,
Or gentleman, who, though well born and bred,
Grows tired of scientific conversation;
I don't choose to say much upon this head,
I'm a plain man and in a single station
But—Oh ! ye lords of ladies intellectual
Inform us truly, have they not henpecked you all ?

२ I have put my days and dreams out of mind
Days that are over, dreams that are done,

३ Delight the rootless flower,
And love the bloomless bower;
Delight that lives an hour,
And love that lives a day,

करने की उसमें विशेष क्षमता है। लय हमें हँसा सकती है; लय हमें रुला सकती है; लय हमें अपकृष्ट कर सकती है; लय हमें उत्कृष्ट कर सकती है; लय हमें सुला सकती है; लय हमें जगा सकती है; लय हमें शान्त कर सकती है; लय हमें उन्मत्त कर सकती है; लय हमें संसार में अनुरक्त कर सकती है; लय हमें उदासीन कर सकती है; लय हमें हमारा सच्चा रूप दिखा सकती है; लय हमें ब्रह्मप्राप्ति की ओर उन्नत कर सकती है। लय हमारे शरीर में हरकत कर देती है, हम ताल देने लगते हैं, हम नाचने लगते हैं। लय हमारे हृदय, हमारे फेफड़े, हमारी नाड़ियों को प्रभावित कर देती है। लय के प्रभाव के हेतु लय का विवेकपूर्ण उपयोग होना चाहिये। भाव की जहाँ जैसी गति हो वहाँ वैसी ही लय होनी चाहिये। नीचे के प्रत्येक पद्यांशों में लय किस उपयुक्ता से बदल जाती है :—

नाउ परसूइङ्ग, नाउ रिट्रीटिङ्ग,
नाउ इन सर्कलिङ्ग ट्रूप्स दे मीटः
टु ब्रिस्क नोट्स इन केडेंस बीटिङ्ग
ग्लांस देयर मैनी ट्विंकलिङ्ग फीट,
स्लो मीटिङ्ग स्ट्रेन्स देयर क्वीन्स ऐप्रोच डिक्लेयर;
इन ग्लाइडिङ्ग स्टेट शी विन्स हर ईजी वे।[१]

पहली चार लाइनों में लय ट्रौकेक है और आखिरी दोनों लाइनों में लय आइम्बिक है।

विद मैनी ए वीयरी स्टेप, एण्ड मैनी ए ग्रोन,
अप द हाई हिल दी हीव्स ए ह्यूज राउण्ड स्टोन;
द ह्यूज राउण्ड स्टोन रेजेल्टिङ्ग विद ए बाउण्ड,
थण्डर्स इम्पेचुअस डाउन, एण्ड स्मोक्स एलाङ्ग द ग्राउण्ड।[२]

इस पद्यांश में तीसरी लाइन के मध्य तक श्रमसूचक मन्द गति है और उसके बाद पत्थर के लुढ़कने के वेग दिखाने के लिए गति में वेग आ जाता है और इस परिवर्तन को दिखाने के लिए कवि आइम्बिक लय को छोड़ कर ट्रौकेक लय का प्रयोग करता है।

---

[१] Now pursuing, now retreating.
Now in circling troops they meet :
To brisk notes in cadence beating
Glance their many twinkling feet.
Slow meeting strains their queen's approach declare;
In gliding state she wins her easy way.

[२] With many a weary step, and many a groan,
Up the high hill he heaves a huge round stone;
The huge round stone resulting with a bound,
Thunders impetuous down, and smokes along the ground.

अंग्रेजी में स्वराघात होने के कारण गद्य में भी लय होती है। गद्य तार्किक वाक्यांशों में विभक्त होती है और प्रत्येक वाक्यांश में एक स्वराघात होता है। कोई शब्द दो या अधिक टुकड़ों में विभक्त नहीं होता। गद्य की लय का सिद्धान्त अनेकरूपता और अनियमितता है। पद्य की लय में एकरूपता और नियमितता होती है। उसमें लय और पद का ढाँचा भी होता है। ऐसा व्यवस्थित ढांचेदार पद ही छन्द होता है। छन्द का काव्यात्मक मूल्य और भी अधिक है। छन्द, प्रवेक्षण (एण्टिसीपेशन) की प्रवृत्ति को उत्तेजित करके शब्दों का एक दूसरे से सम्बन्ध घनिष्ट कर देता है। छन्द विस्मय द्वारा चेतना को धीमा करके मोहननिद्रा-सी ले आता है और सुविकारता, सूचकता, और संवेदनशीलता की वृद्धि करता है। छन्द अपनी गति और ध्वनि से अर्थ-प्रकाशन करता है। यदि अंतर्वेग अति तीव्र हो, तो छन्द उसकी तीव्रता कम कर देता है और यदि अंतर्वेग अति मन्द हो, तो छंद उसको उत्कृष्ट कर देता है। छंद कविता का वातावरण उपस्थित कर देता है; काव्यात्मक अनुभव को छंद साधारण जीवन के रागों से पृथक कर देता है। छन्द काव्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति को स्थिर और परिभाषित कर देता है। छन्द, कल्पना को प्रज्वलित कर कवि को ऐसी दृश्यमान और श्रोतव्य प्रतिमाएँ प्रदान करता है जिनसे उसके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है।

भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने श्रोतव्य रचनाकौशल का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। माधुर्य, ओज, और प्रसाद तीनों गुणों की उत्पत्ति के लिये अलग-अलग अक्षर और शब्दों की बनावट निर्दिष्ट की है। कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, ङ, ञ, ण, न, म, संयुक्त वर्ण, ह्रस्व र और ण, समास का अभाव या अल्प समास के पद माधुर्य गुण के मूल हैं। यह गुण वैदर्भी रीति के अन्तर्गत है और उपनागरिका वृत्ति में अधिकता से होता है। इसका सम्बन्ध शृङ्गार, करुण, और शान्त रस के साथ है। टवर्गी अक्षर, संयुक्ताक्षरों की बहुतायत और समासयुक्त शब्द ओज गुण के मूल हैं। यह गुण गौडी रीति के अन्तर्गत है और परुषा वृत्ति में अधिकता से होता है। इसका सम्बन्ध वीर और रौद्र रस से है। स्वच्छ और साधु भाषा, समस्त पदों की कमी और जटिल और ग्रामीण शब्दों का अभाव प्रसाद गुण के मूल हैं। इस गुण वाली भाषा में सुनने मात्र से ही अर्थप्रतीति हो जाती है। यह गुण सभी रसों और रचनाओं में व्याप्त रह सकता है।

श्रोतव्य रचनाकौशल के नियमों में वास्तविकता पूरी नहीं है। किसी शब्द अथवा लय का स्वारस्य उसके भाव से अक्सर प्रभावित हो जाता है। मैलेरिया शब्द बड़ा सरस है। उसमें स्वरों के साथ म, ल, और र का प्रयोग है। एक हब्शी की स्त्री अपने बच्चे को मैलेरिया कह कर पुकारा करती थी। परन्तु बुखार का सूचक होने के कारण यह शब्द हमें सरस नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार आई० ए० रिचार्ड्स के दिये हुए नीचे के दो उदाहरणों से स्पष्ट है कि एक ही लय विषयों की विभिन्नता के कारण दो भिन्न रसों का आस्वादन देती है—

(क) डीप इएटु ए ग्लूमी ग्रॉट
(ख) डीप इएटु ए रूमी कॉट

कला के एस्थैटिक विवेचन से ये सिद्धान्त निश्चित होते हैं—

१. कलाकृति में व्यक्तित्व हो।

२. कलाकृति का अनुभव मूल्यवान् हो। अनुभव के एकीकृत तत्त्वों में जितनी विभिन्नता हो, कृति उतनी ही मूल्यवान् होगी।

३. ध्यान-योग की अवस्था में कलाकृति का रूप कलाकार और माध्यम के सम्मिश्रण द्वारा बिना किसी प्रकार की रुकावट की सफलता से निकला हो। कलाकृति से हमें सौन्दर्य की अनुभूति हो, अर्थात्, कलाकृति के अनुभव में हमें अपनी निर्मायक प्रवृत्ति की तुष्टि प्रतीत हो।

४. कलाकृति में व्यापकता हो। उसमें सामाजिक झङ्कार हो और सब संस्कृत सहृदयों को उसकी प्रेरणा हो।

५. कलाकार को रचनाकौशल पर पूरा अधिकार हो। वह रूपात्मक तत्वों को विषयात्मक तत्वों से ऐसा उपयुक्त करे कि दोनों का पार्थक्य नष्ट हो जाय।

ये एस्थैटिक मानदण्ड ही स्थायी मूल्य के सिद्धान्त हैं। इन्हीं के अनुसार कलाकार को कलासृष्टि करनी चाहिये और इन्हीं के अनुसार आलोचक को कलाकृति की जाँच करनी चाहिये।

६

ज्ञान हेतु ज्ञान (नौलिज फ़ॉर द सेक ऑफ़ नौलिज) क्रियाशीलता है। यही क्रियाशीलता तत्त्ववेता का उच्चतम आदर्श है। इस क्रियाशीलता में प्रयोजन आन्तरिक है और साधन से पृथक् नहीं है। ज्ञान जीवन के हेतु हो सकता है, आत्मा के प्रत्यक्षीकरण-हेतु हो सकता है, ब्रह्म के प्रत्यक्षीकरणहेतु हो सकता है। इन क्रियाशीलताओं में प्रयोजन क्रिया के बाहर है और साधन से पृथक् है। जीवन हेतु जीवन (लाइफ़ फ़ॉर लाइफस सेक) शुद्ध क्रियाशीलता है। यही क्रियाशीलता अनुभवनिष्ठ मनुष्य का उच्चतम आदर्श है। इस क्रियाशीलता में भी प्रयोजन आन्तरिक है और साधन से पृथक् नहीं है। जीवन कुटुम्बियों और मित्रों के लिये हो सकता है, जाति के लिये हो सकता है, देश के लिये हो सकता है, संसार के लिये हो सकता है, प्राणीमात्र के लिये हो सकता है। इन क्रियाशीलताओं में प्रयोजन साधन के बाहर है और साधन से पृथक् है। इसी प्रकार कला

हेतु कला (आर्ट फ़ॉर आर्ट्स सेक) शुद्ध क्रियाशीलता है। यही क्रियाशीलता कलाकार का उच्चतम आदर्श है। इस क्रियाशीलता में भी प्रयोजन आन्तरिक है और साधन से पृथक् नहीं है। कला सुख के लिये हो सकती है, सत्य और नैतिकता के उपदेश के लिये हो सकती है। इन क्रियाशीलताओं में प्रयोजन साधन के बाहर है और साधन से पृथक् है। कला के इन्हीं तीनों प्रयोजनों पर हमें यहाँ विचार करना है।

कलाहेतुकला शुद्ध क्रियाशीलता है। शुद्धता कैसी ? एम० ब्रैमोण्ड का कहना है कि शुद्ध कला प्रभाव से मालूम हो सकती है। कविता के विषय में उसका कहना है कि शुद्ध कविता सुसंस्कृत पाठक के मन में ध्यान की ऐसी शान्त अवस्था ले आती है जो प्रार्थना का उच्चतम रूप है। इसका अर्थ उसके अनुसार यह है कि भक्त की तरह अलौकिक आनन्द से भरी हुई शान्त अवस्था ध्यानस्थ कवि की भी होती है; और कवि शब्दों की शक्तियों का प्रयोग करके इस अवस्था को पाठकों के मन में पैदा कर देता है। इस मत की आलोचना करता हुआ मिडिल्टन मरे कहता है कि प्रत्येक अनुभव का एक प्रज्ञात्मक तत्त्व होता है और एक अन्तर्वेगीय तत्त्व होता है। दोनों तत्त्व अनुभव के अवियोज्य पहलू हैं। शुद्ध कविता समस्त अनुभव को, प्रज्ञात्मक और अन्तर्वेगीय पहलुओं सहित उसकी शारीरिक समग्रता में, उपयुक्त शब्दों द्वारा इस प्रकार निवेदित करती है कि कवि का अनुभव ज्यों का त्यों पाठक के मन में उपस्थित होता है। शुद्धता की यह व्याख्या कलाहेतुकला के सिद्धान्त के अनुसार नहीं है। लैस्लीज़ एबरक्रोम्बी का कहना है कि शुद्ध कविता वही है जो शुद्ध अनुभव की अभिव्यक्ति करे। शुद्ध अनुभव क्या है ? शुद्ध अनुभव वही है जिसका हेतु स्वयं अनुभव हो, जिसका मूल्याङ्कन सत्य, नैतिकता और उपयोगिता के वाह्य मानदण्डों से न हो। फूलों से आच्छादित गुलाब का पौधा, किसी बालिका का नृत्य, कोई पहाड़ी दृश्य, लहरों की गति, सूर्योदय और सूर्यास्त, नदियों का सङ्गम—ये सब हमको शुद्ध अनुभव का आनन्द देते हैं और बाहर के किसी मानदण्ड से ऐसे अनुभवों का मूल्याङ्कन नहीं हो सकता। पर आगे बढ़कर एबरक्रोम्बी प्रश्न करता है, कि इस अनुभव की सीमा कहाँ है ? वह स्वयं जवाब देता है—कहीं नहीं। सब प्रकार के अनुभव, संसार की वस्तुओं के और मन की अवस्थाओं के शुद्ध अनुभव हो सकते हैं यदि उनका निर्देश उन्हीं तक रहे। शुद्धता की यह व्याख्या भी कलाहेतुकला के सिद्धान्त के अनुसार नहीं है। ये व्याख्याएँ तो कला का वास्तविक रूप दिखाती हैं। मैलार्मे का कहना है कि शुद्ध कविता उदासीन विषयों को शब्दों के आनन्दप्रद सङ्गीतात्मक प्रतिरूप में व्यक्त करती है। इस अर्थ में कविता की शुद्धता विषय-वस्तु के गुण से पूर्णतया स्वतन्त्र है : शुद्ध कविता केवल शाब्दिक सङ्गीत है। शुद्धता की यह व्याख्या कलाहेतुकला के सिद्धान्त से सङ्गत है। कलाहेतुकला का सिद्धान्त विषय-वस्तु की छाँट के विमुख है। चाहे जैसा विषय हो—असत्य हो, अनैतिक हो, अश्लील हो, हानिकारक हो—यदि कलाकार विषय को ऐसा रूप देने में समर्थ होता है कि उसमें निर्मायिक प्रेरणा की तुष्टि की, अर्थात् सौन्दर्य की, अनुभूति होती है, तो वह कला का उत्पादन करता है। कला रचनाकौशल से ही

होती है, उसकी सिद्धि किसी बाहर के उद्देश्य तक नहीं जाती, उपकरणों को कौशल से रूप देना ही कला का प्रयोजन है। कलाकार अपनी रचना में कोई ऐसा तत्त्व प्रविष्ट न करे जो विषय की अभिव्यक्ति में बाधक हो; पेटर के शब्दों में, कलाकार की समस्या उद्वर्त अंशों को हटाना है। थ्योफ़ाइल गौटिअर ने कलाहेतुकलावाद का आदर्श इस प्रकार उपस्थित किया है, "शैली की विशुद्ध सम्पूर्णता, उपयुक्त एक अनिवार्य शब्द की खोज, अपने सुख के लिए लिखना, किसी अन्य व्यक्ति की परवाह न करना, कभी-कभी जानबूझ कर सांसारिक भद्र पुरुषों की चेतना को क्षोभ देना—कलाकार की यही चेष्टा होनी चाहिये।" कलाहेतुकलावादी, क्योंकि विषय के गुण को निरर्थक समझता है, निवेदनीयता को भी अनावश्यक मानता है।

कलाहेतुकलावादी दो भ्रान्तियों में पड़ जाता है। पहली भ्रान्ति यह है कि वह इस बात को भूल जाता है कि सब प्रकार की कला अपनी जड़ यथार्थ में रखती है। पेटर, जिस पर कलाहेतुकलावाद का प्रभाव था, अपने 'शैली' नामक निबन्ध के अन्त में लिखता है कि वह कला भी महान् होगी जो रचनाकौशल-सम्बन्धी गुण रखती हुई मनुष्य के आनन्द की वृद्धि करे, जो दुःखियों का दुःख-निवारण करे, जो हमारी पारस्परिक सहानुभूति को विस्तृत करे, जो पुराने और नये सत्यों को इस प्रकार उपस्थित करे कि वे संसार में हमारी जीवन-यात्रा को सुगम करें, जिनमें मानव-आत्मा का प्रकाश हो। ब्रैड्ले का भी यही कहना है कि कला का संसार वास्तविक संसार से स्वतन्त्र अवश्य है; परन्तु कहीं न कहीं, किसी निम्नस्तर में दोनों में सम्बन्ध है। दूसरी भ्रान्ति यह है कि कलाहेतुकलावादी कलात्मक क्रियाशीलता को कोई असम्बन्धित विचित्र क्रिया समझता है जिसके कारण उसकी यह धारणा होती है कि कला के लिए निवेदनीयता आवश्यक नहीं है। हम पिछले भाग में कह चुके हैं कि कला सामाजिक है और निवेदनीय है। कलावस्तु को रूप देना ही उसे व्यापक सार्थकता देना है और फिर मनुष्य के सामाजिक होने के कारण उसकी सब मानसिक क्रियाओं में सामाजिक निर्देश होता है। कला चेतन अथवा अचेतन रूप से ऐसे विषय की ओर झुकती है जिसका मनुष्य के लिए मूल्य होता है।

कला सुख के हेतु है। यह सिद्धान्त बड़ा प्राचीन है और तब तक इस सिद्धान्त का आदर रहा जब तक कलामीमांसन ठीक प्रकार से न हो पाया। कलामीमांसन व्यवस्थित रूप में अठारहवीं शताब्दी से पहले की चीज नहीं है, क्योंकि कल्पना पुनरुपस्थिति और अभिव्यक्ति से प्रत्यय तब ही से स्पष्ट हुए हैं। पहला कलामीमांसन चाहे एरिस्टॉटल और लॉन्जायनस के विचारों में आलोचना के गहनतम प्रश्नों पर प्रकाश डालता है फिर भी वह कला का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं कर पाया था। कलामीमांसन के वैज्ञानिक होते ही सुख के सिद्धान्त की उपेक्षा होने लगी और आधुनिक काल की कलामीमांसन में उसे पाखण्डस्थ माना जाता है। आधुनिक विज्ञान निश्चित करता है कि सुख, न संवेदना का गुण है और न प्रेरणा की विशेषता।

वह प्रेरणा के भाग्य की विशेषता है। जब कोई प्रेरणा सफल क्रियाशीलता की ओर अग्रसर होती हैं तो सुख की अनुभूति होती है और जब कोई प्रेरणा असफल क्रियाशीलता की ओर बढ़ती है तो असुख की अनुभूति होती है। क्योंकि सुख की अनुभूति बड़ी वाञ्छनीय है, सुख की वाञ्छनीयता के कारण जीवन या कला का उद्देश्य मान लिया है। धार्मिक पुस्तकों में दुःख की निवृति और सुख प्राप्ति जीवन का साधारण उद्देश्य बनाया जाता है। परन्तु सुख सफल क्रियाशीलता का प्रभाव है; वह कारण कैसे बन सकता है ? जब कोई मनुष्य अपने जीवन के कार्यों में सफल होता है तो वह सुख की अनुभूति करता है और जब वह अपने जीवन के कार्यों में विफल होता है, वह असुख की अनुभूति करता है। इसी प्रकार जब कोई कलाकार अपनी निर्मायक प्रेरणा को सफल क्रियाशीलता की ओर बढ़ाता है वह सुख की अनुभूति करता है और जब वह अपनी निर्मायक प्रेरणा को असफल क्रियाशीलता की ओर बढ़ता पाता है तो वह असुख की अनुभूति करता है। पाठक के दृष्टिकोण से भी ऐसा ही है। जब कोई पाठक कृति से जागृत निर्मायक प्रेरणा को सफल या असफल क्रियाशीलता की ओर जाता पाता है तभी उसे सुख या असुख की अनुभूति होती है। सुख सफल क्रियाशीलता की विशेषता है, अलग से किसी क्रियाशीलता का कारण नहीं।

कला शिक्षा के लिए हो सकती है। यह भी भ्रम है गोकि इसमें कुछ सार्थकता है। इस भ्रम ने भी रचना और आलोचना को बहुत कुछ पथभ्रष्ट किया है। यूनानी साहित्य यूनानियों के धर्म और व्यवहार से सम्बन्धित है, और होकर हिसोइड, सोलन, और दूसरे कवियों को वे अपने गुरु और शिक्षक मानते थे। वे अपने नैतिक और धार्मिक विश्वास उन्हीं से पाते थे। जो यूनानियों की श्रद्धा होमर के प्रति थी वही श्रद्धा रोमियों की वर्जिल की ओर थी। यूनानी लोग सब प्रकार की समस्याओं को सुलझाने के लिए 'एनीड' का अध्ययन करते थे। 'एनीड' उनके लिए विद्या-दैविक-कोष था। पुनरुत्थान के समय मानवजाति को मध्यकालीन स्वमताभिमान और शुष्कता से बचाने के लिए आलोचकों ने युनानी और रोमी साहित्य के अध्ययन का आदेश दिया। इस प्रवृति को मानववाद कहते हैं। इसके पहले प्रकाश पैट्रार्क और डाएटे थे और बाद के स्कैलीगर, इरैस्पस, मौएटेन थे। उनका उद्देश्य मानवबुद्धि को अन्धविश्वास से मुक्त करने का था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यूनानियों का समृद्ध मानवता ही कृतकार्य हो सकती है। बस, रचना में यूनानी वृत्ति का अनुकरण होने लगा और आलोचना इसी वृति की विशेषताओं से रचना की समीक्षा करने लगी। मानववाद का विकसित फूल शेक्सपिअर की इस अभिव्यक्ति में देखा जा सकता है:— "ह्वाट ए पीस ऑफ़ वर्क इज़ मैंन ! हाऊ नोबुल इन रीजन ! हाऊ इनफ़ाइनाइट इन फ़ैकल्टी ! इन फ़ार्म ऐएड मूविंग हाऊ एक्सप्रेस ऐएड ऐडमिरेबुल ! ईन ऐक्शान हाऊ लाइक ऐन ऐंजिल ! इन ऐप्रीहेंशन हाऊ लाइक ए गाड ! दि ब्यूटि ऑफ़ दि वर्ल्ड ! दि पैरागन ऑफ़ ऐनिमल ! ये विचार मध्यकालीन संस्कृति में असम्भव थे। मानववाद के प्रसार के अतिरिक्त साहित्य

साम्प्रदायिक मतों का भी प्रचार करता रहा है। लूथर ने सदसद्विवेक बुद्धि को श्रद्धा के सिद्धान्त के समर्थन और बाइबिल के नियामक अधिकार के समर्थन द्वारा मुक्त किया। प्रोटैस्टैण्ट मत के प्योरीटन सम्प्रदाय का साहित्य पर सीधे और उल्टे दोनों ढङ्गों से बड़ा प्रभाव पड़ा। सत्तरहवीं शताब्दी में डन, हर्बर्ट, वोहन, और दूसरे प्योरीटन कवियों में भक्ति का तत्त्व प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित है। डीइज़्म और मैथौडिज़्म ने अठारहवीं शताब्दी के साहित्य को प्रभावित किया। कूपर, वर्डसवर्थ, टैनीसन और ब्राउनिङ्ग में अपने-अपने ढङ्ग का ईश्वरवाद प्रधान है। इनके अतिरिक्त रोमी कैथलिक मत भी साहित्यकारों से गद्य और पद्य द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रसार करता रहा है। मध्यकालीन नाटकों में मानव-आत्मा के लिये शैतान और फ़रिश्तों का सङ्घर्ष दिखाना विषयवस्तु की मुख्य विशेषता थी। उन्नीसवीं शताब्दी में कीब्ल, न्यूमॅन, फ्रूड, और प्यूजी ने कविता और साहित्य द्वारा चर्च की स्थिति और कार्य का स्पष्टीकरण किया, कि चर्च मानव-संस्थाओं से ऊँची है और उसके अधिकार और संस्कार विशेष महत्त्व के हैं और उसके पादरियों को स्वयं ईसा भगवान् की नियुक्ति प्राप्त है। फ्रान्सिस टोम्पसन की अद्भुत रचना कैथलिक संस्कृति का कविता के लिये अद्वितीय उपयोग है। हाल में नवीन मानववाद और मार्क्सवाद ने साहित्य को अपने-अपने विचारों के प्रसार के लिये इस्तेमाल किया है। नवीन मानववाद धर्म का स्थान ले लेना चाहता है। उसका मुख्य सिद्धान्त आत्म-नियन्त्रण है जिसे कभी उसका बैबिट आन्तरिकडाट भी कहता है। प्रजातन्त्रवाद में आन्तरिक रोक वही काम करती है जो राजकीय अधिकार राजा के राज्य में करता है। वाह्य नियन्त्रण को आन्तरिक-नियन्त्रण से पूरा करके नया मानववाद प्रत्येक व्यक्ति को सत्ता प्रदान करता है। नये मानववाद का विश्वास मानव-संस्कृति में हैं। संस्कृति नैतिक और आध्यात्मिक प्रत्ययों का उच्चतर स्तर पर समन्वय है। ऐसे मानववादी की धारणा व्यक्तिगत इच्छा-पूर्ति के निम्नतर स्तर पर नहीं, वरन् जाति उन्नति के उच्चतर स्तर पर केन्द्रित होती है। मानववादी साहित्यकार का आदर्श साहित्य को उच्चतम कल्याण का सहायक बनाना है। मार्क्सवाद समाजवादी मनुष्य को उसके तात्त्विक सम्बन्धों में चित्रित करने के हित में है। वह, नये मानववाद के विरुद्ध, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मनुष्य में आत्मकेन्द्रण का दोष ले आती है। समाज में रहकर मनुष्य सहयोग द्वारा अपने लिये आप स्वतन्त्रता पैदा करता है। प्रकृति के और मानसिक गतिशीलता के नियमों को जान कर सहयोग द्वारा ही वह प्रकृति पर आधिपत्य जमाता है। ऐसे सहयोग द्वारा मार्क्सवादी आर्थिक उत्पादन की वृद्धि से समस्त समाज को आर्थिक सङ्घर्ष का विनाश करके स्वतन्त्र बनाता है। मार्क्सवादी का विश्वास हैं कि मनुष्य के जीवन में आर्थिक प्रेरणा ही मुख्य प्रेरणा है। इसी प्रेरणा के प्रभाव से मानव संस्कृति का विकास हुआ है। हमारे मत, हमारे दर्शन, हमारी सामाजिक व्यवस्था सब का निश्चय करने वाली है हमारी आर्थिक प्रेरणा। मार्क्सवादी इस प्रेरणा को व्यक्ति से लेकर समाज को प्रदाने करता है और इस प्रकार मानव स्वभाव के बहुत से दोषों को दूर करने की चेष्टा करता

है। उसका विचार है कि व्यवस्थित आर्थिक उत्पादन के द्वारा व्यतीत जीवन ही नैसर्गिक जीवन है और जब मनुष्य समाजवादी आदर्शों को पूर्णतया सामाजिक सहयोग में सम्पादित कर लेगा तभी उसके नैसर्गिक स्वभाव का आविर्भाव होगा। जीवन में सहयोगी निष्कपटता द्वारा एक अद्भुत आभा आ जायगी। ऐसे मानव-जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाला साहित्य बड़ी ऊँची कोटि का साहित्य होगा, जिसके सामने साम्राज्यवादी अथवा प्रजातन्त्रवादी साहित्य झूठ और धोखे का निर्माण प्रतीत होगा। मार्क्सवादी साहित्य को ऐस्थैटिक क्रियाशीलता तो मानता ही है, पर वह केवल रूप से सन्तुष्ट नहीं होता, विषय-वस्तु की विशेषता पर उसका अधिक ध्यान होता है। विकसित समाजवाद आने से पहले प्रचारक मार्क्सवादी साहित्य को दो कार्यों का साधन समझता है—श्रम की कीर्ति और धनिक संस्था की अपकीर्ति। वह साहित्य को सेवा का यन्त्र मानता है, पलायन का मन्दिर नहीं। उसके लिये साहित्य का सामाजिक निर्देश प्रधान है।

कलाकार का उद्देश्य शिक्षा और उपदेश है। यह सिद्धान्त भी सुख के सिद्धान्त की तरह कला का रूप न समझे जाने के कारण प्रचलित हुआ। प्लैटो ने यूनानी साहित्य का निरीक्षण करके यह निश्चित किया कि साहित्य अनैतिक और असत्य को रोचक बनाता है और इसी से उसका प्रभाव पाठकों पर बुरा पड़ता है। दूसरे बहुत से पुराने सुधारक आलोचकों का भी यही मत था। इस आलोचना से प्रभावित होकर आलोचकों को सूझ हुई कि यदि साहित्य अनैतिक और असत्य को रोचक बना सकता है तो वह नैतिकता और सत्य को भी रोचक बना सकता है। फल यह हुआ कि आलोचना ने नैतिकता और सत्य की शिक्षा को साहित्य का उद्देश्य मान लिया। कला तो जीवन और प्रकृति के दृश्यों और घटनाओं और उनके सम्भाव्यों को कलात्मक रूप दे कर पुनरुपस्थित करती है। इससे परे उसका कोई कार्य नहीं। यदि कला में नैतिकता और सत्य आता है तो दृश्यों और घटनाओं की विशेषता से। कला सीधे न तो नैतिकता का उपदेश देती है और न सत्य का।

कला का कोई चेतन उद्देश्य नहीं होता, वह स्वगत सम्भाषण के स्वभाव की है। कला की नैतिकता तो कलाकार का व्यक्तित्व का रङ्ग है। यदि कलाकार का व्यक्तित्व नैतिकता के रङ्ग में रँगा हुआ है तो उसकी कला अवश्य नैतिक होगी, क्योंकि कला पर व्यक्तित्त्व की छाप होती है। और कलाकार का व्यक्तित्त्व अवश्य नैतिक होना चाहिये, नहीं तो उसकी कला कलाग्राहियों को कोई मूल्य न रखेगी। मानव-जीवन का नैतिक पहलू सर्वोच्च महत्त्व का है। समाज का रूप परिवर्तित हो जायगा और मनुष्य जङ्गली अवस्था में फिर से आ जायगा यदि हमारे व्यवहार में अनैतिकता आ जाय। नैतिक मनुष्य ही मनुष्य है। इसी से नैतिकता का मानदण्ड सब आलोचकों को ग्राह्य है, यद्यपि आधुनिक काल में नवीनता और मौलिकता की ओर रुचि होने के कारण इसके विरुद्ध मत प्रकट किया जाता है। उत्कट शब्द उत्कट आत्माओं से

ही निकलते हैं, यह अटल नियम है। कवि का उत्पादन तभी अमर और चमत्कारी होगा जब उसकी आत्मा उदार और अत्युच्च होगी। यूनानी आलोचक लॉन्जायनस अपने समय में अत्युदात्त साहित्य के अभाव का कारण मनुष्य की द्रव्योपार्जन और अपव्यय की वृत्तियाँ बताता है; ये दोनों वृत्तियाँ बड़ी भयङ्कर हैं और इन्हीं से गर्व, निर्लज्जता और आत्मसङ्कीर्णता के दोष आते हैं। डाण्टे अपनी 'डै वल्गैराई एलोक्विओ' में काव्य के लिये प्रेम, नीति और युद्ध ही उपयुक्त विषय समझता है। सिड्नी सब कलाओं को सर्वोच्च ज्ञान आर्कीटैक्टोनिके की दासियाँ मानता है और आर्कीटैक्टोनिके का प्रयोजन सद्विवेक ही नहीं बल्कि सदाचरण भी निर्धारित करता है। बैन जॉन्सन का कहना है कि कविता का मुख्य उद्देश्य जीवन की श्रेष्ठ प्रणाली से सूचित करना है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि किसी मनुष्य के लिये अच्छा कवि होना तब तक असम्भव है जब तक वह अच्छा मनुष्य न हो। इन्हीं शब्दों की प्रतिध्वनि मिल्टन के 'स्मैक्टिम्नस' में सुनाई पड़ती है, "जो कोई कवि होने की चेष्टा करता है उसे स्वयं सच्चा काव्य होना चाहिये; और उसके हृदय में न्याय, विवेक और कल्याण की सम्पूर्ण प्रतिमाएँ विराजमान होनी चाहिये।" वर्ड्सवर्थ कवि को उपदेशक मानता है। न्यूमैन हृदय की नैतिक गति को ही काव्यात्मक मन की वैधिक और वैज्ञानिक गति मानता है। आर्नल्ड का आग्रह है कि जिस कविता में नीति के विरुद्ध विद्रोह है उसमें जीवन के विरुद्ध विद्रोह है और जो कविता नीति से उदासीन है वह जीवन से ही उदासीन है। रस्किन असन्दिग्ध शब्दों में घोषित करता है कि कला की विशेषता और उसका व्यापार नीति के नियमों का निवेदन करना है। टॉल्सटॉय के मतानुसार कला की वस्तु का मूल्य तत्कालीन धार्मिक चेतना से निर्धारण करना चाहिये और धार्मिक चेतना से टॉल्सटॉय का अभिप्राय जीवन के उच्चतर अर्थ का बोध है और जीवन का वह उच्चतर अर्थ मनुष्यों का पारस्परिक ऐक्य और सब मनुष्यों का ईश्वर से ऐक्य निश्चय करता है। आई० ए० रिचार्ड्स ने शिराशास्त्र और मनोविश्लेषण का आलोचनात्मक प्रयोग करके आलोचकों को वर्तमान काल में बड़े अनुराग से अपनी ओर आकृष्ट किया है। वह रूढ़ नैतिकता की जगह प्रकृतिवाद विषयक नैतिकता के पक्ष में है। कला मूल्यवान् अनुभव प्रदान करती है और मूल्यवान् अनुभव वह है जिसमें विभिन्न अङ्गभूत प्रेरणाओं की इस प्रकार तुष्टि होती है कि यह तुष्टि किन्हीं अधिक महत्त्वपूर्ण प्रेरणाओं की तुष्टि के रास्ते में नहीं आती। वह शान्त आनन्द जो किसी मूल्यवान् अनुभव में अन्तरस्थ होता है, अनुभव को वह अनुभूति देता है कि उस अनुभव के द्वारा उसका व्यक्तिगत और सामाजिक व्यक्तिगत कल्याण है। इस प्रकार आई० ए० रिचार्ड्स नैतिकता को कलाकार के लिये स्वाभाविक बना देता है।

कलाकार नैतिक होता है, यद्यपि जानबूझ कर नहीं। यदि वह जानबूझ कर उद्देश्य से नैतिक हो तो वह उपदेशक हो जायगा, कलाकार नहीं रहेगा। कलाकार सत्यग्राही भी होता है, गोकि वह तथ्य के सत्य का ग्राही नहीं होता बल्कि होता है प्रत्यय के

सत्य का। यदि वह तथ्य के सत्य का ग्राही हो, तो वह इतिहासकार या वैज्ञानिक हो जायगा, कलाकार नहीं रहेगा। एरिस्टॉटल ने प्लैटो को उसकी कविता पर झूठा आक्षेप लाने पर यह प्रत्युत्तर दिया था कि काव्य का सत्य इतिहास के सत्य से अधिक गम्भीर होता है। कवि प्रत्यय के सत्य से नहीं डिगेगा, तथ्य के सत्य से उसका कोई सरोकार नहीं। वह अपने ही रचे हुए पात्रों और घटनाओं से प्रत्ययात्मक सत्य का निदर्शन करता है, और क्योंकि उसके पात्र और उसकी घटनाएँ वास्तविक नहीं होतीं, उसे झूठा नहीं कहा जा सकता। एरिस्टॉटल के अनुरूप वर्ड्सवर्थ कहता है कि कविता का उद्देश्य व्यापक और सर्वदेशीय है, वैयक्तिक और स्थानीय नहीं। कविता, वस्तु के प्रत्यय पर केन्द्रित होती है। कवि, वस्तु के सत्य को अपनी अन्तर्दृष्टि से सीधे भी जान जाता है और साधारणीकरण से भी जान लेता है। किसी वस्तु का सारभूत प्रत्यय उस जाति की सब वस्तुओं में प्रविष्ट होता है; परन्तु प्रकृति में आविर्भूत होने के कारण किसी वस्तु में वह पूरी तरह आविर्भूत नहीं होता। कवि एक जाति की बहुत सी वस्तुओं को देखकर कल्पना की उड़ान से वस्तु के सारभूत प्रत्यय को जान लेता है और फिर उसे अपनी स्वतन्त्र रचना में स्थिर कर देता है। इस प्रकार कवि का प्रयोजन उच्चतर सत्य है। कोलरिज के मन में यही धारणा होगी जब उसने यह कहा था कि तात्त्विक रूप से सुन्दर वही है जिसमें बहुत्त्व होते हुए भी एकत्त्व हो जाता है। कारलायल की भी यही धारणा है जब वह कहता है कि सब सच्ची कला तथ्य की आत्मा का बन्धनमुक्त होना है। गॉल्सवर्दी का भी यही विचार है कि कला मानव-स्फूर्ति की वह कल्पनात्मक अभिव्यञ्जना है जो भाव और प्रत्यक्षीकरण को रचनाकौशल द्वारा मूर्त्त रूप देकर व्यक्ति में अनात्मिक अन्तर्वेग उत्तेजित कर उसे सर्वव्यापक से मिला देता है। वह आलोचक जो उच्चतर सत्य के मानदण्ड को न मान कर कविता को मिथ्या का घर निश्चित करता है, वही गलती करता है जो वह नीतिप्रचारक करता है जो कला और साहित्य को घृणार्ह घोषित करता है।

प्लैटो सौन्दर्य को ऐकान्तिक मानता था। आत्मा को सौन्दर्य की अनुभूति जन्म से पहले होती है और जीवन में सौन्दर्य की अनुभूति स्मृति द्वारा होती है। वह सौन्दर्य को सत्य और शिव से अभिन्न समझता था। तीनों को वह ऐश्वर्य प्रकटन मानता था। इस विचार ने शताब्दियों तक सौन्दर्यशास्त्र और कला को प्रभावित किया। सौन्दर्य के ऐकान्तिक प्रत्यय की माध्यम में पुनरुपस्थिति ही कला समझी जाती थी। यह सिद्धान्त प्लैटो के ईश्वरवाद और प्रत्ययों के तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित है।

इस विषय में आधुनिक विचार मानसिक अनुभव से सम्बन्धित हैं। सत्य, शिव, और सुन्दर, तीनों मूल्य हैं और तीनों में से प्रत्येक एक विशेष प्रकार की तुष्टि का द्योतक है। सत्य जिज्ञासा-प्रवृत्ति की तुष्टि है; शिव सामाजिक प्रवृत्ति की तुष्टि है और सुन्दर निर्मायक प्रवृत्ति की तुष्टि है। जब

वाह्य और आन्तरिक जगत् के प्रदत्तों में सङ्गतता और ऐक्य की अनुभूति होती है और प्रदत्तों की असङ्गतता और अव्यवस्था से पैदा हुई मानसिक बेचैनी दूर हो जाती है तो सत्य की तुष्टि होती है। जैसे ही मनुष्य समाज में रहना सीखता है, नैतिकता और शिव के भाव आविर्भूत होते हैं। समस्त नैतिकता मनुष्य की दो प्रतिक्रियाओं पर आधारित हैं। वे हैं रोष और कृतज्ञता। रोष और कृतज्ञता व्यावहारिक जीवन के अङ्ग हैं। ये हमारे अपने कार्यों के प्रति या दूसरों के कार्यों के प्रति असम्मति या सम्मति प्रकट करते हैं। जब ये प्रतिक्रियाएँ सामाजिक भाव से प्रभावित होती हैं अर्थात् परिवर्तित होकर निःस्वार्थ हो जाती हैं तब ये हमारे नैतिक निर्णय को सङ्केतित करती हैं। फलतः वही हमारा या दूसरों का कार्य शिव होगा जिसके लिये नैतिक निर्णय की सम्मति होगी; और वही कार्य अशिव होगा जिसके लिये नैतिक निर्णय की असम्मति होगी। इस प्रकार सामाजिक भाव, जिसे सदसद्विवेक बुद्धि कह देते हैं, की तुष्टि शिव है। सुन्दर निर्मायक, अर्थात् प्रकृत माध्यम को रूप देने की, प्रवृत्ति की तुष्टि है। सत्य में सम्बन्ध व्यक्तित्व और वस्तु में है, और व्यक्तित्व वस्तु का इतना पीछा करता है कि व्यक्तित्व वस्तु में लुप्त हो जाता है। इस प्रकार सत्य में वस्तु प्रधान और व्यक्तित्व गौण है। शिव इच्छाओं की पूर्ति से सम्बन्धित है। वाह्य जगत् में हम अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति के लिये हमें अपने को इस प्रकार आदेश देना होता है कि हम अपनी प्रेरणा की तुष्टि में सामाजिक सुसङ्गति को भङ्ग न करें। इस प्रकार शिव में अपना व्यक्तित्व प्रधान होता है और वाह्य-जगत् का गौण। सुन्दर में सम्बन्ध-माध्यम का सन्तुलन होता है। कलाकार अपने व्यक्तित्व को, अपने माध्यम में इस प्रकार सम्मिश्रण करता है कि माध्यम को उसके प्रकृति के बाहर के गुण दे कर उसे रूप दे देता है। फलतः सुन्दर में व्यक्तित्व और प्रकृत के माध्यम समान महत्त्व के हैं, और इस विशेषता के कारण हम विज्ञान और नैतिकता को कला की इस ओर और उस ओर की सीमाएँ कह सकते हैं।

सत्य, शिव और सुन्दर, तीनों मूल्यों में से प्रत्येक दूसरे दोनों को अपने में शामिल किये हुए है और स्वयं दूसरों में शामिल है। सत्य, सत्य है जब उससे अपने प्रयोजन की सिद्धि होती है। सत्य, शिव है क्योंकि वह एक विशिष्ट मानव-प्रेरणा की अपने अधिकार के अनुरूप तुष्टि है। सत्य, सुन्दर है जब वह जिज्ञासा-प्रवृत्ति से उत्तेजित ध्यानात्मक मनोवृत्ति में उपस्थित प्रदत्तों में ज्ञानात्मक निष्कर्ष का साक्ष्य पाता है। शिव, शिव है जब वह अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति में सदसद्विवेक बुद्धि की मर्यादाओं का उल्लङ्घन नहीं करता। शिव, मनुष्य स्वभाव का सत्य है जैसे अशिव, मनुष्य स्वभाव की भ्रान्ति है। शिव, सत्य का सहायक भी होता है क्योंकि यदि वैज्ञानिक ईमानदार न हो तो सत्य के अन्वेषण में वह अपने को और दूसरों को भी पथ-भ्रष्ट कर देगा। जैसे सत्य का एस्थैटिक पहलू है, वैसे ही शिव का एस्थैटिक पहलू है। शिव, सुन्दर है जब वह सामाजिक भाव से

उत्तेजित ध्यानात्मक मनोवृत्ति में इच्छापूर्ति को सामाजिक समस्वरता के अनुरूप पाता है। सुन्दर, सुन्दर है जब वह ध्यानयोग की अवस्था में किसी वस्तु की नानाङ्गों में एकत्त्व अर्थात् रूप देखता है। सुन्दर, सत्य है क्योंकि दोनों निःस्वार्थ हैं, क्योंकि दोनों विभिन्नता में एकता देखते हैं, क्योंकि दोनों के अङ्गों में सङ्गतता होती है। सुन्दर, शिव है क्योंकि दोनों का निर्देश समाज से है और सुन्दर समस्वरता की अनुभूति देता है।

मूल्यों के इस मीमांसन से हमारा प्रयोजन यह है कि सत्य और शिव दोनों में सुन्दर की अपेक्षा है और कलाकार का नैतिकता और सत्य की ओर झुकाव स्वाभाविक है। बस, बात यह है कि कलाकार को नैतिकता और सत्य में सुन्दर की अनुभूति अपनी कला में उपस्थित करनी चाहिये, उनका उपदेश या प्रचार नहीं करना चहिये।

अनुक्रमणिका